ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

ज्ञानगोष्ठी

(भाग - 1)

(प्रश्नोत्तर एवं वचनामृत संग्रह)

प्रथम विभाग
परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा मुमुक्षुओं की जिज्ञासाओं का समाधान

द्वितीय विभाग
परमपूज्य गुरुदेवश्री के हृदयोद्गार / वचनामृत

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

प्रथम संस्करण :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

वर्तमान काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त था। मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था। जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त आच्छादित हो गये थे। परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाले किसी समर्थ पुरुष की उपस्थिति का अभाव था, ऐसी विषम परिस्थिति के समय जैनशासन के नवमण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष अध्यात्ममूर्ति अध्यात्मयुगसृष्टा आत्मज्ञ सन्त अध्यात्मयुगपुरुष निष्कारण करुणाशील भवोदधि तारणहार भावीतीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय हुआ।

आप श्री ने जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से अविरुद्धतापूर्वक अपने स्वसंवेदन ज्ञान से प्रमाणित कर, जगत के समक्ष नि:शंकरूप से सर्व जीव 'भगवान आत्मा' हैं और 'सभी भगवान हो जाओ' ऐसी भावनापूर्वक प्रकाशित किये।

तत्त्व निरूपणा में पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा किये जानेवाले प्रतिदिन दो बार के प्रवचन मुख्य थे और सामान्यरूप से दिन में दो बार प्रात: काल और दोपहर को प्रवचन प्रदान करते थे परन्तु गुरुदेवश्री की रात्रिचर्चा का भी एक विशिष्ट स्थान तत्त्वदर्शन में था। जहाँ-जहाँ पूज्य गुरुदेवश्री पधारते, वहाँ-वहाँ प्रवचन के उपरान्त रात्रिचर्चा का आयोजन भी होता ही था। यह क्रम अविरतरूप से पैंतालीस वर्ष तक चलता रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री की स्वाध्याय में आये हुए विषयों में से रात्रि चर्चा में मुमुक्षु बिना संकोच के प्रश्न उपस्थित करते थे और पूज्य गुरुदेवश्री सादी भाषा में संक्षिप्त किन्तु सचोट समाधान प्रदान करते थे। इस प्रश्नोत्तरी से तत्त्व के गम्भीर रहस्य मुमुक्षु समाज के समक्ष स्पष्ट हुए हैं।

इस रात्रिचर्चा में चर्चित विषयों को लिपिबद्ध कर प्रारम्भ से ही गुजराती आत्मधर्म और सद्गुरु प्रवचनप्रसाद (दैनिक) में प्रकाशित किया जाता रहा है। जिनमें से कुछ प्रश्नोत्तर जयपुर से प्रकाशित हिन्दी आत्मधर्म में भी प्रकाशित हुए और जयपुर ट्रस्ट द्वारा ही विषयों का विभाजन करते हुए ज्ञानगोष्ठी पुस्तक नाम से प्रकाशित हुई। जिसका सम्पादन पण्डित अभयकुमार शास्त्री ने किया।

इस प्रस्तुत संस्करण में मूल गुजराती आत्मधर्म के अंकों में समागत उस चर्चा को अनुवादित कर प्रकाशित किया जा रहा है और इसी कारण प्रत्येक प्रश्न के सन्दर्भ के रूप में गुजराती आत्मधर्म अंक और पृष्ठ दिये गये हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पूज्य गुरुदेवश्री की

तत्त्वचर्चा के रूप में ग्रन्थ संकलन का यह प्रथम प्रयास था। क्योंकि अब इस प्रयास को और आगे गति दी जा रही है। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम ज्ञानगोष्ठी भाग-1 किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम विभाग में प्रश्नोत्तर एवं द्वितीय विभाग में पूज्य गुरुदेवश्री के हृदयोद्‌गार तथा प्रवचन सागर के मोती संकलित किये गये हैं। साथ ही परिशिष्ट के रूप में 'सम्यग्दर्शन और उसका विषय' एक विशिष्ट तत्त्वचर्चा दी गयी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में समागत प्रश्नोत्तरों के अतिरिक्त भी अनेक प्रश्नोत्तर और अनेक विषयों पर सारगर्भित तत्त्वचर्चा गुजराती आत्मधर्म के अंकों तथा सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद के अंकों में संग्रहित है, जिसे भी प्रश्नोत्तरों के रूप में संकलित कर ज्ञानगोष्ठी भाग-2 के नाम से प्रकाशित किया जाना प्रस्तावित है।

इस कार्य को साकाररूप प्रदान करने में बालब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी की विशेष प्रेरणा रही है। तदर्थ उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद तथा भाग-2 का संकलन कार्य और प्रस्तुतिकरण पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) द्वारा किया जा रहा है। जो शीघ्र ही आपके समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा।

सभी आत्मार्थी इस ज्ञानगोष्ठी पुस्तक का स्वाध्याय कर निज आत्मकल्याण की ओर प्रेरित हों इसी भावना के साथ.....

समस्त ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

मुम्बई

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	प्रश्न संख्या	पृष्ठ नं.
1	भगवान आत्मा	1 से 39	1
2	देव-शास्त्र-गुरु	40 से 90	15
3	आत्मानुभूति	91 से 154	36
4	भेद-विज्ञान	155 से 207	58
5	सम्यग्दर्शन	208 से 281	80
6	सम्यग्ज्ञान	282 से 309	107
7	सम्यक्चारित्र	310 से 339	117
8	मोक्षमार्ग	340 से 356	128
9	ज्ञानी ज्ञावक की अन्तर्बाह्य दशा	357 से 408	136
10	द्रव्य-गुण-पर्याय	409 से 460	154
11	निमित्त-उपादान	461 से 475	174
12	निश्चय-व्यवहार	476 से 505	181
13	प्रमाण-नय	506से 527	194
14	कर्ता-कर्म	528 से 561	205
15	क्रमबद्धपर्याय	562 से 594	220
16	कारणशुद्धपर्याय	595 से 598	234
17	पुण्य-पाप	599 से 639	236
18	विविध	640 से 673	252
19	परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री के हृदयोद्गार	1 से 14	265
20	महासागर के मोती	15 से 177	269
परिशिष्ट	- सम्यग्दर्शन का विषय - एक स्पष्टीकरण		327

[1]

भगवान आत्मा

(1)

प्रश्न— भगवान आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा जाता है ? आप बारम्बार 'भगवान आत्मा... भगवान आत्मा' कहते हैं ? कृपया उसका स्वरूप बताइये ?

उत्तर— भाई ! भगवान आत्मा अनन्त शक्तियों का संग्रहालय, अनन्तगुणों का गोदाम, अनन्त आनन्द का कन्द, अनन्त महिमावन्त, अतीन्द्रिय महापदार्थ है; उसे ज्ञानमात्र भी कहा जाता है। 'आत्मा ज्ञानमात्र है, अर्थात् वह शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पापरूप नहीं है, एक समय की पर्यायमात्र भी नहीं है। वह ज्ञान, दर्शन, अकार्यकारण, भाव, अभाव आदि अनन्त शक्तिमय है।'

प्रभु ! तेरे घर की क्या बात कहें ? तुझमें अनन्त शक्तियाँ भरी पड़ी हैं और एक-एक शक्ति, अनन्त सामर्थ्यवान है; एक-एक शक्ति, अनन्त गुणों में व्यापक है; एक-एक शक्ति में दूसरी अनन्त शक्तियों का रूप है; एक-एक शक्ति, दूसरी अनन्त शक्तियों में निमित्त है; एक-एक शक्ति में अनन्त पर्यायें हैं, वे पर्यायें क्रम-क्रम से होती हैं; इसलिए क्रमवर्ती हैं। अनन्त शक्तियाँ एक साथ रहती हैं; इसलिए वे अक्रमवर्ती हैं।

इस प्रकार आत्मद्रव्य, अक्रमवर्ती और क्रमवर्ती गुण-पर्यायों का पिण्ड है। द्रव्य शुद्ध है, गुण भी शुद्ध है; इसलिए उसकी दृष्टि करने पर परिणमन भी शुद्ध ही होता है। 'मैं ज्ञानमात्र वस्तु हूँ'—ऐसी दृष्टि होने पर, पर्याय में जीवत्वशक्ति का परिणमन हुआ; उसके साथ ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अकार्य-कारणत्व आदि अनन्त शक्तियों की पर्यायें उछलती हैं—प्रगट होती हैं। *(आत्मधर्म (हिन्दी), जून 1983, पृष्ठ 26-27)*

(2)

प्रश्न—उछलती हैं अर्थात् क्या ?

उत्तर—द्रव्य वस्तु है, उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। जब एक शक्ति का परिणमन होता है, तब अनन्त शक्तियों की परिणति एक साथ उत्पन्न होती है—इसी को उछलना कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-408, अक्टूबर 1977, पृष्ठ 7)*

(3)

प्रश्न—क्या अज्ञानी को प्रथम से ही आत्मा की बात कहनी चाहिए ?

उत्तर—समयसार की गाथा 8 में आचार्यदेव ने 'आत्मा आनन्द-स्वरूप है', उसको पहचानने के लिए समझाया है। प्रथम ही द्वीप, समुद्र, लोक की रचना आदि की जानकारी अथवा व्रतादि करने के लिए नहीं कहा; अपितु शुद्धात्मा को पहिचानने के लिए कहा है। समझने के लिए आनेवाला भी अभी आत्मा को समझा नहीं है, फिर भी जिज्ञासा से टकटकी लगाकर देख रहा है; उससे कहते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सदैव प्राप्त हो, उसे आत्मा कहते हैं। इस प्रकार व्यवहारी जीवों को भी प्रथम शुद्धात्मा ही समझाया है। अनादिकालीन बन्धन से छूटकर मुक्ति कैसे प्राप्त हो - यह आचार्यदेव, अज्ञानी जीव को समझाते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-403, मई 1977, पृष्ठ 9)*

(4)

प्रश्न—जीव को शरीरवाला अथवा रागवाला कहना तो व्यवहार से कथन है, किन्तु जीव को सम्यग्दर्शनवाला तो कह सकते हैं ?

उत्तर—जीव को सम्यग्दर्शनवाला कहना भी पर्याय से कथन है। जीव तो विज्ञानघनस्वरूप है। सम्यग्दर्शन पर्याय तो एक अंश है, जबकि जीव त्रिकाली विज्ञानघनस्वरूप है। *(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 12)*

(5)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन और आत्मा भेदरूप हैं या अभेदरूप हैं ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय और आत्मा अभेद हैं। राग और आत्मा में तो

स्वभाव-भेद है, किन्तु सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मा अभेद हैं। परणति, स्वभाव में अभेद होकर परिणमित हुई है, आत्मा स्वयं अभेदपने उस परिणतिरूप से परिणमित हुआ है — उसमें भेद नहीं है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो विकल्परूप है, वह कहीं आत्मा के साथ अभेद नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक-261, जुलाई 1965, पृष्ठ 10)*

(6)

प्रश्न—कहीं-कहीं शुद्धपर्याय को आत्मा कहा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर—अलिङ्गग्रहण के 20वें बोल में ध्रुव को स्पर्श नहीं करनेवाली शुद्धपर्याय को आत्मा कहा है, वहाँ वेदन की अपेक्षा कहा है, क्योंकि आनन्द का वेदन परिणति में है, त्रिकाली में वेदन नहीं होता; इसलिए 'जो वेदन में आया, वह मैं हूँ'— ऐसा कहा है। जहाँ जैसा आशय हो, वैसा समझना चाहिए। यहाँ सम्यग्दर्शन की बात है। सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली ध्रुव सामान्य है, वह एक ही सर्वतत्त्वों में सार है। वह वस्तु स्वयं ध्रुवरूप है, परन्तु उस पर लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन होता है।

(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 7)

(7)

प्रश्न—पहले ज्ञान जानने में आता है या आत्मा ? दोनों की प्रसिद्धि में कितना अन्तर है ?

उत्तर — दोनों एक साथ ही जानने में आते हैं। आत्मा को लक्ष्य में लिए बिना ज्ञान को किसका लक्षण कहना ? आत्मा को लक्ष्य में लेने पर ज्ञान उसमें अभेद हुआ, तब आत्मा लक्षित हुआ और ज्ञान उसका लक्षण हुआ; इस प्रकार लक्षण और लक्ष्य-दोनों की प्रसिद्धि एक साथ ही है। *(आत्मधर्म, अंक-97, कार्तिक 2478, पृष्ठ 13)*

(8)

प्रश्न—यदि दोनों एक साथ जानने में आते हैं, तो फिर ज्ञान और आत्मा का भेद तो व्यर्थ हो गया ?

उत्तर—अभेद की ओर ढ़लने पर भेद को उपचार से साधन कहा जाता है। अभेद

के लक्ष्य बिना अकेला भेद तो सचमुच व्यर्थ ही है। अभेद में जाते-जाते बीच में भेद आ जाता है, परन्तु उस भेदरूप व्यवहार का निषेध करके अभेद में ढ़लना होता है; अत: उस भेद को व्यवहार-साधन कहा जाता है। निश्चय बिना अकेला व्यवहार तो व्यर्थ ही है। 'प्रथम ज्ञान को जाना, पश्चात् आत्मा को जाना'— ऐसा भी वास्तव में है नहीं। जब तक 'यह लक्षण और यह लक्ष्य' —इस प्रकार दो भेदों के ऊपर लक्ष्य रहे; तब तक विकल्प की ही प्रसिद्धि है, आत्मा की नहीं। आत्मा की ओर ढलकर जब आत्मा की प्रसिद्धि हुई, अनुभव हुआ; तब लक्ष्य और लक्षण—ऐसे दो भेदों पर लक्ष्य नहीं रहता और दोनों अभेद होकर एक साथ प्रसिद्ध होते हैं; भेद व्यवहार तो अभेद आत्मा का प्रतिपादन करने के लिये है। *(आत्मधर्म, अंक-97, कार्तिक 2478, पृष्ठ 13)*

(9)

प्रश्न—यदि आत्मस्वभाव सुख का सागर है, तो वर्तमान में उस सुख का एक अंश भी अनुभव में क्यों नहीं आता?

उत्तर—आत्मा सुख का सागर होने पर भी, उसने राग में एकत्वबुद्धि अनादि काल से बना रखी है; इसलिए स्वभाव से सुखांश प्रगट नहीं होता। राग के साथ एकत्वबुद्धि का धागा तोड़कर उससे भेदज्ञान करे तो स्वभाव में से सुखांश प्रगट हो।

(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 23)

(10)

प्रश्न—पर्याय में प्रभुता कैसे प्रगट हो?

उत्तर—अरे भाई! तू रागादि से निर्लेपस्वरूप प्रभु है। कषायोत्पत्ति हो, उसे मात्र जानना- यही तेरी प्रभुता है। कषाय में एकत्वबुद्धि करके निजत्व स्थापित करना, तेरी प्रभुता नहीं है। भाई! तू निर्दोष वस्तु है—तुझे कषाय का लेप लगा ही नहीं है। आत्मा तो सदा ही कषायों से निर्लिप्त है। जैसे स्फटिकमणि में पर का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही कषायभाव-विभावभाव ज्ञान में ज्ञात होते हैं; वे तेरे में प्रविष्ट नहीं हो जाते, तू तो निर्लेप है। व्रतादि के विकल्प आते हैं, वे तो इस ज्ञायक से भिन्न संयोगी भाव हैं, ज्ञायक की जाति के नहीं हैं; अत: कुजाति हैं, परजाति हैं, परज्ञेय हैं; स्वजाति या स्वज्ञेय नहीं। तू ज्ञायकस्वभाव

निर्लेप प्रभु है। इस प्रभुता का अन्तर से विश्वास करने पर पर्याय में प्रभुता प्रगट होती है।

(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 23)

(11)

प्रश्न—आत्मवस्तु तो अव्यक्त है, तो जानने में कैसे आवे ?

उत्तर—वर्तमान में वर्तती पर्याय व्यक्त है-प्रगट है। वह पर्याय कहाँ से आती है ? कोई वस्तु है या कहीं अधर में से आती है ? तरङ्ग है, वह पानी में से आती है या कहीं अधर में से आती है ? उसी तरह पर्याय है, वह अधर में से नहीं आती; अपितु वस्तु अव्यक्त-शक्तिरूप है, उसमें से आती है। व्यक्त पर्याय, अव्यक्त आत्मशक्ति को व्यक्त करती है— उसका अस्तित्व बताती है। *(आत्मधर्म, अंक-420,अक्टूबर 1978, पृष्ठ 22)*

(12)

प्रश्न—'ज्ञान सो आत्मा'— ऐसा कहकर मात्र ज्ञान के द्वारा ही आत्मा की पहिचान क्यों कराई ? जीव का मूल प्रयोजन तो आनन्द को प्राप्त करना है न ?

उत्तर—आत्मा को पहिचानने के लिए 'ज्ञान सो आत्मा'—इस प्रकार कहा है, उसका कारण यह है कि ज्ञान प्रगट अंश है— वर्तमान में विद्यमान है और आनन्द का अंश प्रगट नहीं है, प्रगट तो आकुलता है; इसलिए ज्ञान के प्रगट अंश द्वारा ही आत्मा की पहिचान कराई है। ज्ञान के प्रगट अंश को अन्दर में लगाए, अर्थात् एकाग्रता करे तो जिस प्रकार द्रव्य और गुण शुद्ध हैं, उसी प्रकार पर्याय भी शुद्ध हो जाती है। आत्मा को ज्ञान के अंश से पहिचान करवाने का मूल हेतु यही है।

(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 26-27)

(13)

प्रश्न—समयसार सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार का माङ्गलिक करते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि आत्मा का द्रव्यस्वभाव शुद्ध-शुद्ध है अर्थात् अत्यन्त ही शुद्ध है। यहाँ शुद्ध-शुद्ध दो बार प्रयोग करने का आशय क्या है ?

उत्तर—प्रथम तो, परद्रव्य से भिन्न होने के कारण शुद्ध है और द्वितीय, राग से भी

भिन्न होने के कारण शुद्ध है। बन्ध और मोक्ष के विकल्पों से दूरीभूत है। एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त समस्त पर्यायों से आत्मस्वभाव अत्यन्त दूर हैं; अत: आत्मस्वभाव शुद्ध-शुद्ध—सम्पूर्णत: ही शुद्ध है। *(—आत्मधर्म, अंक-414, अप्रैल 1978, पृष्ठ 23)*

(14)

प्रश्न—'मैं शुद्ध हूँ'—इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर—नर-नारकादि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—इन नवतत्त्वों से एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव अत्यन्त भिन्न होने से 'मैं शुद्ध हूँ'। साधक-बाधक की पर्याय से आत्मा को अत्यन्त भिन्न कहा। शरीरादि से तो अत्यन्त भिन्न है ही; पुण्य-पापादि से भी अत्यन्त जुदा है; इसके अतिरिक्त संवर, निर्जरा और मोक्ष की शुद्ध निर्मल पर्याय के व्यवहारिक भावों से भी मैं एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभावरूप होने के कारण अत्यन्त भिन्न होने से शुद्ध हूँ। यहाँ समयसार की गाथा में तो संवर, निर्जरा और मोक्ष की शुद्ध निर्मल पर्याय के व्यवहारिक भावों से भी आत्मा को अत्यन्त भिन्न कहकर दिगम्बर सन्तों ने अन्दर के रहस्य को व्यक्त कर दिया है। ऐसी बात अन्यत्र है ही नहीं। आहाहा! जगत का भाग्य है कि ऐसी वाणी अवशेष रह गई।

(आत्मधर्म, अंक-424, फरवरी 1978, पृष्ठ 27)

(15)

प्रश्न—'भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है'—इस प्रकार आप आत्मा के गुणों का विशद व्याख्यान करते हो, परन्तु वह भगवान चला कहाँ गया—यह तो बतलाइए ?

उत्तर—भगवान तो जहाँ है, वहाँ ही है; परन्तु इस भगवान का इस जीव को भान नहीं है, इसलिए दृष्टि में आता नहीं। स्वयं भगवान -स्वरूप कारणपरमात्मा है—ऐसा जिसको हृदय में जमता है, उसी को कारणपरमात्मा है; परन्तु जिसको ऐसा जमता ही नहीं कि मैं परमात्मस्वरूप हूँ, उसके लिए कारणपरमात्मा कहाँ है ? उसको तो राग और अल्पज्ञता ही है। जिसको कारणपरमात्मा का विश्वास जमता है, उसी को कार्यरूप में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। *(आत्मधर्म, अंक-421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 28)*

(16)

प्रश्न—तो अज्ञानी को क्या करना ?

उत्तर—अज्ञानी को प्रथम वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान करके आत्मा का भान करना चाहिए। यही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सच्चा उपाय है। शुभराग का क्रियाकाण्ड करना सच्चा उपाय नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक-421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 27)*

(17)

प्रश्न—लोक छह द्रव्यस्वरूप है, उसमें जीव सप्तम् द्रव्य हो जाता है क्या ?

उत्तर—लोक है तो छह द्रव्यस्वरूप ही, किन्तु वह ज्ञेय होने से व्यक्त है और उसको जाननेवाला जीव उससे भिन्न है; अत: इसी अपेक्षा से उसे सप्तम द्रव्य कहा है।

(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1978, पृष्ठ 29)

(18)

प्रश्न—आत्मद्रव्य की महिमा विशेष है या द्रव्य को लक्ष्य में लेनेवाली पर्याय की ?

उत्तर—आत्मद्रव्य की महिमा विशेष है। पर्याय, द्रव्य का लक्ष्य करे, तब मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है—इसी अपेक्षा से पर्याय की महिमा कही जाती है; किन्तु पर्याय तो एक समय की है, जबकि द्रव्य, पर्याय से अनन्त-अनन्तगुणी सामर्थ्यवाला है—त्रिकाली महाप्रभु है, इसलिए द्रव्य की महिमा ही विशेष है।

(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1978, पृष्ठ 14)

(19)

प्रश्न—नियमसार में संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व को भी साररूप नहीं कहा, इसमें क्या रहस्य है ?

उत्तर—आत्मा ही एक सर्व तत्त्वों में साररूप है। संवर, निर्जरा और मोक्ष, उत्पन्न करने की अपेक्षा से—प्रगट करने की अपेक्षा से तो हितरूप और साररूप कहे जाते हैं, किन्तु नियमसारजी में उन्हें भी साररूप नहीं कहा। इसका कारण यह है कि वे पर्याय हैं,

नाशवान हैं, क्षणिक हैं; और आत्मा तो अविनाशी ध्रुव होने से साररूप है। संवरादितत्त्व तो नाशवान भाव हैं, उनसे अविनाशी भगवान आत्मा दूर है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्यादिभाव पर्याय हैं, विनाशीक हैं; अत: साररूप नहीं हैं। अविनाशी भगवान आत्मा ही एक साररूप होने नाशवान भावों से दूर है। आहाहा! पर्याय के समीप ध्रुव भगवान पड़ा है - वही अकेला साररूप होने से दृष्टि में लेने योग्य है और तो सर्व असार है।

(आत्मधर्म, अंक-432, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 27)

(20)

प्रश्न—उपयोग किसका लक्षण है? उसको किसका अवलम्बन है—किसके अवलम्बन से प्रगट होता है? उस उपयोग की अस्ति किसके कारण से है, किसके कारण से नहीं है?

उत्तर—उपयोग, आत्मा का लक्षण है; उसको ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नहीं है। आत्मा के अवलम्बन से उपयोग प्रगट होता है; बाह्य पदार्थों के अवलम्बन से नहीं। आत्मा को तो परपदार्थों का अवलम्बन है ही नहीं। अरे! उसके उपयोग को भी बाह्य पदार्थों का अवलम्बन नहीं है। उपयोग लक्षण को तो लक्ष्य ऐसे आत्मा का अवलम्बन है। परपदार्थों के अवलम्बन से अर्थात् देव-गुरु-जिनवाणी के अवलम्बन से आत्मा का उपयोग प्रगट नहीं होता है। उपयोग की अस्ति ज्ञेय पदार्थों के कारण नहीं है, परन्तु वह उपयोग जिसका लक्षण है—ऐसे आत्मा से अस्तिरूप है। उस उपयोग को पर का अवलम्बन कैसे हो? अधिक वाँचन, अधिक श्रवण करे तो शुद्धि की वृद्धि हो—ऐसा नहीं है। शुद्धि की वृद्धि तो नियम से आत्मा के अवलम्बन से ही होगी।*(आत्मधर्म, अंक-434, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 30)*

(21)

प्रश्न—सीमन्धर का अर्थ क्या है? क्या आत्मा सीमन्धर है।

उत्तर—सीमन्धर अर्थात् वस्तु मर्यादावाली है। प्रभु! तू मर्यादित है, तेरी सीमा—तेरी मर्यादा यह है कि तू राग में न जावे, राग को न करे; अपने त्रिकाली अकषायी नीराग स्वरूप में ही रहे। अत: मर्यादा का, सीमा का धारक आत्मा स्वयं ही सीमन्धर है।

(आत्मधर्म, अंक-425, मई 1978, पृष्ठ 32)

(22)

प्रश्न—द्रव्यस्वभाव में विकार है ही नहीं तो कारणपरमात्मा को पापरूपी बहादुर शत्रुसेना का लूटनेवाला क्यों कहा ?

उत्तर—यह तो पर्याय से बात की है। पर्याय में रागादिभाव हैं, वे स्वभावसन्मुख ढ़लने पर उत्पन्न नहीं होते, ऐसी स्थिति में उन्हें नाश किया - ऐसा कथनमात्र कहा जाता है। द्रव्यस्वभाव में तो रागादिभाव अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र केवलज्ञान या सिद्धपर्याय आदि कोई भी पर्याय हैं ही नहीं। संसार-मोक्ष तो सब पर्यायों का खेल है, द्रव्यस्वभाव में ये पर्यायें हैं ही नहीं। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव एकरूप है; उसे न तो कुछ ग्रहण ही करना है और न कुछ छोड़ना। ज्ञायकभाव तो शाश्वत ही है। तीन कषायों का अभाव करके अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेनेवाले दिगम्बर सन्तों ने अन्तर की बात अजब-गजब की की है। ऐसी बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त भरतक्षेत्र में अन्यत्र है ही नहीं; वे कहते हैं कि सभी जीव सुखी होवें, कोई जीव दु:खी न होवे, सभी जीव मुक्तदशा को प्राप्त करें, प्रत्येक आत्मा मुक्तस्वभावी ही है। *जैसे चावल और कलथी को उत्पन्न होने की जमीन अलग होती है; वैसे ही अच्छा उत्पन्न होने का स्थान अच्छा अर्थात् मुक्तस्वरूप से ही है। उसके आश्रय से मुक्ति उत्पन्न होती है। *(आत्मधर्म, अंक-436, फरवरी 1980, पृष्ठ 26)*

(23)

प्रश्न—त्रिकाली आत्मद्रव्य के आश्रय से ही धर्म होता है—इसका क्या कारण है ?

उत्तर—त्रिकाली आत्मद्रव्य ही मूल वस्तु है, उसी में आनन्द भरा है; इसलिए त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लेने पर, पर्याय में आनन्दरूप धर्मदशा प्रकट होती है।

(आत्मधर्म, अंक-441, जुलाई 1980, पृष्ठ 29)

(24)

प्रश्न—ध्रुव का मूल्य अधिक है या पर्याय में आनन्द के अनुभव का ?

उत्तर—ध्रुव का मूल्य अधिक है। आनन्द की पर्याय तो एक समय की है, जबकि ध्रुव में आनन्द का कोष भरा है। *(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 32)*

** यह अंश हिन्दी ज्ञानगोष्ठी में अनुपलब्ध है।*

(25)

प्रश्न—यदि द्रव्य की प्रसिद्धि पर्याय से होती है, तब तो द्रव्य से पर्याय ऊँची हो गयी ?

उत्तर—द्रव्य की प्रसिद्धि भले ही पर्याय करती है, फिर भी पर्याय है तो एक समय की ही न ? द्रव्य तो अनन्त-अनन्त पर्यायों का पिण्ड प्रभु है, उसकी ही महिमा है। यद्यपि एक समय की पर्याय की भी महिमा है कि वह एक समय में तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को जानती है—यह सत्य है, तथापि द्रव्य तो उससे अनन्तगुणी पर्यायों का पिण्ड है; इसलिए पर्याय की अपेक्षा द्रव्य की अनन्तगुणी महिमा है। ऐसे द्रव्य की महिमा दृष्टि में आये तो पर्याय में आनन्द का वेदन होवे। *(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 27)*

(26)

प्रश्न—द्रव्य में पड़ा हुआ आनन्द काम में अर्थात् भोगने में नहीं आता, जबकि पर्याय का आनन्द भोगने में आता है—ऐसी स्थिति में पर्याय का मूल्य बढ़ा या नहीं ?

उत्तर—पर्याय में भोगने में आनेवाला आनन्द एक क्षणवर्ती होता है और द्रव्य तो त्रिकाली आनन्द का पिण्ड है। द्रव्य में से क्षण-क्षण आनन्द का प्रवाह आता है, इसलिए द्रव्य आनन्द का सागर है। आनन्द के सागर का मूल्य अधिक है।

(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 27)

(27)

प्रश्न—आप कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय, ध्रुव को जानती है, ध्रुव स्वयं कुछ नहीं जानता; तो क्या ध्रुव अन्धा है ?

उत्तर—ध्रुव अन्धा नहीं है, बल्कि महाप्रभु है। ध्रुव जानने की अन्वयशक्तियों का महापिण्ड प्रभु है। पर्याय व्यक्त है—प्रगट है, वह ध्रुव को जानती है।

(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 21)

(28)

प्रश्न—जीव शुद्धस्वभावी है—यह तो ठीक है; परन्तु राग-द्वेष-मोह-सुख-दुःख के परिणामों को करता कौन है और भोगता कौन है ?

उत्तर—जीव ही राग-द्वेष-मोह के परिणामों को करता है, सुख-दु:ख एवं हर्ष-शोक को भोगता है; किन्तु वे विभाव परिणाम हैं, उपाधिभाव हैं; अत: जीव के स्वरूप का विचार करने पर वे जीव का स्वरूप नहीं हैं—ऐसा कहा जाता है तथा शुद्धस्वरूप के अनुभव में विभाव नहीं आता है; इसलिए स्वभावदृष्टि से विभाव, आत्मा से भिन्न है।

(आत्मधर्म, अंक-405, जुलाई 1977, पृष्ठ 22)

(29)

प्रश्न—आत्मा का स्वभाव ज्ञान है तो राग कैसे होता है ?

उत्तर—अपने स्वभाव को भूलकर पर को अपना मानता है, इसलिए पर में राग करता है। निमित्ताधीन बुद्धि होने से, रागादि में एकत्वबुद्धि होने से, पर्यायबुद्धि होने से राग होता है। आत्मा के द्रव्य-गुण में राग करने की शक्ति नहीं है, किन्तु पर्याय में विकार होने की योग्यता से राग होता है। *(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 14-15)*

(30)

प्रश्न—आत्मा में नित्यस्वभाव और अनित्यस्वभाव दोनों एक साथ हैं, उनमें से अनित्यस्वभाव का अर्थ क्या है ? क्या विकारीभाव भी आत्मा का अनित्यस्वभाव है ?

उत्तर—आत्मा कायम रहकर पलटता रहता है। आत्मा की विकारीदशा, संसार और निर्मलदशा, मोक्ष है। शरीर तो संयोगी है, वह तेरा स्वभाव नहीं और क्षणिक विकार भी तेरा स्वभाव नहीं; त्रिकाली स्वभाव का वेदन हो, वह तेरा स्वभाव है। आत्मा में अनित्यस्वभाव तो कायम रहता है, परन्तु विकारीपर्याय सदा नहीं रहती; अत: वह वास्तव में आत्मा का अनित्यस्वभाव नहीं है। क्षण-क्षण में जो जानने की पर्याय हुआ करती है, वही आत्मा का अनित्यस्वभाव है। नयी-नयी ज्ञान की पर्याय सदा होती ही रहती है, वही आत्मा का अनित्यस्वभाव है। *(आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर 1982, पृष्ठ 24)*

(31)

प्रश्न—इन्द्रियों द्वारा जाना जाय, वह आत्मा अर्थात् आत्मा इन्द्रियों से जाना जाता है—ऐसा मानें तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर—इन्द्रियों से जाना जाय, वह आत्मा - ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्मा तो सर्वज्ञस्वभावी है। इन्द्रियों से आत्मा जाना जाता हैं—ऐसा माना जाय तो इसमें आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का अपवाद होता है तथा सर्वज्ञ का भी अपवाद होता है। जानने का स्वभाव तो चेतन आत्मा का ही है; अचेतन इन्द्रियों का नहीं। सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय ही है, उन्हें इन्द्रियों का अवलम्बन रंचमात्र भी नहीं है। यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा को जानने की सामर्थ्य इन्द्रियों की है तो इसमें आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का स्पष्ट अनादर हो जाता है और यही सबसे बड़ी आपत्ति है। *(आत्मधर्म, अंक-197, फाल्गुन 2489, पृष्ठ 10)*

(32)

प्रश्न—आत्मा और ज्ञान जब अभेद हैं तो उनमें लक्ष्य और लक्षण का भेद क्यों किया ?

उत्तर—प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग करने में आया है। ज्ञान स्वयं प्रसिद्ध है और उस ज्ञान द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि की गयी है। लोग ज्ञानमात्र को तो स्वसंवेदन से जानते है। पेट दुखता है, माथा दर्द करता है - ऐसा किसने जाना ? ज्ञान ने जाना। इस प्रकार ज्ञान तो प्रसिद्ध है; परन्तु अज्ञानी उस द्वारा अकेले पर की प्रसिद्धि करता है, इसलिए उस ज्ञान को स्वसन्मुख करके आत्मा की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा और ज्ञान का लक्ष्य-लक्षण भेद करके समझाया गया है। प्रसिद्ध ज्ञान द्वारा अप्रसिद्ध आत्मा को प्रसिद्ध किया गया है। *(आत्मधर्म, अंक-97, कार्तिक 2478, पृष्ठ 8-9)*

(33)

प्रश्न—आत्मद्रव्य समस्त पर्यायों में व्यापक है—ऐसा कहा तो क्या विकारी पर्याय में भी आत्मा व्यापक है ?

उत्तर—हाँ, विकार पर्याय में भी उस समयमात्र आत्मा व्यापक है, परन्तु ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे अपनी पर्याय में मात्र विकारभाव ही नहीं होता, परन्तु साधकभाव होता है, क्योंकि 'विकारभाव कर्म के कारण होता नहीं अर्थात् उसमें कर्म व्यापक नहीं, उस विकार पर्याय में भी आत्मद्रव्य ही व्यापक है।'—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे विकार के समय भी द्रव्य की प्रतीति च्युत नहीं होती। इसलिए 'पर्याय में द्रव्य व्यापक है'

ऐसा निर्णय करनेवाले को मात्र विकार में ही व्यापकपना नहीं रहता परन्तु सम्यक्त्वादि निर्मल पर्याय में भी व्यापकपना होता है।*(आत्मधर्म, अंक-104, अंक 104, ज्येष्ठ-2478, पृष्ठ 155)*

(34)

प्रश्न—'केवलज्ञान की शक्ति' और 'केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म'—इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जिस जीव में केवलज्ञान प्रगट होनेवाला है, उस जीव में केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म सदा है। 'केवलज्ञान की शक्ति' और 'केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म' ये दोनों भिन्न चीज़ है; केवलज्ञान की शक्ति तो अभव्य में भी है परन्तु केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म उसमें नहीं है। अभव्य में केवलज्ञान की शक्तिरूप स्वभाव है, परन्तु उसे केवलज्ञान पर्याय कभी प्रगट नहीं होती - ऐसा भी उसका स्वभाव है।

(आत्मधर्म, अंक 104, ज्येष्ठ-2478, पृष्ठ 151/152)

(35)

प्रश्न—देहदेवल में भगवान आत्मा सर्वकाल प्रत्यक्ष है तो इस समय क्यों नहीं दिखता ?

उत्तर—यह शक्ति की अपेक्षा प्रत्यक्ष है। जिसकी दृष्टि इसके ऊपर जाती है, उसको प्रत्यक्ष है, तीनों काल में निर्मल है, तीनों काल में प्रत्यक्ष है। इसके स्वरूप में दया-दान आदि का विकल्प नहीं होता। जो प्रत्यक्ष करना चाहता है, उसको प्रत्यक्ष ही है। जो वर्तमान ज्ञान का अंश है, उसको त्रिकाली की ओर मोड़ने से प्रत्यक्ष है।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 28)

(36)

प्रश्न—जीव को हर्ष-अहर्ष आदि के स्थान नहीं हैं तो वे किसके हैं ?

उत्तर—जीव के मूल स्वभाव में विकार नहीं है, इसलिए विकार के स्थानों को पुद्गलकर्म का कहा गया है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई-1976, पृष्ठ 28)*

(37)

प्रश्न—आत्मा में तो अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें से कोई शक्ति ऐसी भी होगी कि

आत्मा, परद्रव्य का भी कार्य करे ? जिस प्रकार एक गाय को चराने जायें तो उसके साथ में ही अन्य भी दो-चार गायें चराने को ले जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा अपना कार्य करने के साथ शरीरादि का भी कार्य करे तो क्या दोष है ?

उत्तर—भाई, सुनो ! आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, वे अपना सम्पूर्ण कार्य करती हैं और अन्य द्रव्य से भिन्नपने स्वयं को टिकाये रखती हैं। अन्य द्रव्य, आत्मा से बाहर लौटते होने से तथा अन्य द्रव्यों में आत्मा का व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से आत्मा ज्ञानावरणी कर्म का अथवा शरीरादि अन्य द्रव्यों का कार्य करने में असमर्थ है।

(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 15-16)

(38)

प्रश्न—आत्मा के स्वभाव में दु:ख है क्या ?

उत्तर—नरक के नारकी को स्वर्ग के सुख की गन्ध नहीं; स्वर्ग के देव को नरक के दु:ख की गन्ध नहीं; परमाणु में पीड़ा की गन्ध नहीं; सूर्य में अन्धकार की गन्ध नहीं और सुखस्वभाव में संसारदु:ख की गन्ध नहीं।*(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 14)*

(39)

प्रश्न—कृपया ज्ञाता-दृष्टापने का वास्तविक स्वरूप बतलाये ?

उत्तर—चेतना ही आत्मा का लक्षण है और चेतना ज्ञान-दर्शनमय है। पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। पर के समक्ष देखते रहने मात्र का नाम ज्ञाता-दृष्टापना नहीं है, किन्तु अपने ज्ञायक-दर्शकस्वभाव को पहिचान कर उसमें स्थिर रहना ही ज्ञाता-दृष्टापना है। हमें तो ज्ञाता-दृष्टा रहकर पर का काम करना - यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है, क्योंकि आत्मा तो पर का कार्य कर ही नहीं सकता। ज्ञान-दर्शनस्वभाव द्वारा अपने आत्मा को जानकर उसमें स्थिर होना ही मोक्ष का निकट उपाय है।

(आत्मधर्म, अंक-74, मगसिर 2476, पृष्ठ 32)

[२]

देव-शास्त्र-गुरु

(40)

प्रश्न—भगवान की मूर्ति तो जड़ है, फिर उसकी पूजा का उपदेश क्यों दिया जाता है?

उत्तर—अरे भाई! अभी तू जड़-चेतन को समझ ही कहाँ पाया है? तेरे स्त्री-पुत्रादि भी तो जड़ ही है, फिर उनसे राग क्यों करता है? आत्मा, स्त्री-पुत्रादिरूप नहीं है, तू उनके आत्मा को तो जानता नहीं, केवल शरीर में ही तू स्त्री-पुत्रादिपना मान बैठा है। यह शरीर तो जड़ है, फिर भी तू उससे राग करके पाप बाँधता है और जहाँ देव की बात आती है, वहाँ तू कहता है कि मूर्ति तो जड़ है; तब कहना होगा कि तुझे देव-गुरु की पहिचान ही नहीं है। भगवान के भक्त को प्रथम भूमिका में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग आए बिना नहीं रहता। *(आत्मधर्म (हिन्दी), मई 1983, पृष्ठ 28)*

(41)

प्रश्न—जड़ मूर्ति को भगवान कैसे माना जाए?

उत्तर—साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के अभाव में प्रतिमाजी में उनकी स्थापना की जाती है। स्थापना दो प्रकार की होती है- (1) सद्भावरूप स्थापना (2) असद्भावरूप स्थापना। जिनेन्द्रदेव के अनुसार उनकी मूर्ति में जिनेन्द्रदेव का आरोप करना सद्भावरूप स्थापना है और पुष्पादिक में स्थापना असद्भावरूप स्थापना है। इन्हें तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते हैं। जिनदेव की प्रतिमा में जिनदेव की ही स्थापना होती है; इसलिए उस प्रतिमा पर कोई शृंगार आदिक नहीं हो सकता। वीतराग की प्रतिमा के वस्त्र नहीं हो सकते, माला नहीं हो सकती, मुकुट नहीं हो सकते, शस्त्र आदि राग-द्वेष के अन्य चिह्न भी नहीं हो सकते।

(—आत्मधर्म (हिन्दी), मई 1983, पृष्ठ 28)

(42)

प्रश्न—सच्चे देव को देखे बिना उनका निश्चय कैसे किया जाए?

उत्तर—जैसे कोई आदमी किसी बन्द मकान में वीणा बजा रहा हो तो, यद्यपि वह आँखों से दिखाई नहीं देता; किन्तु बाहर का आदमी उसकी वीणा बजाने की कला, पद्धति और स्वर इत्यादि से उस पुरुष को देखे बिना ही उसकी कला का निर्णय कर लेता है; उसी प्रकार शरीररूपी मकान में वाणीरूपी वीणा द्वारा भीतर स्थित आत्मा के सर्वज्ञ पद का निर्णय हो सकता है।

ज्ञान की वृद्धि और राग-द्वेष की हीनता के आधार पर ही सर्वज्ञता का निर्णय हो सकता है। एक आत्मा से दूसरे आत्मा में अधिक ज्ञान होता है और तीसरे आत्मा में उससे अधिक ज्ञान होता है- इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होते-होते किसी जीव के परिपूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, वही सर्वज्ञ है। इसी प्रकार एक जीव के जितना राग-द्वेष होता है, दूसरे जीव को उससे भी थोड़ा होता है तथा तीसरे के उससे भी कम होता है - इस प्रकार कम करते-करते अन्त में किसी जीव के राग-द्वेष का सर्वथा अभाव भी होता है। जिस जीव के राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होता है, उसके परिपूर्ण ज्ञान होता है और वह सर्वज्ञ कहलाता है।

इस प्रकार अपने ज्ञान में सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय करके जो उन्हें देव के रूप में पूजता है, उनकी श्रद्धा करता है; वह अपनी भक्ति से भगवान को अपने आँगन में ले आता है, अर्थात् वह स्वयं सत् के आँगन में पहुँच जाता है।

(आत्मधर्म (हिन्दी), मई 1983, पृष्ठ 28-29)

(43)

प्रश्न—भगवान की भक्ति से रुपया-पैसा आदि लौकिक सुख की सामग्री मिलती है या नहीं?

उत्तर—जो रुपये-पैसे आदि की आशा से वीतराग भगवान की भक्ति करता है, वह व्यवहार से भी भगवान का भक्त नहीं है। यदि कोई लौकिक आशा से सच्चे देव-गुरु को मानता हो और कुदेवादि को नहीं मानता हो तो भी वह पापी है। उसका गृहीत मिथ्यात्व

भी छूटा हुआ नहीं कहा जा सकता। वीतरागी-देव-गुरु तो धर्म समझाने के लिए निमित्तमात्र हैं, उसकी जगह यदि कोई लौकिक आशा से उनको मानता है तो उसे पुण्य भी नहीं होगा; किन्तु पापबन्ध होगा, धर्म समझने की बात तो दूर ही रही।

(आत्मधर्म (हिन्दी), मई 1983, पृष्ठ 29)

(44)

प्रश्न—सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने से तो सम्यग्दर्शन तो हो जाएगा न ?

उत्तर—जब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचानकर उनके लिए तन-मन-धन अर्पण करने की भावना आ जाए और कुगुरु-कुदेवादि में प्रवृत्ति न हो, तब गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और जब उसे आत्मा की ऐसी श्रद्धा हो जाए कि देव-गुरु के प्रति होनेवाला राग भी पुण्यबन्ध का कारण है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; तब अगृहीत मिथ्यात्व भी छूट जाता है। अनादि के अगृहीत मिथ्यात्व के छूटने पर ही जिनेन्द्र भगवान का सच्चा भक्त होता है, सच्चा जैनपना प्रगट होता है। *(आत्मधर्म (हिन्दी), मई 1983, पृष्ठ 29)*

(45)

प्रश्न — आप कहते हैं कि शुभभाव से धर्म नहीं होता; इसलिए हमें देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का उत्साह नहीं आता ?

उत्तर — यह ठीक है कि शुभराग से धर्म नहीं होता, किन्तु यह कहाँ कहा है कि शुभराग को छोड़कर अशुभराग करो ? फिर तू स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी आदि के अशुभराग में रत क्यों रहता है ? इससे सिद्ध होता है कि तुझे निमित्त की परीक्षा करना नहीं आता। जिसे निमित्त की परीक्षा का भान नहीं है, वह अपने उपादानस्वरूप को कैसे पहिचानेगा ? भगवान अरहन्तदेव, सत्शास्त्र और नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी सद्गुरु अपने सत्स्वरूप को समझने में निमित्त हैं। *(आत्मधर्म (हिन्दी), मई 1983, पृष्ठ 29)*

(46)

प्रश्न — आप तो व्यवहार को हेय कहते हैं, फिर अरहन्तादि की भक्ति का उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर — जो यह तो जानता नहीं कि निश्चय क्या है एवं व्यवहार क्या है ? और व्यवहारशुद्धि के बिना मात्र निश्चयनय से बातें ही करता है, उसे निश्चयनय नहीं होता। जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के लिए तन-मन-धन अर्पण करने का भाव आता है, वह व्यवहार से अरहन्तादि का भक्त है। प्रशस्त शुभराग होने पर गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और अन्तस्वभाव के बल से शुभराग से अपने को भिन्न जानकर शुद्धस्वभाव की श्रद्धा करने पर निश्चय सम्यक्त्व होता है। *(आत्मधर्म (हिन्दी), मई 1983, पृष्ठ 29)*

(47)

प्रश्न — भगवान की व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर — जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान होती है तथा उनके लिए सर्वस्त्र समर्पण का भाव होता है, वह व्यवहार से भगवान का भक्त कहलाता है। भगवान का व्यवहारभक्त वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु को छोड़कर कुगुरु-कुदेव आदि का समर्थन नहीं करता। सत्यमार्ग एक ही होता है, तीन लोक और तीन काल में भी सत्यमार्ग दो नहीं होते। वीतरागदेव के अतिरिक्त अन्यदेव को सच्चा माननेवाला वीतराग का भक्त नहीं है। सर्वज्ञदेव और कुदेवादि एक समान नहीं होते - ऐसी श्रद्धा होने पर, सर्वज्ञ की व्यवहारश्रद्धा कहलाती है। कुछ लोग जैनधर्म व अन्य धर्मों का समन्वय करना चाहते हैं, किन्तु जैनधर्म व अन्य धर्मों का समन्वय कभी भी नहीं हो सकता। वीतराग के बाह्य या अन्तरङ्ग स्वरूप को अन्यथा माननेवाला भगवान का व्यवहारभक्त भी नहीं है।

जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहारश्रद्धापूर्वक आनन्द घनस्वरूप निज आत्मा की श्रद्धा के बल से यह निर्णय करता है कि परपदार्थों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी शुभराग भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ; वही भगवान का निश्चयभक्त है। जिसे निश्चयभक्ति होती है, उसे व्यवहारभक्ति अवश्य होती है तथा उसे सच्चे देव-गुरु-धर्म के लिए उत्साहपूर्वक तन-मन-धन खर्च करने का भाव भी आए बिना नहीं रहता। *(आत्मधर्म (हिन्दी), जून 1983, पृष्ठ 26)*

(48)

प्रश्न— भगवान तो वीतरागी हैं, वे धन का क्या करेंगे ?

उत्तर— भाई! तुझे भगवान को कहाँ धन देना है? भगवान के लिए कुछ नहीं करता है; किन्तु वीतरागता की रुचि बढ़ाकर देव-गुरु की प्रभावना के लिए खर्च करके तृष्णा कम करने के लिए कहा जाता है। यदि तुझे सत् की रुचि है, तो यह देख कि अन्य साधर्मियों को किस बात की प्रतिकूलता है? और यदि किसी को शास्त्र आदि की आवश्यकता है तो उसकी पूर्ति के लिए अपने पद के अनुसार हिस्सा दे।

(आत्मधर्म (हिन्दी), जून 1983, पृष्ठ 26)

(49)

प्रश्न— ज्ञानी जीव भी भगवान के समक्ष भक्ति करते समय बोलते हैं कि हे नाथ! भव-भव में आपका शरण प्राप्त हो। यदि भगवान का शरण न होता तो ज्ञानी जीव ऐसा कैसे बोलते?

उत्तर— भव-भव में भगवान का शरण प्राप्त हो - यह मात्र निमित्त के तरफ की भाषा है, ज्ञानी इस भाषा का कर्ता नहीं है। इस भाषा के समय ज्ञानी के अन्तर में ऐसा अभिप्राय होता है कि रागरहित चिदानन्द मेरा स्वरूप है। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान के होने पर भी अभी पर्याय में राग है; अत: जब तक यह राग समाप्त न हो, तब तक अशुभराग तो हमें होवे ही नहीं और वीतरागता के निमित्त के प्रति ही लक्ष्य हो, वीतरागता का ही बहुमान हो, शुभराग टूटकर अशुभराग तो आवे ही नहीं। अब शुभराग लम्बे समय तक तो टिक नहीं सकता, अल्प काल में ही वह पलटकर या तो वीतरागभावरूप हो जायेगा या अशुभभावरूप हो जायेगा।

'वीतराग का ही शरण हो'— इसमें ज्ञानी की ऐसी भावना है कि यह शुभ टूटकर अशुभ न हो, अपितु शुभ टूटकर वीतरागता ही हो। वीतराग के बहुमान का राग हुआ, उस समय भी लक्ष्य तो वीतराग की तरफ होता है परन्तु वीतराग भगवान कहीं मुक्ति के दाता नहीं हैं, मैं अपनी शक्ति से ही राग तोड़कर भगवान बनूँगा। यदि आत्मा में ही भगवान बनने की शक्ति न हो तो भगवान कुछ भी देने में समर्थ नहीं है और यदि आत्मा में ही भगवान बनने की शक्ति है तो भगवान की पराधीनता नहीं, मैं स्वतन्त्र भगवान हूँ— ऐसे स्वभाव के भान बिना स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होती और बन्धन नहीं मिटता। वीतराग भगवान की

प्रार्थना के शुभराग से तीन काल तीनलोक में धर्म नहीं होता। जिसे अपने स्वत: शुद्धस्वभाव का भान नहीं; वह अपने लिए देव-शास्त्र-गुरु की आधीनता मानता है और ऐसी मान्यतावाले को आचार्यदेव, जीव कहते ही नहीं, वह तो जड़ जैसा है - मूढ़ है, उसे चैतन्यतत्त्व का भान नहीं है। ऐसे अज्ञानी को आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, परमपारिणामिकभावस्वरूप है; उसे तू पहिचान! शरीर-वाणी-मन और पुण्य-पाप का आधार न रख, पर्याय का भी आधार छोड़कर त्रिकाली स्वभाव का आधार ले। पुण्य-पाप रहित आत्मस्वरूप को माने पुण्य-पाप मिटेंगे नहीं।

जैसे शरीर में फोड़ा निकला हो; उसे जो रोगरूप समझे, उसका ही आपरेशन होगा। उसी प्रकार जो जीव, शुद्धचैतन्य स्वरूप को जाने तथा हिंसादि और दयादि के अशुभभावों से स्वरूप को भिन्न जाने, वही जीव विकारीभावों का अभाव करने का प्रयत्न करके मुक्ति प्राप्त करेगा। जो अपने निरुपाधि शुद्धस्वरूप को पहिचानेगा ही नहीं, वह जीव, शुभाशुभाभावों को छोड़ेगा नहीं और उसकी मुक्ति भी नहीं होगी। *(आत्मधर्म, अंक-74, मगसर 2476, पृष्ठ 40)*

(50)

प्रश्न—भेदभक्ति और अभेदभक्ति अथवा व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति का स्वरूप क्या हैं एवं उसका फल क्या है?

उत्तर—परमात्मा के स्वरूप का विचार करना भेदभक्ति है, वह प्रथम होती है। ऐसी भेदभक्ति को जानने के पश्चात् ऐसा ही परमात्मा मैं हूँ, आत्मा में ही परमात्मा होने की शक्ति है - इस प्रकार अपने आत्मा को पहिचानकर उसमें स्थिर होना, वह परमार्थभक्ति अथवा अभेदभक्ति अथवा निश्चयभक्ति है। अभेद आत्मा की तरफ बढ़ने के लक्ष्यपूर्वक भेद-भक्ति होती है, वह व्यवहार कहलाती है। रागरहित ज्ञानस्वरूपी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करके उसके ध्यान में एकाग्रतारूप अभेदशक्ति तो मोक्षफलदायक है, इसके विपरीत भेदभक्ति, बन्धफलदायक है। *(आत्मधर्म, अंक-76, महा 2476, पृष्ठ 52)*

(51)

प्रश्न—अभेद भक्ति कितने प्रकार की होती है? क्या सभी प्रकार की भक्ति स्त्रियों को भी हो सकती है?

उत्तर—अभेद भक्ति दो प्रकार की होती है :- (1) शुक्लध्यान (2) धर्मध्यान। यद्यपि कहने में तो दोनों जुदा (भिन्न) लगते हैं परन्तु इन दोनों के अवलम्बनस्वरूप आत्मा एक ही है, इसलिए ये दोनों एक ही जाति के हैं, मात्र निर्मलता की अधिकता और हीनता का ही अन्तर है। आत्मस्वभाव के भान द्वारा धर्मध्यान स्त्रियों को भी हो सकता है, परन्तु उन्हें शुक्लध्यान नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्लध्यान विशेष निर्मल है और ऐसी विशेष निर्मलता, स्त्रीपर्याय में स्वाभाविकरूप से सम्भव नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-76, महा 2476, पृष्ठ 54)

(52)

प्रश्न—कोई किसी का बहुमान नहीं कर सकता - ऐसा मानने में तो तीर्थङ्कर का अविनय हो जावेगा ?

उत्तर—तीर्थङ्कर का विनय किसे कहते हैं ? तीर्थङ्कर भगवान तो वीतराग हैं। वास्तव में राग से उनका विनय नहीं होता। जैसा तीर्थङ्कर प्रभु ने स्वयं किया और कहा, वैसा ही समझना और भगवान चैतन्य-ज्योति का बहुमान करके उसमें ठहरना- यही तीर्थङ्कर का सच्चा विनय है।

सत् समझने से विनय का अभाव नहीं होता, अपितु सत् की सच्ची भक्ति और सच्चा विनय होता है।

पहले अज्ञानदशा में कुदेवादि के समक्ष मस्तक झुकाता रहा। अब सच्ची समझ होने पर जबतक स्वयं वीतराग नहीं हो जाता, तब तक बीच में सत् निमित्तों का विनय, भक्ति, बहुमान आए बिना रहता नहीं परन्तु वहाँ भी परमार्थ से पर का बहुमान नहीं, अपने भाव का ही बहुमान है। ज्ञानी तो अपने स्वभाव को ही सर्वोत्कृष्ट जानकर उसी का आदर करते हैं, क्योंकि स्वभाव के आदर में ही तीर्थङ्कर का सच्चा विनय समाहित है।

(आत्मधर्म, अंक-74, मगसर 2476, पृष्ठ 35)

(53)

प्रश्न—श्री परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की पन्द्रहवीं गाथा में कहा है कि भावकर्म, द्रव्यकर्म और देहादिक सर्व परद्रव्यों को छोड़कर केवलज्ञानमय परमात्मपना प्राप्त किया;

अत: यहाँ प्रश्न है कि अरहन्तदेव ने भावकर्म, द्रव्यकर्म का अभाव किया – यह तो ठीक परन्तु उनके देहादिक का भी अभाव हो गया – ऐसा कैसे कहा ? शरीर का संयोग तो उनके अभी मौजूद है ?

उत्तर—शरीरादि तो तीनों काल आत्मा से भिन्न ही हैं; परन्तु पहले उनके प्रति मोह और राग-द्वेष था, उस मोह और राग-द्वेष का अभाव हो गया; इसलिए शरीरादि का भी अभाव हो गया – ऐसा कहने में आया है। *(आत्मधर्म, अंक-77, फाल्गुन 2476, पृष्ठ 95)*

(54)

प्रश्न—शास्त्रपठन का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—शास्त्रों का तात्पर्य तो भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा बतलाना है। ऐसे आत्मा का ज्ञान होना ही शास्त्र पढ़ने का तात्पर्य है। जो जीव ऐसे आत्मा को नहीं जानते, उन्होंने वास्तव में शास्त्र पढ़ा ही नहीं। ज्ञानस्वभावी आत्मा, राग से भी भिन्न हैं – ऐसा बतलाकर शास्त्र, ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन कराते हैं और राग का अवलम्बन छुड़ाते हैं – यही शास्त्र का तात्पर्य है, यही शास्त्र पढ़ने का गुण है। जिसके भिन्न-वस्तुभूत शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञान का अभाव है, उसको शास्त्र के पठन के फल का भी अभाव है अर्थात् वह अज्ञानी है; अत: राग से पार शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का स्वरूप जानकर उसका आश्रय करना योग्य है। *(आत्मधर्म, अंक-208, महा 2487, पृष्ठ 13)*

(55)

प्रश्न—क्या शास्त्रों का अर्थ भी अनेक तरह से किया जाता है ?

उत्तर—अक्षरार्थ, भावार्थ आदि पाँच प्रकार से शास्त्रों का अर्थ करने को आचार्यदेव ने कहा है।

जैसे :- ज्ञानावरणी कर्म से ज्ञान रुकता है – यह तो अक्षरार्थ हुआ। ज्ञानवरणी कर्म से ज्ञान नहीं रुकता, परन्तु अपने ही कारण ज्ञान अल्प (हीन) हुआ है – यह भावार्थ हुआ। पर के कारण ज्ञान अल्प हुआ है – ऐसा माननेवाले की तो दृष्टि ही मिथ्या है, परन्तु ज्ञान अपने ही कारण हीन है – ऐसा जानना सत्य है। ऐसा जानकर भी हीन पर्याय का लक्ष्य

छोड़कर त्रिकाली ध्रुव चैतन्यसामान्य का लक्ष्य करना भावार्थ है। यही भावार्थ, जानने का प्रयोजन है।

नियमसार मे आत्मा को चार भावों से अगोचर कहा है अर्थात् क्षायिकभाव से आत्मा जानने में नहीं आता - यह अक्षरार्थ है। यह अक्षरार्थ भी भावार्थ से ही सफल है। उसका भावार्थ यह है कि क्षायिकभाव के आश्रय से आत्मा ज्ञात नहीं होता, इसलिए आश्रय की अपेक्षा से क्षायिकभाव से अगोचर कहा है। आत्मा को जाननेवाली तो निर्मल पर्याय ही है, तथापि उसके आश्रय से त्रिकाली आत्मा जानने में नहीं आता।

नियमसार (भक्ति अधिकार) में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम का भजन, वह भक्ति है - ऐसा कहा है, वह व्यवहारनय से कहा है परन्तु उसका भावार्थ 'धर्मी जीव ध्रुव आत्मा की ही भक्ति-सेवा-उपासना करता है'—ऐसा समझना। समयसार की 16वीं गाथा में कहा है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं। वह व्यवहार से समझाया है, परमार्थ में तो एकरूप ध्रुव आत्मा का ही सेवन करना है। व्यवहार से समझाया जाता है, तथापि समझाने और समझनेवाले को व्यवहार में स्थित नहीं रहना है। समयसार की 8वीं गाथा की टीका में भी ऐसा ही कहा है कि ''.....व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान में होने के कारण परमार्थ का प्रतिपादक (कहनेवाला) होने से स्थापन करने योग्य है; तथापि 'ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं होना'— इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं।'' जहाँ-जहाँ शुद्ध पर्याय की सेवा करने को — ध्यान करने को कहा है, वहाँ-वहाँ उसे समझाने की एक प्रकार की शैली के कथन समझना चाहिए। निर्मल पर्याय प्रकट होती है - इस अपेक्षा से कहा है - ऐसा समझना।

समयसार की 6वीं गाथा की टीका में कहा है कि आत्मा अन्य द्रव्य के भावों से भिन्नरूप उपासना किये जाने से 'शुद्ध' कहलाता है; वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि अन्य द्रव्य से लक्ष्य छूटता है और स्वद्रव्य पर लक्ष्य जाता है, तब पर्याय भी गौण हो जाती है और अकेले ध्रुव द्रव्यस्वभाव पर लक्ष्य जाता है - यही द्रव्य की सेवा कही जाती है।

(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 26-27)

(56)

प्रश्न—जिनवाणी सुनने से ज्ञान होता है और पुण्यबन्ध होता है, उससे पैसा भी मिलता है – यह तो दोनों प्रकार से लाभ हुआ?

उत्तर—सुनने के राग से ज्ञान नहीं होता, केवल पुण्य ही होता है।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1977, पृष्ठ 30)

(57)

प्रश्न—सुनने से थोड़ी-थोड़ी जानकारी तो होती है न?

उत्तर—यह जानकारी वास्तव में जानकारी नहीं, यथार्थ में वास्तविक जानकारी तो स्वसन्मुख हो, तब ही कही जाती है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 31)*

(58)

प्रश्न—ज्ञान में धारणारूप समझ तो होती है?

उत्तर—धारणारूप समझ होती है, लेकिन यथार्थ समझ तो सीधा स्वसन्मुख अन्तर में जाए, तब होती है। भगवान आत्मा को राग से लाभ मानना तो कलङ्क है।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 31)

(59)

प्रश्न—शास्त्रों में कहीं तो परीक्षाप्रधानी बनने के लिए कहा है और कहीं आज्ञानुसारी रहने का निर्देश दिया है। परीक्षा किए बिना निर्णय होता नहीं; अब हमें क्या करना?

उत्तर—परीक्षा तो करना, परन्तु जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर करना। सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर परीक्षा करना; अकेली परीक्षा करने जाओगे तो भ्रष्ट हो जाओगे। जिनशासन में कथित पदार्थों के स्वभाव की गम्भीरता, क्षेत्रस्वभाव की गम्भीरता, कालस्वभाव की गम्भीरता, अनन्त भावों के स्वभाव की गम्भीरता – इन सूक्ष्मस्वभावी पदार्थों को जिन-आज्ञा से प्रमाण करना।

अल्पबुद्धि का धारक जीव अकेली परीक्षा करने जायेगा तो जिनमत से च्युत हो जाने का बड़ा दोष होगा। जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर बने जितनी अर्थात् जितनी हो

सके, उतनी परीक्षा करने में दोष नहीं है।

अकेली आज्ञा से ही माने और परीक्षा करे ही नहीं तो भी निर्णय सच्चा नहीं हो सकता और सच्चा निर्णय हुए बिना किसी अन्य के द्वार की गई कुतर्कपूर्ण वार्ता सुनकर श्रद्धान बदल भी सकता है, इसलिए परीक्षा करके निर्णय तो अवश्य करना परन्तु जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर परीक्षा करना योग्य है। *(आत्मधर्म, अंक-418, सितम्बर 1979, पृष्ठ 28)*

(60)

प्रश्न—सभी शास्त्रों का सार स्वसन्मुख होना ही कहा है तो शास्त्रों को पढ़ने की क्या आवश्यकता ? हमें तो स्वसन्मुख होने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

उत्तर—स्वसन्मुख होने का ही प्रयत्न करना है परन्तु जब तक स्वसन्मुख न हो पाता हो और अनेक प्रकार से अटक जाने की शल्य पड़ी हो, तब तक शास्त्र-वाँचन का विकल्प आता है, आये बिना रहता नहीं तथा शास्त्र भी तो स्वसन्मुख होने के लिए ही कहते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-430, अगस्त 1979, पृष्ठ 23)*

(61)

प्रश्न—बुद्धिपूर्वक तत्त्वाभ्यास करने पर भी किसी को सम्यग्दर्शन होता है, किसी को नहीं भी होता - ऐसा क्यों ?

उत्तर—जो जीव, तत्त्वनिर्णय का यथार्थ अभ्यास करते हैं, उन्हें तो सम्यग्दर्शन होता ही है, किन्तु जो जीव, तत्त्व का अभ्यास करने पर भी किसी न किसी स्थान पर अटक जाते हैं, उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं होता। शास्त्रानुसार अभ्यास कर लेने पर भी अटकने के अनेक स्थान हैं, उनमें से कहीं भी अटक जाय तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। चढ़ने का एक ही प्रकार है। जो रुचिपूर्वक सच्चा प्रयत्न करता है, उसके ढ़ीले पड़ने की बात ही नहीं; उसका बल तो इतना प्रबल होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ही रहता है। एक कथानक आता है कि एक बार अनेक जहाज समुद्र में डूब गए, केवल एक जहाज बच गया; तब किसी पुण्यवान ने कहा कि यह बचनेवाला जहाज ही मेरा है, मेरा जहाज डूब नहीं सकता। इसी प्रकार 'जो तिरनेवाले जीव हैं, उनमें मैं ही हूँ'— ऐसा पात्र जीव को अन्दर से लगता है। *(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, पृष्ठ 27)*

(62)

प्रश्न—तत्त्व का निर्णय करने में कितने वर्ष लगते होंगे ?

उत्तर—कार्य हो जाय तो अन्तमुर्हूत्त में ही जो जाय, अन्यथा पूरा जीवन ही निर्णय करने में व्यतीत हो जाय। इसमें काल का कोई प्रश्न ही कहाँ है ? वीर्य को विपरीत परिणमन से अवरुद्ध करके स्वरूपसन्मुख करे तो कार्य हुए बिना रहे नहीं। जितना कारण देना चाहिए; उतना जब तक नहीं दे, तब तक कार्य नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक-421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 24)

(63)

प्रश्न—जो शास्त्रों का जानकार है, वह तो मुक्ति पायेगा ही ?

उत्तर—जो जीव, आत्मज्ञान से शून्य है, वीतरागी ज्ञान रहित है; उस जीव को बाह्य पदार्थों से कुछ भी सिद्धि नहीं होती, उसका शास्त्र-ज्ञान भी किसी काम का नहीं। स्वसंवेदन ज्ञान से रहित व्रत-तप आदि जीव को दु:ख के कारण होते हैं। आनन्द सहित ज्ञान ही निज आत्मज्ञान है और वही ज्ञान वर्तमान सुख का कारण है, मोक्ष सिद्धि का कारण है। शास्त्र-ज्ञान, व्रत-तप आदि के जो शुभ विकल्प हैं, वे सभी उसी क्षण-तत्काल दु:खरूप हैं और भावी दु:ख के कारण हैं तथा स्वसंवेदन ज्ञान तो वर्तमान सुखरूप है और भावी सुख का भी कारण है; इसलिए समस्त महिमा स्वसंवेदन ज्ञान की ही है।

(आत्मधर्म, अंक-400, फरवरी 1977, पृष्ठ 14)

(64)

प्रश्न — शास्त्र द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है या नहीं ?

उत्तर — शास्त्र द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं होता। दिव्यध्वनि से भी आत्मा जानने में नहीं आता - ऐसा परमात्मप्रकाश में कहा है न ? आत्मा तो अपने से ही अपने द्वारा जानने में आता है, तब शास्त्र को निमित्त कहा जाता है। प्रवचनसार में आता है कि आत्मा के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करो; वहाँ तो निमित्त बतलाना है। यहाँ तो कहते हैं कि निमित्त - ऐसा शास्त्रज्ञान है, वह दु:ख का कारण है और निज-आत्मज्ञान है, वह एक ही सुख का कारण है।

(आत्मज्ञान, अंक-400, फरवरी 1977, पृष्ठ 14)

(65)

प्रश्न—शास्त्र पढ़ने से आत्मा की सन्मुखता तो कही जाती है न ?

उत्तर—आत्मा में जाने का प्रयत्न करे तो आत्मा की सन्मुखता कही जाये। यदि मात्र शास्त्र के ज्ञान में ही रुका रहे और अन्तर निर्विकल्प स्वभाव में जाने का प्रयत्न न करे, तब तो वह आत्मसन्मुख भी नहीं कहा जा सकता।

(आत्मधर्म, अंक-400, फरवरी 1977, पृष्ठ 15)

(66)

प्रश्न—एक ओर तो कहते हो कि शास्त्र पढ़ना चाहिए और दूसरी ओर कहते हो कि शास्त्र पढ़ने में रुक जाये तो भी आत्मा जानने में नहीं आता – ऐसा क्यों ?

उत्तर—जो जीव, व्यापार आदि के अशुभभाव में ही रुक गये हैं और आत्मज्ञान होने में निमित्त ऐसे शास्त्राभ्यास का भी जिनको समय नहीं, उनसे कहते हैं कि हे भाई! तू शास्त्र-अभ्यास कर! किन्तु जो जीव शास्त्राभ्यास करता हुआ भी मात्र उसी में रुक जाये और आत्म-सन्मुख होने का प्रयत्न न करे तो उससे कहते हैं कि भाई! शास्त्र-पठन का गुण तो अन्तर्मुख होकर अनुभव करना है, उस निर्विकल्प अनुभव का प्रयत्न करते नहीं तो तुम्हारा वह शास्त्र-पठन किस काम का ? क्योंकि शास्त्र पढ़ने का हेतु – प्रयोजन तो आत्मज्ञान प्रगट करना ही है। शास्त्र-वाँचन और शास्त्र-श्रवण में द्रव्य-सन्मुख होने की जोरदार बात पढ़ते और सुनते ही उसकी धुन चढ़ जाना चाहिए, वह न हो तो सब श्रम व्यर्थ है।

(आत्मधर्म, अंक-400, फरवरी 1977, पृष्ठ 15)

(67)

प्रश्न—शास्त्र द्वारा आत्मा को जाना और बाद में परिणाम आत्मा में मग्न हुए – इन दोनों में आत्मा के जानने में क्या अन्तर है ?

उत्तर—अनन्तगुणा अन्तर है। शास्त्र से जानपना किया – यह तो साधारण धारणारूप जानपना है और आत्मा में मग्न होकर अनुभव से जानना – यह प्रत्यक्ष वेदन से जानपना है। अत: इनमें भारी अन्तर है।

(आत्मधर्म, अंक-403, मई 1977, पृष्ठ 10)

(68)

प्रश्न—समयसार जैसे महान अध्यात्मशास्त्र को पढ़-सुनकर भी लोग आगे क्यों नहीं बढ़ते ?

उत्तर—क्रियाकाण्ड की दृष्टिवाले को ऐसा लगता है कि समयसार सुनते हैं, फिर भी कोई आगे नहीं बढ़ते। कुछ बाह्य त्याग, तप, व्रतादिक क्रियायें करे तो ही उसे आगे बढ़ा हुआ दिखाई पड़ता है; किन्तु भाई! समयसार का पठन, मनन, श्रवण करके परद्रव्य की भिन्नता, परद्रव्य का अकर्तत्व, रागादि भावों में हेयबुद्धि और अन्तर में विराजित परमात्मशक्ति का उपादेयपना निरन्तर उसकी श्रद्धा-ज्ञान में चल रहा है और उसके श्रद्धा-ज्ञान में सुधार हुआ है, वह क्या आगे बढ़ना नहीं है ? अन्दर में श्रद्धा-ज्ञान में सत्य के संस्कार पड़ते हैं, वही आगे बढ़ना है। श्रद्धा-ज्ञान को सम्यक् किये बिना जो त्याग-व्रतादि किया जाता है, उसके सम्बन्ध में आत्मानुशासनकार श्री गुणभद्राचार्य तो कहते हैं कि आत्मभान रहित जो भी बाह्य तपादि है, वह सब अज्ञानी का बालतप है। अन्तरङ्ग मिथ्यात्व के त्याग बिना बाह्य त्याग को सच्चा त्याग नहीं कहते। अन्दर में श्रद्धा-ज्ञान-स्वरूपाचरणचारित्र में जो सुधार होता है, वही सच्चा सुधार है और वही आगे बढ़ना है परन्तु बाह्यदृष्टिवन्त को वह दृष्टिगोचर नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक-418, मार्च 1978, पृष्ठ 26-27)

(69)

प्रश्न—मात्र द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से क्या निश्चयाभासी हो जाते हैं ?

उत्तर—नहीं, द्रव्यानुयोग के अभ्यास से निश्चयाभासी नहीं होते परन्तु व्यवहार है ही नहीं—ऐसा निषेध करने से निश्चयाभासी होते हैं। इसीलिए कहा है जिसे निश्चय का अतिरेक हो, उसे व्यवहार ग्रहण करना और जिसे व्यवहार का अतिरेक हो, उसे निश्चय ग्रहण करना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 19-20)*

(70)

प्रश्न—जो मुनि आहारकशरीर प्रकृति बाँधें, उसके वह उदय में आवे ही आवे - ऐसा कोई नियम है ?

उत्तर—नहीं; कोई मुनि आहारकशरीर-नामकर्म बाँधे, परन्तु उसके उदय का अर्थात् आहारकशरीर की रचना का प्रसङ्ग कभी भी न आवे, बीच में ही उस प्रकृति का छेद करके मोक्ष प्राप्त कर ले, परन्तु तीर्थङ्करनामकर्म में ऐसा नहीं बनता, वह तो जिसके बँधता है, उसके नियम से उदय होता है।

आहारकशरीर की प्रकृति सातवें या आठवें गुणस्थान में बँधती है, किन्तु उदय छठे गुणस्थान में होता है। कोई जीव क्षपकश्रेणी माँडते समय आहारकशरीर-प्रकृति बाँधे और सीधा केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो छठे गुणस्थान में वापस गिरने का और आहारकशरीर की रचना का प्रसङ्ग ही नहीं बनेगा। छठे गुणस्थान में आहारकशरीर की रचनावाले मुनिवर एकसाथ अधिक से अधिक 54 ही होते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-262, अगस्त 1965, पृष्ठ 20-21)*

(71)

प्रश्न—ग्यारह अङ्गधारी द्रव्यलिङ्गी मुनि की क्या भूल रह जाती है ?

उत्तर—वह स्वसन्मुख दृष्टि नहीं करता, अतीन्द्रिय प्रभु के सन्मुख दृष्टि नहीं करता। *(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 29)*

(72)

प्रश्न—क्या द्रव्यलिङ्गी मुनि स्वसन्मुखता का प्रयत्न करता ही नहीं ?

उत्तर—नहीं, उसके धारणा में सब बातें आती हैं, किन्तु अन्तर्मुख प्रयत्न नहीं हो पाता। *(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 29)*

(73)

प्रश्न—द्रव्यलिङ्गी की भूमिका की अपेक्षा सम्यक्त्वसन्मुख की भूमिका कुछ ठीक है क्या ?

उत्तर—हाँ, द्रव्यलिङ्गी तो सन्तोषित हो गया है और सम्यक्त्व-सन्मुखतावाला तो प्रयत्न करता है। *(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 29)*

(74)

प्रश्न—मुनि को आहार की वृत्ति उठने पर भी मुनिदशा रहती है, तो फिर वस्त्र

रखने की वृत्ति उठे तो उसमें क्या दोष है ?

उत्तर—मुनि को संयम के हेतु शरीर के निभाव के लिए आहार की वृत्ति उठती है और वस्त्र रखने का भाव तो शरीर से ममत्व का प्रतीक है; अत: वस्त्र रखने की वृत्ति रहते हुए मुनिदशा नहीं रहती। *(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 19)*

(75)

प्रश्न—क्या द्रव्यलिङ्गी शुद्धात्मा का चिन्तवन नहीं करता ?

उत्तर—शुद्धात्मा का चिन्तवन तो करता है, परन्तु आत्ममय होकर नहीं करता। *(आत्मधर्म, अंक-428, जून 1979, पृष्ठ 25)*

(76)

प्रश्न—द्रव्यलिङ्गी इतनी कठोर क्रियायें करता है, शास्त्राध्ययन भी गम्भीर करता है, तथापि इन सबको स्थूल क्यों कहा ?

उत्तर—द्रव्यलिङ्गी क्षयोपशम की धारणा से और बाह्यत्याग से यह सब-कुछ करता है। बाह्य में उसके वैराग्य भी विशेष दिखलाई पड़ता है। हजारों रानियाँ और महान वैभव-राजपाट भी उसने छोड़ दिया है, फिर भी उसका वैराग्य सच्चा नहीं है। पुण्य-पाप के परिणाम से अन्तरङ्ग में विरक्ति उसके हुई नहीं है। स्वभाव महाप्रभु है, अनन्तानन्त गुणों का समुद्र आनन्द से परिपूर्ण है, उसकी महिमा अभी तक उसे अन्दर से आयी नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक-422, जून 1979, पृष्ठ 25-26)*

(77)

प्रश्न—द्रव्यलिङ्गी को शुभ में ही रुचि है या अशुभ में भी है ?

उत्तर—द्रव्यलिङ्गी को शुभ में रुचि है। *(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 25)*

(78)

प्रश्न—काया और कषाय में एकत्व है, उसका ख्याल उसे आता है या नहीं ?

उत्तर—उसका ख्याल उसे नहीं आता॥ *(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 25)*

(79)

प्रश्न—तो धारणज्ञान भी उसको सच्चा नहीं हुआ ?

उत्तर—तत्त्वों के जानपने का धारणाज्ञान तो सच्चा है, परन्तु स्वयं कहाँ अटकता है, वह उसकी पकड़ में नहीं आता। कषाय की विशेष मन्दता है, उसी में स्वानुभव मानता है। *(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 26)*

(80)

प्रश्न—समयसार गाथा 3 में कहा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। अत: जीव शरीर को तथा एक शरीर अन्य शरीर को स्पर्श नहीं करता। जीव भोजन नहीं कर सकता, बोल नहीं सकता, अन्य पदार्थों को चुरा नहीं सकता, धन-धान्यादि ग्रहण नहीं कर सकता, तो मुनिराज हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग क्यों करते हैं ?

उत्तर—भाई ! एक द्रव्य अन्य द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, यह तो महा सिद्धान्त है, ऐसी ही वस्तु स्थिति है। एक द्रव्य दूसरे जीव या पुद्गलद्रव्य को स्पर्श नहीं करता और परद्रव्य की क्रिया से जीव को बन्ध होता ही नहीं, परन्तु परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाले रागादिभाव जीव को बन्ध के कारण होने से मुनिराज अपने हिंसादि पाप भावों को त्याग करते हैं, अत: पाप भावों के त्याग के निमित्तभूत बाह्य हिंसादि परद्रव्यों की क्रिया का त्याग किया - ऐसा उपचार से कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 17)*

(81)

प्रश्न—ज्ञान रहित वैराग्य तो रुँधा हुआ कषाय है ?

उत्तर—हाँ, आत्मा के ज्ञान-भान रहित कषाय की मन्दता के वैराग्यरूप परिणाम में कषाय दबा हुआ है, कषाय टला नहीं है। जब यह दबा हुआ -रुँधा हुआ कषाय प्रस्फुटित होगा, तभी नरक-निगोद में चला जायेगा। भले ही बाह्य में राजपाट-स्त्री-पुत्रादि छोड़े हों; तथापि आत्मभान बिना कषाय टलता नहीं, दबता है और कालक्रम से प्रस्फुटित होकर तीव्रकषाय के रूप में प्रगट होता है। *(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, पृष्ठ 29)*

(82)

प्रश्न—भावलिङ्गी मुनि का लक्षण क्या है ?

उत्तर—अन्तर्मुहूर्त में छठे-सातवें गुणस्थान में आता-जाता रहे, वही लक्षण भावलिङ्गी मुनि का है। छठे गुणस्थान में भी अन्दर शुद्धपरिणति रहती है, वही भावलिङ्गीपना है। मुनिदशा में तो आनन्द का प्रचुर स्वसंवदेन होता है। चतुर्थ-पञ्चम गुणस्थान में भी आनन्द का वेदन होता है, किन्तु अल्प होता है। जबकि भावलिङ्गी मुनि के प्रचुर होता है।

(आत्मधर्म, अंक-418, अगस्त 1978, पृष्ठ 23)

(83)

प्रश्न—भावलिङ्गी मुनि को छठे गुणस्थान में शुभभाव आता है, तो क्या वह भी मोक्षमार्ग है ? क्या उसे वह श्रेयस्कर-सुखकर लगता है ? यदि नहीं तो क्यों ?

उत्तर—भावलिङ्गी मुनि को छठे गुणस्थान में महाव्रतादि का शुभराग आता है - वह प्रमाद है, शास्त्र में उसे जगपन्थ कहा है; वह मोक्षपन्थ-मोक्षमार्ग नहीं है। स्वरूप में ठहर जाना ही मुनिदशा है, उसमें से निकलकर शुभराग में आना मुनि को सुहाता नहीं है। जिस प्रकार चक्रवर्त्ती को अपने सुखदायी महल में से बाहर आना रुचता नहीं है; उसी प्रकार चैतन्य महल में जो विश्रान्ति से बैठा है, उसे वहाँ से बाहर निकलना पसन्द नहीं आता। अशुभराग तो पापरूप जहर है ही, परन्तु शुभराग भी दु:खरूप बन्धन है।

आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द की मूर्ति है। जिसे ऐसे निजस्वरूप की पहिचान हुई है, उसे फिर स्वरूप से बाहर आना रुचता नहीं है। जिसकी 96 हजार रानियाँ, 96 करोड़ ग्राम और 16 हजार देव सेवा करनेवाले हों, ऐसे बाह्य वैभव में रहनेवाला चक्रवर्त्ती उस वैभव को मल के समान क्षणमात्र में त्यागकर आनन्द का उग्र स्वाद लेने के लिए वन में चला जाता है। इस अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र-प्रचुर स्वाद लेनेवाले को शुभरागरूपी आकुलता में आना कठिन लगता है, भारस्वरूप लगता है, बाहर आना रुचता नहीं। शास्त्र-रचना अथवा उपदेश देने का विकल्प आता तो है, परन्तु वह बोझरूप लगता है।

(आत्मधर्म, अंक-418, अगस्त 1978, पृष्ठ 23-24)

(84)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् साधुपने के लिए व्रतादि तो करने पड़ेंगे न ?

उत्तर—भाई ! साधुपना कहीं बाहर से अथवा व्रतादि के विकल्पों से आता नहीं है; अतीन्द्रिय आनन्द की जमावट हो, वह साधुपना है। आनन्द की उग्र जमावट होने पर व्रतादि के विकल्प भी सहज ही होते हैं, किन्तु अन्तर में स्थिरता का होना ही साधुपना है।

(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 19)

(85)

प्रश्न—महाव्रत के भाव भले ही बन्ध के कारण हों, परन्तु मुनिराज को वे सहज आते हैं, फिर उनका निषेध कैसे ?

उत्तर—महाव्रत के भाव मुनिराज को भले ही सहज आते हों, तथापि वे निषेधने योग्य ही हैं। *(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, पृष्ठ 28)*

(86)

प्रश्न—महाव्रत तो महापुरुष पालन करते हैं, इसीलिए उन्हें महाव्रत कहते हैं, उनका निषेध कैसे होगा ?

उत्तर—महापुरुष अन्तरस्वरूप में स्थिर हुए हैं, उसके साथ व्रत के परिणाम आते हैं, इसलिए उन्हें महाव्रत कहते हैं, परन्तु हैं तो वे बन्ध के ही कारण; अत: उनका निषेध किया गया है। समयसार कलश के श्लोक नं. 108 की टीका में कहा है कि ..... 'व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; अत: विषय -कषाय के समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है'। *(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, पृष्ठ 28)*

(87)

प्रश्न—मुनिपने में व्रत-तप-शीलादि आचरण करना कहा है। जो कर सकते हैं, उसे तो बन्धनरूप और संसार का कारण कहा, तो फिर मुनियों को शरण किसका रहा ? मुनिपना किसके आश्रय पलेगा ?

उत्तर—व्रत-तप-शीलादि शुभाचरणरूप कर्म को निषेध करते हुए, निष्कर्म

अवस्थारूप प्रवर्त्तते हुए, मुनि कहीं अशरणरूप नहीं हैं; ज्ञानस्वरूप में आचरण करनेवाले मुनि को ज्ञान ही शरणरूप है। ज्ञान का शरण लेते हुए मुनिराज परम अमृत का आस्वादन करते हैं, अत: शुभाचरण के निषेधक मुनियों को ज्ञान ही परम शरणरूप है।

(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, पृष्ठ 29)

(88)

प्रश्न—श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी तो महाव्रतों को पाला था न ?

उत्तर—श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने महाव्रतों को पाला नहीं था, किन्तु महाव्रतों के विकल्प आये थे, उन्हें जाना था। उन विकल्पों का उनके स्वामित्व नहीं था, उन्हें अपनत्वपने जानते नहीं थे, मात्र परज्ञेयपने जानते थे।

(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1879, पृष्ठ 29)

(89)

प्रश्न—शास्त्र में कहीं-कहीं अरहन्त के आत्मा से भी निज-शुद्धात्मा को श्रेष्ठ कहा है, वह कैसे ? अपनी तो अपूर्ण अवस्था है, वह उनकी पूर्णावस्था से भी श्रेष्ठ कैसे ?

उत्तर—निज शुद्धात्मस्वभाव वर्तमान में ही परिपूर्ण है, उसी का ध्यान करने को कहा है, यहाँ त्रिकाल शुद्धस्वभाव की दृष्टि से कथन है, पर्याय यहाँ गौण है। इस आत्मा को अरहन्त के लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है और अपने स्वभाव के लक्ष्य से वीतरागता की उत्पत्ति होती है; इसलिए इस आत्मा के लिए अरहन्त श्रेष्ठ नहीं; किन्तु अपना शुद्धस्वभाव ही श्रेष्ठ है। जिनकी ओर से लक्ष्य छोड़ना है, उनसे तेरा क्या प्रयोजन है ? इसलिए सबका लक्ष्य छोड़कर, तेरा चैतन्यस्वभाव सदा पूर्ण है; उसे लक्ष्य बनाकर, उसी का निर्विकल्प ध्यान कर। यह अरहन्त अवस्था प्रगट होने की सामर्थ्य तो उसमें ही भरी है, अत: उसी का ध्यान करके उसी में से प्रगट कर; अन्य पदार्थों का ध्यान करना योग्य नहीं है - ऐसा उपदेश है। *(आत्मधर्म, अंक-80, ज्येष्ठ 2476, पृष्ठ 154)*

(90)

प्रश्न—देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प, उस तरफ का ज्ञान अथवा पञ्च

महाव्रत के विकल्परूप व्यवहाररत्नत्रय का भाव वास्तव में आत्मा नहीं है – यह तो ठीक, परन्तु वह आत्मा की पर्याय भी नहीं है—यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर—उस व्यवहाररत्नत्रय की पर्याय के साथ आत्मा की अभेदता नहीं है। ज्ञान की अवस्था होती है, वही आत्मा की पर्याय है और वह ज्ञान, आत्मा के साथ अभेद होता होने से, ज्ञान ही आत्मा है और राग, अनात्मा है।

सम्यग्दर्शन के पूर्व कषाय की मन्दता से विशुद्धिलब्धि भले हो, परन्तु वह आत्मा नहीं है और सम्यग्दर्शन का वास्तविक कारण भी नहीं है, वह तो राग है। यह राग है, वह सत्य आत्मा नहीं है और राग की आत्मा में अभेदता नहीं होती; अत: वह वास्तव में आत्मा की पर्याय नहीं।

रागादिभाव खरगोश के सींग की तरह जगत में होवें ही नहीं — ऐसा नहीं है; वे आत्मा की पर्याय में एकसमयवर्ती सत्‌रूप हैं, परन्तु आत्मा के त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा वे असत् हैं। *(आत्मधर्म, अंक-82, श्रावण 2476, पृष्ठ 204-205)*

उसे छह माह खोज

परिणाम को परिणाम द्वारा देख-ऐसा नहीं परन्तु परिणाम द्वारा ध्रुव को देख। पर्याय से पर को तो न देख, पर्याय को भी न देख परन्तु भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसे पर्याय से देख। तुझे तू देख। तेरी दृष्टि वहाँ लगा। छह महीने ऐसा अभ्यास कर। अन्तर्मुख तत्त्व को अन्तर्मुख के परिणाम द्वारा देख। अन्तर में प्रभु परमेश्वर स्वयं विराजता है, उसे एक बार छह माह तो खोज कि यह क्या है ? दूसरी चपलाई और चंचलाई छोड़कर अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ सिद्ध सदृश प्रभु है, उसे छह माह खोज।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[3]

आत्मानुभूति

(91)

प्रश्न—आत्मानुभव करने के लिए प्रथम क्या करना चाहिए?

उत्तर — प्रथम यह निश्चित करना कि मैं शरीरादि परद्रव्यों का कुछ नहीं कर सकता और जो विकार होता है, वह कर्म से नहीं, किन्तु मेरे अपने ही अपराध से होता है; ऐसा निश्चय करने के बाद, विकार मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक हूँ – ऐसा निर्णय करके ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के सन्मुख होने का अन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 17)

(92)

प्रश्न—पहले व्रतादि का अभ्यास तो करना चाहिए न?

उत्तर—प्रथम में प्रथम राग से भिन्न पड़ने का अभ्यास करना चाहिए। राग से भेदज्ञान के अभ्यास बिना व्रतादि का अभ्यास करना तो सचमुच मिथ्यात्व का अभ्यास करना ही है।

(आत्मधर्म, अंक-431,सितम्बर 1979, पृष्ठ 17)

(93)

प्रश्न—आत्मा प्राप्त करने के लिए सारे दिन क्या करना चाहिए?

उत्तर—सारे दिन शास्त्र का अभ्यास करना, विचार-मनन करते तत्त्व का निर्णय करना तथा शरीरादि से एवं राग से भेदज्ञान करने का अभ्यास करना। रागादि से भिन्नता का अभ्यास करते-करते आत्मा का अनुभव होता है।

(आत्मधर्म, अंक-415,मई 1978, पृष्ठ 46)

(94)

प्रश्न—अभ्यास किस प्रकार का करना चाहिए?

उत्तर—शास्त्र वाँचना, श्रवण, सत्समागम करना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-415, मई 1978, पृष्ठ 46)

(95)

प्रश्न—यह सारा अभ्यास सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए तो अकिञ्चित्कर है न ?

उत्तर—यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्मा के लक्ष्य से ही होता है, तथापि स्वाध्याय, श्रवण, सत्समागम आदि का विकल्प आता ही है, उससे परलक्ष्यी ज्ञान निर्मल होता है। शास्त्र में अनेक स्थानों पर आता है कि आगम का अभ्यास करो, स्व के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करो। जिसे आत्मा चाहिए, उसे आत्मा के बतानेवाले देव -शास्त्र-गुरु के समागम का विकल्प आता ही है। *(आत्मधर्म, अंक-415, मई 1978, पृष्ठ 46)*

(96)

प्रश्न—अन्तरदृष्टि करने का उपाय क्या है ?

उत्तर—अन्तरदृष्टि का उपाय स्वसन्मुख होकर अन्तर में दृष्टि करना है। सीधा अन्तर्मुख होकर वस्तु को पकड़े—वह उपाय है, पश्चात् ढ़ीला करके व्यवहार से अनेक बातें कही जाती हैं। सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान होता है—ऐसा कथन आता है। *(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 27-28)*

(97)

प्रश्न—सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान तो होता है न ?

उत्तर—सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान नहीं होता, किन्तु व्यवहार से कथन में आता है। *(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 28)*

(98)

प्रश्न—गुरुवाणी से आत्मवस्तु का स्वीकार करने पर भी अनुभव क्यों नहीं होता ? अनुभव होने में क्या शेष रह जाता है ?

उत्तर—गुरुवाणी से स्वीकार करना अथवा विकल्प से स्वीकार करना - वह वास्तविक स्वीकार नहीं है। अपने भाव से - अपनी आत्मा से स्वीकार होना चाहिए।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि जो हम कहते हैं, वह तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना। जो अपने अन्तर से सच्चा निर्णय करेगा, उसको अनुभव होगा।

(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 23)

(99)

प्रश्न—आत्मा की कितनी लगन लगे कि छह मास में सम्यग्दर्शन हो जाये ?

उत्तर—ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक की लगन लगनी चाहिए। ज्ञायक की धुन लगे तो छह मास में कार्य हो जाये और उत्कृष्ट लगन लगे तो अन्तर्मुहूर्त में हो जाये।

(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 23)

(100)

प्रश्न—चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही ग्रहण करने के लिए कहा, परन्तु 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसा लक्ष्य करने पर भेद का विकल्प तो आये बिना नहीं रहता, तो फिर विकल्परहित आत्मा का ग्रहण कैसे करें ?

उत्तर—प्रथम भूमिका में गुण-गुणी के भेद आदि का विचार आता अवश्य है, परन्तु आत्मा के चैतन्यलक्षण से विकल्पों को भिन्न जानकर अभेद चैतन्य की तरफ ढ़लना होता है। भेद भले ही बीच में आवे, किन्तु मेरे चैतन्य में वह भेद नहीं है। मैं 'चैतन्य अवस्था का कर्ता, चैतन्य में से अपनी अवस्था करूँ, चैतन्य के द्वारा करूँ' इत्यादि षटकारक के भेद आवें भले ही, किन्तु यथार्थतया छहों कारकों में चैतन्यवस्तु एक ही है, उस चैतन्य में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार चैतन्यस्वभाव की मुख्यता करके तथा भेद को गौण करके स्वरूपसन्मुख होकर भावना करने पर चैतन्य का ग्रहण होता है, वही सम्यग्दर्शन है और उसी उपाय से मोक्ष होता है। *(आत्मधर्म (हिन्दी), अप्रैल 1982, पृष्ठ 25)*

(101)

प्रश्न—आत्मज्ञान करने के लिये तो अनेक शास्त्रों का गहन अध्ययन करना पड़ेगा। यदि इसके लिये कोई सरल मार्ग हो तो बतलाइये ?

उत्तर—आत्मज्ञान के लिये बहुत से शास्त्रों के पढ़ने की बात ही कहाँ है ? तुम्हारी पर्याय दु:ख के कारणों की तरफ झुकती है, उसे सुख के कारणभूत स्वभाव के सन्मुख

लगा दो - इतनी सी बात है। स्वयं आत्मा अनन्त-अनन्त गुण-सम्पन्न भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी महिमा लाकर स्वसन्मुख हो जाओ! इतनी सी करने योग्य क्रिया है। अपनी पर्याय को द्रव्य-सन्मुख लगा दो - बस आत्मज्ञान का यही मार्ग है।

(आत्मधर्म, अंक-425, मार्च 1979, पृष्ठ 27)

(102)

प्रश्न—स्वभाव-सन्मुख होने के लिए 'मैं शुद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ' इत्यादि चिन्तवन करते-करते कुछ अपूर्व आनन्द का स्वाद आता है। वह आनन्द अतीन्द्रिय है अथवा कषाय की मन्दता का है - इसका निर्णय कैसे हो?

उत्तर—चिन्तवन में कषाय की विशेष मन्दता होने पर उसे आनन्द मान लेना तो भ्रम है, वह वास्तविक अतीन्द्रिय आनन्द नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आने पर तो राग और ज्ञान की भिन्नता प्रतीति में आती है। इस अतीन्द्रिय आनन्द का क्या कहना? अलौकिक है। सच्ची रुचिवाले जीव को कषाय की मन्दता में अतीन्द्रिय आनन्द का भ्रम नहीं होता। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आये बिना वह रुकता नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-414, अप्रैल 1978, पृष्ठ 24)

(103)

प्रश्न—आत्मसंस्कारों को दृढ़ करने के लिए क्या करना?

उत्तर—वस्तुस्वरूप का दृढ़ निर्णय करना। शुद्ध हूँ, एक हूँ, ज्ञायक हूँ—इसका चारों तरफ से बारम्बार निर्णय पक्का करके दृढ़ करना।

(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 31)

(104)

प्रश्न—सत् का संस्कार डालने से क्या लाभ होता है?

उत्तर—जिस प्रकार कोरे मटके में जल की बिन्दु डालने से मटका उसे चूस लेता है और जलबिन्दु ऊपर दृष्टिगोचर नहीं होती, फिर भी जल की आर्द्रता तो अन्दर रहती ही है, इसी कारण विशेष बूँदें पड़ने पर मटके की मिट्टी गीली हो जाती है और जल उसके

ऊपर दिखायी देने लगता है; उसी प्रकार जो जीव सत् की गहरी जिज्ञासा करके सत् के गम्भीर संस्कार अन्दर में डालेगा, उस जीव को कदाचित् वर्तमान में पुरुषार्थ की कचास के कारण, कार्य न हो सके, तथापि सत् के गहरे डाले हुए संस्कार दूसरी गति में प्रकट होंगे; अत: सत् के गहरे संस्कार अवश्य डालो। *(आत्मधर्म, अंक-418, अगस्त 1978, पृष्ठ 26)*

(105)

प्रश्न—एक पर्याय दूसरी पर्याय को स्पर्श नहीं करती तो पूर्व-संस्कार दूसरी पर्याय में कैसे काम करते हैं ?

उत्तर—एक पर्याय दूसरी पर्याय को स्पर्श नहीं करती, यह बात तो ठीक ही है, परन्तु वर्तमान पर्याय में ऐसा प्रबल संस्कार डाला होगा तो उसका जोर दूसरी पर्याय में प्रकट हो - ऐसी ही उस उत्पाद-पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता होती है, उत्पाद-पर्याय के सामर्थ्य से स्मरण में आता है। *(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 29)*

(106)

प्रश्न—श्रवण करके संस्कार दृढ़ करना - आगे बढ़ने का कारण है क्या ?

उत्तर—हाँ, अन्दर में संस्कार दृढ़ डाले तो आगे बढ़ता है।

(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1908, पृष्ठ 28)

(107)

प्रश्न—श्रवण में प्रेम हो तो मिथ्यात्व भी मन्द पड़ता होगा ?

उत्तर—मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तो अनन्त बार मन्द पड़ चुका है, फिर भी वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं बना। मूल दर्शनशुद्धि पर जोर होना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 29)

(108)

प्रश्न—नवतत्त्व का विचार तो पहले अनन्त बार कर चुके हैं, फिर भी लाभ क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—भाई ! पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, उससे इसमें कुछ विशेषता है। पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, वह तो अभेदस्वरूप के लक्ष्य बिना किया था, जबकि यहाँ अभेदस्वरूप के लक्ष्यसहित आत्मानुभूति की बात है।

पहले अकेले मन के स्थूल विषय से नवतत्त्व के विचाररूप आँगन तक तो अनन्त बार आया है, परन्तु उससे आगे बढ़कर विकल्प तोड़कर ध्रुव चैतन्यतत्त्व में एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ से वञ्चित रहा; इसलिए भवभ्रमण खड़ा रहा।

(आत्मधर्म, अंक-93, अषाढ़ 2477, पृष्ठ 185)

(109)

प्रश्न—प्रवचन तो वर्षों से सुनते आ रहे हैं, अब तो अन्दर जाने का को संक्षिप्त मार्ग बताइये ? जीवन अल्प रह गया है ?

उत्तर—आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव चिद्धन है, अभेद है, उसकी दृष्टि करो। भेद के ऊपर लक्ष्य करने में रागी जीव को राग उत्पन्न होता है, इसलिए भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद की दृष्टि करो- यह संक्षिप्त सार है। *(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 29)*

(110)

प्रश्न—तिर्यंच को ज्ञान अल्प होने पर भी आत्मा पकड़ में आ जाता है और हम इतनी मेहनत करते हैं तो भी आत्मा पकड़ में क्यों नहीं आता ?

उत्तर—ज्ञान में आत्मा का जितना वजन आना चाहिए, वह नहीं आता; स्वरूप प्राप्ति का जितना जोर आना चाहिए, वह नहीं आता; इतने प्रकार से इसे स्पृहा-आशा छूटना चाहिए, वह नहीं छूटती; इसलिए कार्य नहीं होता अर्थात् आत्मा पकड़ में नहीं आता।

(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 28)

(111)

प्रश्न—शुद्धनय का पक्ष हुआ है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—शुद्धनय का पक्ष होने का आशय है - शुद्धात्मा की रुचि होना। अनुभव अभी हुआ नहीं है, किन्तु रुचि ऐसी हुई है कि अनुभव होगा ही; परन्तु यह होने पर भी कहीं सन्तोष कर लेने की बात नहीं है। इस जीव के सम्बन्ध में केवली ऐसा जानते हैं कि इस जीव की रुचि इतनी प्रबल है कि अनुभव करेगा ही। इस जीव को ऐसा ज्ञायक का जोर वीर्य में वर्त्तता है - यह केवली जानते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-439, मई 1980, पृष्ठ 30)*

(112)

प्रश्न—दीर्घकाल से तत्त्वाभ्यास करने पर भी आत्मा प्राप्त क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु है, उस अतीन्द्रिय आनन्द की लगन उत्पन्न हो, आत्मातिरिक्त अन्यत्र मिठास लगे नहीं, रस पड़े नहीं, जगत के पदार्थों का रस फीका लगने लगे अर्थात् संसार के राग का रस उड़ जाये। अहो! जिसका इतना विशद् बखान हो रहा है, वह आत्मा अनन्तानन्त गुणों का पुञ्ज प्रभु है कौन ? – ऐसा आश्चर्य उत्पन्न हो, उसकी लगन लगे, धुन चढ़े – तब समझना चाहिए कि आत्मा प्राप्त होगा ही; न प्राप्त हो – ऐसा नहीं हो सकता। जैसा कारण दे, उतना कार्य आता है। कारण दिये बिना कार्य होता नहीं और कारण की कचाश से भी कार्य नहीं आता। आत्मा के आनन्दस्वरूप की अन्दर से सच्ची लगन लगे, बेचैनी हो, स्वप्न में भी वह का वही रहे, उसे आत्मा प्राप्त होता है। *(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 23)*

(113)

प्रश्न—आत्मा का स्वरूप ज्ञान में आने पर भी वीर्य बाह्य में क्यों अटक जाता है ?

उत्तर—जैसा विश्वास आना चाहिए, वैसा नहीं आता है; इसलिए अटक जाता है। जानपना तो ग्यारह अङ्ग का भी हो जाये, परन्तु यथोचित भरोसा नहीं आता। भरोसे से भगवान हो जाये, परन्तु वह नहीं आता, इसलिए भटकता है।

(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 15-16)

(114)

प्रश्न—इसमें रुचि की कमी है या भावभासन में भूल है ?

उत्तर—मूल में तो रुचि की ही कमी है।*(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 16)*

(115)

प्रश्न—हम तत्त्वनिर्णय करने का उद्यम तो करते हैं, परन्तु बीच में प्रतिकूलता आ पड़े तो क्या करें ?

उत्तर—जिसको तत्त्वनिर्णय करना है, उसको तत्त्वनिर्णय में प्रतिकूलता कुछ है

ही नहीं। प्रथम तो संयोग आत्मा में आता ही नहीं, संयोग तो आत्मा से भिन्न ही है; इसलिए प्रतिकूल संयोग वास्तव में आत्मा में हैं हीं नहीं। फिर सातवें नरक में बाह्यसंयोग जो अनन्त प्रतिकूल है, तथापि वहाँ भी अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव तत्त्वनिर्णय करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रतिकूलता आत्मकल्याण में कोई बाधा नहीं डालती।

जिसको आत्मा की जिज्ञासा जागृत हुई है और सच्चे देव-गुरु-निमित्तरूप में मिले हैं, उसको तत्त्वनिर्णय की अनुकूलता ही है, प्रतिकूलता किञ्चित भी नहीं है। तत्त्वनिर्णय करने के लिये सच्चे देव-गुरु अनुकूल हैं और अन्तर में अपना आत्मा अनुकूल है। जिसको सच्चे देव-गुरु निमित्तरूप से मिले और अन्तर में आत्मा की रुचि हुई, उसको तो सब अनुकूल ही है। अरे! उसे कुछ भी प्रतिकूलता बाधक नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-123, पौष 2480, पृष्ठ 54)

(116)

प्रश्न—जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसकी स्थिति क्या होती है?

उत्तर—जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसका चित्त 'वस्तुस्वरूप किस प्रकार होगा?'—ऐसे सन्देह से सदा डाँवाडोल अस्थिर बना रहता है और स्व-पर के भिन्न-भिन्न स्वरूप का उसे निश्चय न होने के कारण, परद्रव्य के कर्तृत्व की इच्छा से उसका चित्त सदा आकुलित बना रहता है। तथा परद्रव्य का उपभोग करने की बुद्धि से उसमें राग-द्वेष के कारण उसका चित्त सदा कलुषित बना रहता है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप के निर्णय बिना जीव का चित्त सदा डाँवाडोल और कलुषित रहने से, उसकी स्वद्रव्य में स्थिरता नहीं हो सकती। जिसका चित्त डाँवाडोल तथा कलुषित रूप से परद्रव्य में ही भटकता हो, उसे स्वद्रव्य में प्रवृत्तिरूप चारित्र कहाँ से होगा? - नहीं हो सकता। इसलिए जिसे पदार्थ के स्वरूप का निर्णय नहीं, उसे चारित्र नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक-194, मगसर 2485, पृष्ठ 5)

(117)

प्रश्न—वस्तु के स्वरूप का निश्चय किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर—वस्तु के स्वरूप का निश्चय इस प्रकार होना चाहिए कि ''इस जगत् में मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ तथा मुझसे भिन्न इस जगत् के जड़-चेतन समस्त पदार्थ मेरे ज्ञेय ही हैं। विश्व के पदार्थों के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध से विशेष मेरा अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है और न मैं किसी के कार्य को करता हूँ। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव-सामर्थ्य से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणमन कर रहा है, उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।''

जो जीव ऐसा निर्णय करे, वही पर के साथ सम्बन्ध तोड़कर उपयोग को निजस्वरूप में लगाता है, इसलिए उसी को स्वरूप में चरणरूप चारित्र होता है। इस प्रकार चारित्र के लिए प्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक-194, मगसर 2486, पृष्ठ 5)*

(118)

प्रश्न—न्याय और तर्क से तो यह बात जमती है, किन्तु अन्दर में जाने का साहस क्यों नहीं हो पाता ?

उत्तर—अन्दर में पहुँचने का जितना पुरुषार्थ होना चाहिए, उतना नहीं बन पाता; इसीलिए बाहर भटकता रहता है। अन्दर जाने की रुचि नहीं, इसलिए उपयोग अन्दर जाता नहीं। *(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 16-17)*

(119)

प्रश्न—वर्तमान में कर्मबन्धन है, हीनदशा है, रागादिभाव भी वर्तते हैं, तो ऐसी दशा में शुद्धात्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—रागादिभाव वर्ततान में वर्तते होने पर भी, वे सब भाव क्षणिक हैं, विनाशीक हैं, अभूतार्थ हैं, झूठे हैं। अत: उनका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली ध्रुव शुद्ध आत्मा का लक्ष्य करके आत्मानुभूति हो सकती है। रागादिभाव तो एक समय की स्थितिवाले हैं और भगवान आत्मा त्रिकाल टिकनेवाला अबद्धस्पष्टस्वरूप है।

इसलिए एक समय की क्षणिक पर्याय का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली शुद्ध आत्मा का लक्ष्य करते ही - दृष्टि करते ही आत्मानुभूति हो सकती है।

(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 22)

(120)

प्रश्न—ज्ञानी जीव सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है और सम्यक्त्व-सन्मुख जीव भी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है। उन दोनों की विधि का प्रकार एक ही है या उसमें कोई विलक्षणता है ?

उत्तर—ज्ञानी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है, उसे तो आत्मा का लक्ष्य हुआ है, आत्मा लक्ष्य में है और उसमें एकाग्रता का विशेष पुरुषार्थ करने पर विकल्प छूटकर निर्विकल्प होता है, परन्तु स्व-सन्मुख जीव को तो अभी आत्मा का लक्ष्य ही नहीं हुआ है, अत: उसने तो ज्ञान में ऊपर-ऊपर (धारणा) से ही जाना है, प्रत्यक्ष नहीं हुआ। विकल्प से आत्मा का लक्ष्य बाहर-बाहर हुआ है, उसको अन्दर पुरुषार्थ उग्र होने पर सविकल्पता छूटकर निर्विकल्पता होती है। (इस प्रकार निर्विकल्प होने की विधि का प्रकार एक होने पर भी, ज्ञानी ने तो वेदन से आत्मा जाना है और स्व-सन्मुखवाले ने बाहर-बाहर आनन्द के वेदन बिना आत्मा को जाना है)। *(आत्मधर्म, अंक-414, अप्रैल 1978, पृष्ठ 24)*

(121)

प्रश्न—विकल्प से निर्विकल्प होने में सूक्ष्म विकल्प रोकता है, उसका क्या करें ?

उत्तर—निर्विकल्प होने में विकल्प रोकता नहीं है। वास्तविकता यह है कि तू स्वयं अन्दर में ढ़लने योग्य पुरुषार्थ करता नहीं है, इसलिए विकल्प टूटता नहीं है। विकल्प को तोड़ना नहीं पड़ता, किन्तु स्वरूप में ढ़लने का पुरुषार्थ उग्र होने पर विकल्प सहज ही टूट जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-414, अप्रैल 1973, पृष्ठ 24)*

(122)

प्रश्न—सम्यक्त्व-सन्मुख जीव, तत्त्व के विचार में राग को अपना जानता है या पुद्गल का जानता है ?

उत्तर—सम्यक्त्व-सन्मुख जीव ऐसा जानता है कि राग है, वह मेरा अपराध है; राग मेरा स्वरूप नहीं, राग मैं नहीं,—ऐसा जानकर उसका लक्ष्य छोड़कर अन्दर में जाने का - आत्मानुभव करने का प्रयत्न करता है। *(आत्मधर्म, अंक-414, अप्रैल 1978, पृष्ठ 84)*

(123)

प्रश्न—दृष्टि का जोर कहाँ देने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होगा ?

उत्तर—ज्ञायक निष्क्रियतल के ऊपर दृष्टि स्थापित कर न ! पर्याय के ऊपर जोर क्यों देता है ? यह मेरी क्षयोपशम की पर्याय बढ़ी, यह मेरी पर्याय हुई – इस प्रकार पर्याय के ऊपर लक्ष्य देने से क्या काम बनेगा ? पर्याय के पलटते अंश में त्रिकाली वस्तु थोड़े ही आ जाती है ? अरे भाई ! त्रिकाली ध्रुवदल जो नित्यानन्द प्रभु है, उसके ऊपर दृष्टि का जोर दो न ! ज्ञानानन्द सागर की तरङ्गें उछलती हैं, उस पर लक्ष्य डालो न ! तरङ्गों को न देखकर आनन्द सागर के दल ऊपर दृष्टि डालो अर्थात् अनादि से क्षणिकपर्याय को ही लक्ष्य बना रहे हो, उसको छोड़ दो और त्रिकाली ध्रुव नित्य ज्ञायक दल के ऊपर दृष्टि को दृढ़ स्थापित करो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होगी।

(आत्मधर्म, अंक-424, फरवरी 1979, पृष्ठ 27)

(124)

प्रश्न—मोक्षमार्ग में धारणाज्ञान के बल से आगे नहीं बढ़ते तो किसके बल से आगे बढ़ते हैं ?

उत्तर—द्रव्यस्वभाव के बल से आगे बढ़ा जाता है। ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, द्रव्यभाव – इसकी तरफ पहले जोर आना चाहिए।*(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 21)*

(125)

प्रश्न—स्वानुभव मनजनित है या अतीन्द्रिय है ?

उत्तर—वास्तव में स्वानुभव में मन और इन्द्रियों का अवलम्बन नहीं है, इसलिए वह अतीन्द्रिय है परन्तु स्वानुभव के समय मति-श्रुतज्ञान विद्यमान है और वह मति-श्रुतज्ञान मन अथवा इन्द्रियों के अवलम्बन बिना होता नहीं, इस अपेक्षा से स्वानुभव में मन का अवलम्बन भी कहा गया है। वास्तव में जितना मन का अवलम्बन टूटा, उतना ही स्वानुभव है; स्वानुभव में ज्ञान अतीन्द्रिय है। *(आत्मधर्म, अंक-261, जुलाई 1965, पृष्ठ 28)*

(126)

प्रश्न—निर्विकल्प: अनुभूति में मन का सम्बन्ध छूट गया है, यह बात कितने प्रतिशत सत्य है ?

उत्तर—शतप्रतिशत सत्य है। वहाँ निर्विकल्पतारूप जो परिणमन है, उसमें तो मन का अवलम्बन किञ्चित्मात्र भी नहीं है, क्योंकि उसमें तो मन का सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है, परन्तु उस समय जो अबुद्धिपूर्वक राग का परिणमन शेष रह गया है, उसमें मन का सम्बन्ध है - ऐसा समझना। *(आत्मधर्म, अंक-262, अगस्त 1965, पृष्ठ 21)*

(127)

प्रश्न—अनुभव द्रव्य का है या पर्याय का ?

उत्तर—'अनुभव' में अकेला द्रव्य या अकेली पर्याय नहीं है, किन्तु स्वसन्मुख झुकी हुई पर्याय, द्रव्य के साथ तद्रूप हुई है, अत: द्रव्य-पर्याय के बीच में भेद नहीं रहा; ऐसी जो दोनों की अभेद अनुभूति—वह अनुभव है। द्रव्य और पर्याय के बीच में भेद रहे, तब तक निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। *(आत्मधर्म, अंक-262, अगस्त 1985, पृष्ठ 23)*

(128)

प्रश्न—जिस समय त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति होती है, उसी समय 'मैं आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ'—ऐसा ख्याल आता है क्या ?

उत्तर—निर्विकल्प अनुभूति के काल में आनन्द का वेदन है, किन्तु विकल्प नहीं है। जब निर्विकल्प से विकल्प में आता है, तब ख्याल में आता है कि आनन्द का अनुभव हुआ था, परन्तु आनन्द के अनुभवकाल में 'आनन्दानुभव करता हूँ'—ऐसा भेद नहीं है, वेदन है। *(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 28)*

(129)

प्रश्न—जिस प्रकार आम का स्वाद आत्मा को आता है; उसी प्रकार आत्मा के अनुभव का स्वाद कैसा होता है ?

उत्तर—आम तो जड़ है, अत: उस जड़ का स्वाद आत्मा को आता नहीं। आम

के मीठे रस का ज्ञान होता है और आम अच्छा है—ऐसी ममता के राग का दु:खरूप स्वाद आत्मा का आता है। आत्मा के अनुभव का जो अतीन्द्रिय आनन्द आता है, वह वचन अगोचर है; अनुभवगम्य है। *(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 17)*

(130)

प्रश्न—आप पर की पर्याय को परद्रव्य कहो, परन्तु स्व की निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य क्यों कहते हैं ?

उत्तर—परद्रव्य के लक्ष्य के समान निर्मल पर्याय के लक्ष्य से भी राग होता है, अत: उसे भी परद्रव्य कहा है। वह द्रव्य से सर्वथा भिन्न है, ऐसा जोर दिये बिना दृष्टि का जोर द्रव्य पर नहीं जाता; इसलिए निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य, परभाव तथा हेय कहा है। जिसे पर्याय का प्रेम है, उसका लक्ष्य परद्रव्य पर जाता है, इसलिए उसे प्रकारान्तर से परद्रव्य का ही प्रेम है, परम सत्यस्वभाव ऐसे द्रव्यसामान्य के ऊपर लक्ष्य जाना अलौकिक बात है। *(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 26)*

(131)

प्रश्न—इस आत्मा का स्वरूप विचार में आने पर भी प्रगट क्यों नहीं होता ?

उत्तर—इसके लिए योग्य पुरुषार्थ चाहिए। अन्दर में अपार शक्ति पड़ी है, उसका महात्म्य आना चाहिए। वस्तु तो प्रगट है ही, पर्याय की अपेक्षा से उसे अप्रगट कहा जाता है। वस्तु कहीं आवरण से आच्छादित नहीं है। हाँ, प्रथम वस्तु का माहात्म्य आना आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि भान हो तो माहात्म्य आवे; परन्तु ऐसा है नहीं। सर्व प्रथम माहात्म्य आना चाहिए, पश्चात् माहात्म्य आते-आते भान हो जाता है।

(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 26)

(132)

प्रश्न—आत्मा के भिन्न-भिन्न गुण ध्यान में आते हैं, तथापि अभेद ध्यान में क्यों नहीं आता ?

उत्तर—स्वयं ध्यान में लेता नहीं, इसलिए नहीं आता। अभेद को लक्ष्य में लेना

तो अन्तिम स्थिति है। निर्विकल्प होने पर ही अभेद आत्मा लक्ष्य में आता है।

(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1984, पृष्ठ 27)

(133)

प्रश्न—उसे लक्ष्य में लेना कठिन पड़ता है ?

उत्तर—धीरे-धीरे प्रयत्न करो! घबड़ाने जैसी बात नहीं है। अभेद आत्मा अनुभव में आ सकने योग्य है, इसलिए धीरे-धीरे प्रयास करना, निराश मत होना। ऐसे काल में ऐसी ऊँची बात सुनने को मिली है - यही क्या कम है ?।

(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1984, पृष्ठ 27)

(134)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन होने से पहले किस प्रकार के विचार होते हैं कि जिनका अभाव करके सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर—किस प्रकार के विचार चलते हैं, इसका कोई नियम नहीं है। तत्त्व के किसी भी प्रकार के विचार हो सकते हैं, जिनका अभाव करके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, पृष्ठ 27)

(135)

प्रश्न—परिचय किसका करना चाहिए ?

उत्तर—सत्स्वरूप ऐसे आत्मा का परिचय करना चाहिए। जितना जिसका परिचय होगा, उतनी ही उसकी परिणति होगी। राग का रसीला होकर जगत के जीवों का परिचय करेगा तो तेरी परिणति पतित हो जायेगी। जिनको शरीरादि का प्रेम है, पुण्य का प्रेम है, ऐसे लौकिकजनों का परिचय करेगा तो तेरी परिणति बिगड़ जायेगी। लोग मान-सम्मान तुझे समर्पित करेंगे तो उनके परिचय में तू मर जायेगा। स्त्री-पुत्रादि अथवा व्यापारादि के परिचय से तुझे विशेष हानि होगी। तू तो आनन्द का नाथ प्रभु है। तेरे परिचय में यदि वह रहेगा तो तुझे आनन्द और सुख प्राप्त होगा। जैसे जङ्गल में सिंह निर्भय होकर विचरता है, उसे हिरण आदि का भय नहीं होता; वैसे ही तू भी निर्भय होकर अपने स्वदेश में विचरण कर।

(आत्मधर्म, अंक-425, मार्च 1979, पृष्ठ 32-33)

(136)

प्रश्न—आत्मानुभव होने से पहले अन्तिम विकल्प कैसा होता है ?

उत्तर—अन्तिम विकल्प का कोई नियम नहीं है। राग से भिन्नतापूर्वक शुद्धात्मा की सन्मुखता का प्रयत्न करते-करते चैतन्य की प्राप्ति होती है। जहाँ त्रिकाली ज्ञायक-प्रभु की तरफ परिणति ढ़ल रही हो, ज्ञायकधारा की उग्रता और तीक्ष्णता हो, वहाँ अन्तिम विकल्प क्या होगा - इसका कोई नियम नहीं है। पर्याय को अन्दर गहराई में ध्रुव पाताल में ले जाये, वहाँ भगवान आत्मा की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन होता है।

(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 31)

(137)

प्रश्न—स्वानुभूति कैसे करना ?

उत्तर—राग की वृत्ति पर की तरफ जाती है, उसका लक्ष्य छोड़कर स्वसन्मुख झुके तो अनुभूति हो। *(आत्मधर्म, अंक-428, नवम्बर 1980, पृष्ठ 31)*

(138)

प्रश्न—विषय-कषाय की सतत् विडम्बना से छूटने का साधन क्या ?

उत्तर—विषय-कषाय का प्रेम छोड़ना, रुचि छोड़ना, विषय-कषाय के राग से चैतन्य का भेदज्ञान करना, वह विषय-कषाय की सतत् विडम्बना से छूटने का साधन है।

(आत्मधर्म, अंक-428, जून 1979, पृष्ठ 26)

(139)

प्रश्न—इस तत्त्व के संस्कार अगले भव में भी बने रहें—ऐसा कोई उपाय है क्या ?

उत्तर—हाँ, तत्त्व का पक्का निर्णय करे तो अगले भव में वह संस्कार काम आता है। *(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, टाईटल पृष्ठ 3)*

(140)

प्रश्न—विकल्पों से निर्विकल्पदशा की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

उत्तर—विकल्प से निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव की तरफ जायेंगे—ऐसा जो

मानता है, वह विकल्प को और निर्विकल्प तत्त्व को – दोनों को एक मानता है, अत: उसे विकल्प का ही अनुभव रहेगा, किन्तु विकल्प से छूटकर निर्विकल्प चैतन्य का अनुभव नहीं होगा। जो विकल्प को साधन के रूप में स्वीकार करता है, वह विकल्प का अवलम्बन छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकता अर्थात् विकल्प से पार ऐसा चैतन्यस्वभाव उसके अनुभव में नहीं आ सकता। भाई! चैतन्यमात्र और विकल्प – इन दोनों की जाति ही जुदी है।

चैतन्य में से विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती और विकल्प का प्रवेश चैतन्य में नहीं होता। इस प्रकार दोनों की अत्यन्त भिन्नता को अन्तरङ्ग से विचारकर चैतन्य की ही भावना में तत्पर रहो। चैतन्य में जैसे-जैसे निकटता होती जाती है, वैसे-वैसे विकल्पों का शमन होता जाता है, पश्चात् चैतन्य में लीन होने पर विकल्पों का सर्वथा लोप हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य में विकल्प नहीं है – ऐसे भिन्न चैतन्य का तुम तीव्र लगन से चिन्तवन करो। *(आत्मधर्म, अंक-255, जनवरी 1965, पृष्ठ 17-18)*

(141)

प्रश्न—अनुभूति में और ज्ञान में क्या अन्तर है ?

उत्तर—ज्ञान में तो सम्पूर्ण आत्मा जाना जाता है और अनुभूति में तो पर्याय का ही वेदन होता है, द्रव्य का वेदन नहीं होता। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 26)*

(142)

प्रश्न—आत्मा में अनन्त गुण हैं; उसे गुणभेद का लक्ष्य छोड़ने से निर्विकल्पता होती है, तो उन अनन्त गुणों का ज्ञान चला नहीं जाता ?

उत्तर—आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनका ज्ञान करके उनके भेद का लक्ष्य छोड़ने से ज्ञान चला नही जाता; भेद का विकल्प छूटकर दृष्टि अभेद होने से निर्विकल्पता में अनन्त गुणों का स्वाद आता है – अनुभव होता है।

समयसार की 7वीं गाथा की टीका में कहा है – अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया है, वहाँ 'पर्याय' शब्द से सहवर्ती गुण कहे हैं। समयसार की 294वीं गाथा की टीका में भी सहवर्ती गुणों को 'पर्याय' शब्द से कहा है। अनन्त गुणों को द्रव्य पी गया है अर्थात्

अनन्त गुणमय अभेदरूप एक अखण्ड आत्मा है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति अखण्ड अभेद एकरूप है। उसमें यह अशुद्ध पर्यायवाला आत्मा और यह शुद्ध पर्यायवाला आत्मा – इस प्रकार एकरूप आत्मा में दो भेद करना, वह कुबुद्धि है। एकरूप ज्ञायकभाव में यह बहिरात्मा और यह अन्तरात्मा – ऐसे भेद करता है, वह पर्यायबुद्धि है। शुद्ध निश्चयनय का विषय त्रिकाल शुद्ध एकरूप आत्मा, पर्यायरहित है, उसमें पर्याय-भेद करने का विकल्प करता है। (दृष्टि करता है), वह मिथ्यादृष्टि है।

(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 29)

(143)

प्रश्न—पर्याय के भेद जानने में तो आते हैं न?

उत्तर—पर्याय का यथायोग्य ज्ञान करना तो ठीक है, परन्तु जो शुद्ध अखण्ड अभेद आत्मा को पर्याय के भेदरूप मानता है, उसे कुबुद्धि कहा है। (नियमयसार कलश 261)

(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 25)

(144)

प्रश्न—पर्याय को द्रव्य से कथंचित् भिन्न कहा है न?

उत्तर—सम्पूर्ण द्रव्य को प्रमाणज्ञान से देखने पर पर्याय कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है – ऐसा कहा जाता है, परन्तु शुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव की अपेक्षा से देखने पर वास्तव में द्रव्य से पर्याय भिन्न ही है। पर्यायार्थिकनय से देखने पर पर्याय द्रव्य से अभिन्न है। प्रयोजन की सिद्धि के लिए तो पर्याय को गौण करके, अविद्यमान ही मानकर, त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ का आश्रय कराया है।

प्रमत्त पर्याय परद्रव्य के निमित्त से मलिन होती है – ऐसा तो कहा ही है, परन्तु अप्रमत्त पर्याय को भी परद्रव्य के संयोगजनित कह दिया है। औदयिकादि चार भावों को आवरणयुक्त कहा है। केवलज्ञान की क्षायिक पर्याय भी कर्मकृत (पञ्चास्तिकाय में) कही है, क्योंकि उसमें कर्म के अभाव की अपेक्षा आती है। चार भाव ज्ञायकस्वभाव में नहीं है, कर्म की अपेक्षा आने से उन्हें कर्मकृत कहा है।

भगवान के कहे हुए द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप का प्रतिपादन करने में समर्थ ऐसे द्रव्यलिङ्गी मुनि, द्रव्य-गुण-पर्यायादि में तो चित्त को लगाते हैं, परन्तु नित्यानन्द प्रभु निज कारणपरमात्मा में चित्त को कभी नहीं जोड़ते, इसलिए वे अन्यवश हैं। वे ऐसे विकल्पों के वश होने से अन्यवश हैं। जो द्रव्य-गुण-पर्याय के विकल्प में चित्त को लगाता है, वह विष का प्याला पीता है और जो नित्यानन्द निज कारणपरमात्मा में चित्त को लगाता है, वह अनाकुल आनन्दरस के प्याले पीता है। *(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 30)*

(145)

प्रश्न—अनादि के अज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले तो अकेला विकल्प ही होता है न ?

उत्तर—नहीं, अकेला विकल्प नहीं। स्वभाव तरफ ढ़लते हुए जीव को विकल्प होने पर भी उस समय 'आत्मस्वभाव की महिमा का लक्ष्य' भी काम करता है और उस लक्ष्य के बल पर ही वह जीव आत्मा की ओर आगे बढ़ता है; कहीं विकल्प के बल पर आगे नहीं बढ़ता। राग की ओर का जोर - झुकाव हानिगत होने लगा और स्वभाव की तरफ का जोर-झुकाव वृद्धिंगत होने लगा, वहाँ (सविकल्पदशा होने पर भी) अकेला राग ही काम नहीं करता, परन्तु राग के अवलम्बन बिना, स्वभाव की तरफ जोरवाला - झुकाववाला एक भाव भी अन्तरङ्ग में वहाँ कार्य करता है और उसी के बल पर आगे बढ़ता-बढ़ता पुरुषार्थ की कोई अपूर्व छलाँग लगाकर निर्विकल्प आनन्द का वेदन करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। *(आत्मधर्म, अंक-200, ज्येष्ठ 2486, पृष्ठ 24)*

(146)

प्रश्न—'विकार चारित्रगुण की पर्याय की योग्यता से होता है' तब तो फिर जब तक उसमें विकार होने की योग्यता रहेगी, तब तक विकार होता ही रहेगा और तब तक विकार टालना जीव के आधीन नहीं रहेगा ?

उत्तर—एक-एक समय की स्वतन्त्र योग्यता है - ऐसा निर्णय किस ज्ञान में हुआ ? त्रिकालीस्वभाव की तरफ ढ़ले बिना ज्ञान में एक-एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं हो सकता; और जहाँ ज्ञान त्रिकालीस्वभाव में ढला, वहाँ स्वभाव

की प्रतीति के बल पर पर्याय में से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय में लम्बे समय तक राग-द्वेष बने रहें— ऐसी योग्यता ही नहीं रहती, ऐसा ही सम्यक् निर्णय का बल है।

(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 251)

(147)

प्रश्न—वर्तमान पर्याय में तो अधूरा ज्ञान है, तो उस अधूरे ज्ञान में पूरे ज्ञानस्वभाव की खबर कैसे पड़े ?

उत्तर—जिस प्रकार आँख डेढ़ इंच की होने पर भी सारे शरीर को जान लेती है; उसी प्रकार पर्याय में ज्ञान का विकास अल्प होने पर भी, यदि वह ज्ञान स्वसन्मुख हो तो पूर्णज्ञानस्वरूपी आत्मा को स्वसंवेदन से जान लेता है। केवलज्ञान होने से पहले अपूर्णज्ञान में भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से पूर्णज्ञानस्वभावी आत्मा का नि:सन्देह निर्णय होता है। जैसे ज्ञान बाहर में स्थूल पदार्थों को जानने में अटक रहा है, वैसे ज्ञान को यदि अन्तर्मुख करो तो वह ज्ञान आत्मा को जानता है। जैसे शक्कर की अल्पमात्रा से सम्पूर्ण शक्कर के स्वाद का निर्णय हो जाता है, वैसे ही ज्ञान की अल्पपर्याय को अन्तर्मुख करने पर उसमें पूर्णज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। कोई ऐसा कहे कि - 'अधूरा ज्ञान, पूरे आत्मा को जान सकता है ? पूरा ज्ञान हो, तब ही पूरे आत्मा को जाने' - तो उसकी बात मिथ्या है। यदि अपूर्णज्ञान, पूर्ण आत्मा को न जान सके, तब तो कभी सम्यग्ज्ञान होगा ही नहीं। अपूर्णज्ञान भी स्वसन्मुख होकर पूर्ण आत्मा को जान लेता है तथा प्रतीति करता है; ऐसा ज्ञान और प्रतीति करे, तब ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है। *(आत्मधर्म, अंक-104, ज्येष्ठ 2478, पृष्ठ 165)*

(148)

प्रश्न—जिनागम में चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही ग्रहण करने के लिए कहा; परन्तु 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसा लक्ष्य में लेने पर भेद का विकल्प तो आये बिना रहता ही नहीं ? तो फिर विकल्परहित आत्मा का ग्रहण किस प्रकार करें ?

उत्तर—प्रथम भूमिका में गुण-गुणी भेद आदि का विकल्प आयेगा अवश्य; किन्तु आत्मा के चैतन्य लक्षण से उसे भिन्न जान कर अभेद चैतन्य की तरफ ढ़लना। भले

ही भेद बीच में आवे, परन्तु मेरे चैतन्य में तो भेद है नहीं – ऐसा जानना। ''चैतन्य अवस्था का मैं कर्ता, चैतन्य में से मैं करूँ, चैतन्य के द्वारा करूँ – इत्यादि षट्कारक-भेद के विचार भले आवें; परन्तु यथार्थपने छहों कारकों में चैतन्यवस्तु एक ही है, उस चैतन्य में कोई भेद नहीं है।''—इस भाँति चैतन्यस्वभाव की मुख्यता करक और भेद को गौण करके, स्वरूपसन्मुख होकर भावना करने पर ही चैतन्य का ग्रहण होता है; यही सम्यग्दर्शन है और इसी उपाय से मोक्ष होता है। *(आत्मधर्म, अंक-43, फाल्गुन 2474, पृष्ठ 66)*

(149)

प्रश्न—आप सत् समझने की इतनी महिमा गाते हैं, उससे लाभ क्या? हम तो व्रतादि करने में लाभ मानते हैं।

उत्तर—स्वभाव की रुचिपूर्वक जो जीव सत् समझने का अभ्यास करता है, उस जीव को क्षण-क्षण में मिथ्यात्वभाव मन्द पड़ता जाता है, एक समय भी समझने का प्रयत्न निष्फल नहीं जाता। अज्ञानी जीव व्रतादि में धर्म मानकर जो शुभभाव करता है, उसकी अपेक्षा सत् समझने के लक्ष्य से होनेवाला शुभभाव ऊँची जाति का है। व्रतादि में धर्म मानकर जो शुभभाव करता है, उसके तो अभिप्राय: में मिथ्यात्व पुष्ट होता जाता है, जबकि सत् समझने के लक्ष्य से प्रतिक्षण मिथ्यात्व हीन होता जाता है और जिसे सत् समझने में आ जाये, उसकी तो बात ही क्या?। *(आत्मधर्म, अंक-54, चैत्र 2474, पृष्ठ 85-86)*

(150)

प्रश्न—इस तत्त्व का स्वरूप अनुमानज्ञान से ख्याल में आता है परन्तु अनुभव से – ख्याल में नहीं आता – (ऐसा क्यों)?

उत्तर—प्रयोजनभूत नवतत्त्वों का स्वरूप पहले अनुमान से ख्याल में आता है, पश्चात् अनुभव होता है। प्रथम शकुन होता है, तत्पश्चात् ही उसका फल आता है न? उसी प्रकार प्रथम अनुमानज्ञान से ख्याल में आता है, पश्चात् अनुभव होता है।

(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 24)

(151)

प्रश्न—निर्मलपर्याय को तो अन्तर्लीन कहा है न?

उत्तर—वह तो स्वसन्मुख झुकी है, इसलिए उस पर्याय को अन्तर्लीन कहा है, परन्तु इतने मात्र से वह कहीं ध्रुव में मिल नहीं गई है। ध्रुव के आश्रय से द्रव्यदृष्टि प्रगट होने के पश्चात् चारित्र की शुद्धि भी पर्याय के आश्रय से नहीं होती। त्रिकाली अन्त: तत्त्व जो ध्रुव तल दल है, उसके आश्रय से ही चारित्र की शुद्धि होती है। यह वस्तुस्थिति है, भगवान की वाणी है।

यह उपदेश भेदज्ञान की पराकाष्ठा का है। प्रभु! निर्मल पर्याय बहिर्तत्व है, वह निर्मल पर्याय के आश्रय से टिके नहीं, बढ़े नहीं, वह तो अन्त: तत्त्व जो ध्रुवतत्त्व, उसके ही आश्रय से प्रगट होती है, टिकती है, बढ़ती है।

दया-दानदि के शुभपरिणाम तो मलिन बर्हितत्त्व हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम निर्मल बर्हितत्त्व हैं। द्रव्यदृष्टि तो एक शुद्ध अन्त: तत्त्व का ही अवलम्बन लेती है। *(आत्मधर्म, अंक-424, फरवरी 1979, पृष्ठ 32)*

(152)

प्रश्न—आत्मा परोक्ष है तो जानने में कैसे आवे?

उत्तर—आत्मा प्रत्यक्ष ही है। पर्याय अन्तर्मुख हो तो प्रत्यक्ष जानने में आता है। बहिर्मुख पर्यायवाले को आत्मा प्रत्यक्ष नहीं लगता - नहीं दिखता, परन्तु है वह प्रत्यक्ष ही, क्योंकि उसके सन्मुख ढ़लकर-झुककर देखे तो अवश्य जानने में आता है।

(आत्मधर्म, अंक-423, जनवरी 1979, पृष्ठ 28)

(153)

प्रश्न—नियमसारजी शास्त्र में ऐसा कहा कि आत्मा निरन्तर सुलभ है, इसका क्या अर्थ है।

उत्तर—नियमसार कलश 176 में कहा है कि आत्मा निरन्तर सुलभ है। आहाहा! आत्मा निरन्तर वर्तमान सुलभ है। वर्तमान सुलभ है—इसका तात्पर्य यह कि आत्मा

वर्तमान में ही है, उसका वर्तमान में आश्रय ले! भूतकाल में था और भविष्य में रहेगा— ऐसा त्रिकाल लेने पर उसमें काल की अपेक्षा आती है। इसलिए वर्तमान में ही त्रिकाली पूर्णानन्द नाथ पड़ा है, उसका वर्तमान में ही आश्रय लेना योग्य है - ऐसा कहते हैं।

(आत्मधर्म, अंक-433, नवम्बर 1979, पृष्ठ 28)

(154)

प्रश्न—स्वद्रव्य आदरणीय है, उसी प्रकार उसकी भावना रूप निर्मलपर्याय को भी आदरणीय कहें ?

उत्तर—हाँ; राग हेय है, उसकी अपेक्षा से निर्मलपर्याय को आदरणीय कहा जाता है। द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय व्यवहार है, अत: आश्रय योग्य नहीं होने से उसे हेय कहा जाता है। क्षायिकपर्याय को द्रव्य की अपेक्षा हेय कहा, परन्तु राग की अपेक्षा से क्षायिकभाव को आदरणीय कहा गया है। *(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 32)*

मनुष्यभव की दुर्लभता

आहा! सहज ज्ञायक निजतत्त्व को समझने का, निर्णय और अनुभव करने का मौका मनुष्यपने में मिला। जैसे चिन्तामणि की प्राप्ति दुर्लभ है, उसी प्रकार निगोद से निकलकर त्रसपर्याय की प्राप्ति भी अत्यन्त दुर्लभ है। एक शरीर में अनन्त जीव, उनके ज्ञान का उघाड़ अक्षर के अनन्तवें भाग, उनके दु:ख वे स्वयं वेदन करें और मात्र केवली जानें; एक श्वासप्रमाण काल में अठारह बार जन्म-मरण करे—ऐसे जीव अनन्त-अनन्त काल तक निगोद के भव में जन्म-मरण के दु:ख भोगते हैं। वहाँ से कोई जीव बाहर निकलकर चिन्तामणितुल्य दुर्लभ त्रसपर्याय पाता है। भाई! तुझे मनुष्यपना मिला, उसकी तुझे कीमत नहीं! मनुष्यपना, विषय और भोग के लिये नहीं, व्यापार-धन्धा और पाप के लिये नहीं है।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[4]

भेद-विज्ञान

(155)

प्रश्न—इष्टोपदेश में आता है कि जीव और देह को जुदा जानना ही बारह अङ्ग का सार है - इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—जीव और देह को—पुद्गल को जुदा जाने अर्थात् विकार भी आत्मा के स्वभाव से जुदा है, यह भी उसमें गर्भित है। पुद्गल से और विकार से भिन्न आत्मा के स्वभाव को जानना, अनुभव करना—वही द्वादशांग का सार है। द्वादशांग में आत्मानुभूति करने को कहा गया है। *(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 18-19)*

(156)

प्रश्न—भेदज्ञान का क्या अर्थ है ?

उत्तर—आत्मा उपयोगस्वरूप है, रागादि परभावों से भिन्न है—इस प्रकार उपयोग और रागादि को सर्व प्रकार से अत्यन्त भिन्न जानकर, राग से भिन्नत्वरूप, और उपयोग से एकत्वरूप ज्ञान का परिणमन भेदज्ञान है। *(आत्मधर्म, अंक-201, अषाढ़ 2486, पृष्ठ 12)*

(157)

प्रश्न—भेदज्ञानी क्या करता है ?

उत्तर—भेदज्ञानी धर्मात्मा अपने भेदज्ञान की शक्ति से निज महिमा में लीन होता है। वह रागरूप किञ्चितमात्र भी नहीं परिणमता, ज्ञानरूप ही रहता है।

(आत्मधर्म, अंक-201, अषाढ़ 2486, पृष्ठ 12)

(158)

प्रश्न—ज्ञानी को जैसे शरीर भिन्न दिखता है, वैसे रागादि भिन्न दिखते हैं क्या ?

उत्तर—ज्ञानी को रागादि, शरीर के जैसे ही भिन्न दिखते हैं, अत्यन्त भिन्न दिखते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 27)*

(159)

प्रश्न—शरीर को आत्मा से भिन्न कहा, यह तो ठीक है, जँचता भी है परन्तु राग, आत्मा से भिन्न है, यह जरा कठिन पड़ता है ?

उत्तर—चैतन्य में अन्दर गया अर्थात् पुण्य-पापभाव का साक्षी हो गया, तब वे भाव भिन्न हैं, काल से भिन्न है और क्षेत्र से भी भिन्न है; वस्तु भिन्न ही है, आत्मा तो अकेला ज्ञानघन चैतन्यपुञ्ज ही है। *(आत्मधर्म, अंक-421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 24)*

(160)

प्रश्न—सुख-दु:ख की कल्पना जीव में होती हुई दिखायी देती है, तथापि समयसार में उस कल्पना को पुद्गलद्रव्य का परिणाम क्यों कहा ?

उत्तर—सुख-दु:ख, हर्ष-शोक आदि जीव की पर्याय में होते हैं, परन्तु जिसको द्रव्यदृष्टि प्रकट हुई है—ऐसे ज्ञानी जीव की दृष्टि तो द्रव्य के ऊपर पड़ी है, उसकी दृष्टि आत्मा के आनन्द में है। अत: वह जीव सुख-दु:ख की कल्पना को कैसे भोगे ? इसलिए ज्ञानी के सुख-दु:ख के राग परिणाम को पुद्गल का परिणाम कहा है और इस सुख-दु:ख के परिणाम के आदि-मध्य और अन्त में अन्तव्यापक होकर पुद्गलद्रव्य उसको ग्रहण करता है; भगवान आत्मा उसको ग्रहण करता अथवा भोगता नहीं है। आत्मा का स्वरूप तो ज्ञायक है, कल्पना के सुख-दु:ख को भोगना उसका स्वरूप नहीं है। पर्याय में सुख-दु:ख की कल्पना होती है, किन्तु दृष्टिवन्त ज्ञानी उसका कर्ता-भोक्ता नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 30)

(161)

प्रश्न—धर्मात्मा रागरूप नहीं परिणममता-इसका अर्थ क्या ? उसे राग तो होता है न ?

उत्तर—राग होने पर भी उसे राग में एकत्वबुद्धि नहीं होती अर्थात् राग के साथ आत्मा की एकतारूप वह नहीं परिणमता, किन्तु राग से भिन्नपने ही परिणमता है। इसलिए कहा कि धर्मात्मा, रागरूप जरा भी नहीं परिणमता। *(आत्मधर्म, अंक-201, अषाढ़, पृष्ठ 12)*

(162)

प्रश्न—धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहता है - इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—भेदज्ञानी धर्मात्मा सर्व प्रसङ्गों में जानता है कि ज्ञान -स्वभाव ही मैं हूँ। चाहे जैसी प्रतिकूलता में घिर जाने पर भी अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा उसे कभी छूटती नहीं। इस भाँति सर्व प्रसङ्गों में अपने चैतन्यस्वभावरूप ही अनुभव करता रहने से धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहता है। *(आत्मधर्म, अंक-201, अषाढ़ 2486, पृष्ठ 12)*

(163)

प्रश्न—धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहता है और रागरूप बिल्कुल नहीं होता - यह किसका बल है ?

उत्तर—यह भेदविज्ञान का बल है। भेदविज्ञान की ऐसी शक्ति है कि वह ज्ञान को ज्ञानरूप ही रखता है, उसमें किञ्चित् भी विपरीतता आने नहीं देता और न रागदिभावों को ही उसमें प्रविष्ट होने देता है। इस प्रकार भेदविज्ञान का बल ज्ञान और राग को परस्पर एकमेक नहीं होने देता, अपितु भिन्न ही रखता है; इसीलिए भेदज्ञानी धर्मात्मा ज्ञानरूप ही रहता है, रागरूप जरा भी नहीं होता। *(आत्मधर्म, अंक-201, अषाढ़ 2486, पृष्ठ 12)*

(164)

प्रश्न—विकारभावों को आत्मा से अन्य क्यों कहा, जबकि वे आत्मा में ही होते हैं ?

उत्तर—आत्मा की अवस्था में जो राग-द्वेषादि विकारीभाव होते हैं, वे रूपी नहीं हैं और अजीव में भी नहीं होते। यद्यपि वे अरूपी हैं और आत्मा की ही अवस्था में होते हैं, तथापि द्रव्यदृष्टि में उन्हें आत्मा से अन्य वस्तु कहा गया है, क्योंकि आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा वे विकारभाव भिन्न हैं; अत: अन्यवस्तु हैं। वे विकारभाव शुद्धात्मा

के आश्रय से नहीं होते, जड़ के लक्ष्य से होते हैं। धर्मात्मा की दृष्टि आत्मा के शुद्धस्वभाव के ऊपर है और उस स्वभाव में से विकारभाव आते नहीं, इसलिए धर्मी उनका कर्ता नहीं होता। अत: उन्हें जड़ पुद्गलपरिणाम कहकर आत्मा से अन्यवस्तु कहा गया है। वे परिणाम न तो पुद्गल में होते हैं और न उन्हें कर्म ही कराते हैं, वे आत्मा की ही पर्याय में होते हैं, तथापि पर्यायबुद्धि छुड़ाने और शुद्धद्रव्य की दृष्टि कराने के लिए उन्हें आत्मा से अन्य कहा है, परन्तु उन्हें 'अन्य हैं'—ऐसा वही कह सकता है, जिसे शुद्धात्मा की दृष्टि हुई हो। अज्ञानी को तो विकार और आत्मस्वभाव की भिन्नता का भान ही नहीं है; इसलिए वह तो दोनों को एकमेक मानकर विकार का कर्ता होता है, विकार उसके लिए आत्मा से अन्य नहीं रहा। *(आत्मधर्म, अंक-107, भाद्रपद 2478, पृष्ठ 221)*

(165)

प्रश्न—आत्मा में राग-द्वेष होने पर भी 'वे राग-द्वेष मैं नहीं'—ऐसा उसी समय कैसे माना जाये ? राग-द्वेष के अस्तित्व के समय ही राग-द्वेष रहित ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा किस प्रकार हो सकती है ?

उत्तर—राग-द्वेष होते दिखायी देते हैं वह तो पर्यायदृष्टि है, उसी समय यदि पर्यायदृष्टि गौण करके स्वभाव की दृष्टि से देखो तो आत्मा का स्वभाव रागरहित ही है। उसकी श्रद्धा और अनुभव होता है। राग होने पर भी शुद्ध आत्मा को उस राग से रहित है ऐसा ज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा में एक ही गुण नहीं, परन्तु श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनन्त गुण हैं; राग-द्वेष होते हैं वह चारित्रगुण का विकारी परिणमन है और शुद्धात्मा को मानना वह श्रद्धा-गुण का निर्मल परिणमन है तथा शुद्धात्मा को जानना वह ज्ञान-गुण का निर्मल परिणमन है। इस प्रकार प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न-भिन्न कार्य करता है। चारित्र के परिणमन में विकारदशा होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान उसमें न झुककर त्रिकाली शुद्धस्वभाव में झुके, श्रद्धा की पर्याय ने विकाररहित पूर्ण आत्मा में झुककर उसे माना है और ज्ञान की पर्याय भी चारित्र के विकार का निषेध करके स्वभाव में झुकी है इसीलिए उसने भी विकाररहित शुद्ध आत्मा को जाना है।

इस प्रकार, चारित्र की पर्याय में राग-द्वेष होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान में स्वसन्मुख

झुकने पर शुद्ध आत्मा की श्रद्धा तथा ज्ञान होते हैं। यदि राग के समय रागरहित शुद्ध आत्मा का भान नहीं हो सकता हो तो किसी जीव को चौथा-पाँचवाँ-छठा इत्यादि गुणस्थान और साधकदशा ही प्रगट नहीं हो सकेगी और साधक भाव के बिना मोक्ष का भी अभाव सिद्ध होगा। *(आत्मधर्म, अंक-248, ज्येष्ठ 2480, पृष्ठ 10)*

(166)

प्रश्न—आत्मा और पर का सम्बन्ध नहीं है - यह समझने का प्रयोजन क्या?

उत्तर—पर के साथ सम्बन्ध नहीं अर्थात् परलक्ष्य से जो विकार होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है—इस प्रकार पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर तथा अपनी पर्याय का भी लक्ष्य छोड़कर अभेदस्वभाव की दृष्टि करना - यही प्रयोजन है।

(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 240)

(167)

प्रश्न—राग को जीव का कहें या पुद्गल का?

उत्तर—राग को जीव अपनी पर्याय में स्वयं करता है, अत: पर्यायदृष्टि से जीव का है। द्रव्यदृष्टि से जीवस्वभाव में राग है ही नहीं; अत: राग, जीव का नहीं; पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से पुद्गल का है। *(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 21)*

(168)

प्रश्न—एक खूँटे से बाँधकर रखिये न?

उत्तर—जिस अपेक्षा से कहा जाता है, उस अपेक्षा से खूँटा मजबूत ही है। राग को सर्वथा पर का ही माने तो कभी उसका अभाव नहीं हो सकेगा। अत: पहले राग स्वयं ही अपने अपराध से करता है, कर्म नहीं कराते; ऐसा निर्णय करके, फिर स्वभावदृष्टि कराने के लिए राग मेरा स्वरूप नहीं, औपाधिकभाव है - ऐसा कहा है। यहाँ राग को कर्मजन्म कहकर राग का लक्ष्य छुड़ाकर स्वभाव का लक्ष्य कराया है।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 21)

(169)

प्रश्न—समयसार गाथा 6 में समस्त अन्य द्रव्य के भावों से भिन्नपने उपासने में आता हुआ 'शुद्ध' कहा जाता है—ऐसा कहा। यहाँ विकार से भिन्न उपासने में आता है।—ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—अन्य द्रव्य के भावों से भिन्न उपासने पर विकार और पर्याय के ऊपर का भी लक्ष्य छूटकर स्वद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 29)*

(170)

प्रश्न—आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्तपने नहीं होता, इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर—आत्मा शुभ-अशुभरूप नहीं होता। यदि शुभ-अशुभरूप हो तो प्रमत्त-अप्रमत्तरूप हो, किन्तु शुद्धात्मा, शुभाशुभरूप से नहीं परिणमता; इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्तरूप से भी नहीं होता। अप्रमत्त सातवें गुणस्थान से तेरहवें तक है, उस पर्यायरूप आत्मा नहीं होता। आत्मा एकरूप ज्ञायकभाव स्वरूप है। शुभाशुभरूप नहीं होता, इसलिए प्रमत्तरूप नहीं होता और प्रमत्तरूप हो तो उसका अभाव करके अप्रमत्तरूप हो। आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त के भेदरूप नहीं होता। एकरूप ज्ञायकभाव स्वरूप ही है।

(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 29)

(171)

प्रश्न—राग-द्वेष को जीव की पर्याय कहा है और फिर उसी को निश्चय से पुद्गल का परिणाम भी कहा। अब हम क्या निश्चय करें ?

उत्तर—राग-द्वेष है तो जीव का ही परिणाम, किन्तु वह पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से और जीव का स्वभाव भाव न होने से तथा स्वभावदृष्टि कराने के प्रयोजन से, पुद्गल का कहा गया है; क्योंकि निमित्ताधीन होनेवाले भाव को निमित्त का भाव है, पुद्गल का भाव है—ऐसा कहने में आता है। *(आत्मधर्म, अंक-428, जून 1979, पृष्ठ 24)*

(172)

प्रश्न—प्रथम भूमिका में जिज्ञासु जीव, राग-द्वेष के भाव को अपना माने या पुद्गल का माने ?

उत्तर—रागादिभाव अपने में अपने अपराध से होते हैं—ऐसा जानकर, श्रद्धा में से निकाल दें, अर्थात् ऐसी श्रद्धा करे कि यह रागादि के परिणाम मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं। *(आत्मधर्म, अंक-421, जून 1977, पृष्ठ 24)*

(173)

प्रश्न—राग आत्मा का है या पुद्गल कर्म का ? (दोनों प्रकार के कथन शास्त्र में आते हैं। कृपया रहस्य बतलाइए ?)

उत्तर—वस्तु की सिद्धि करनी हो, तब राग व्याप्य है और आत्मा व्यापक है अर्थात् राग, आत्मा का है - ऐसा कहा जाता है। जब दृष्टि शुद्धचैतन्य की हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, तब निर्मलपर्याय व्याप्य और आत्मा व्यापक है। सम्यग्दृष्टि का जो राग है, वह व्याप्य और कर्म उसका व्यापक है अर्थात् सम्यग्दृष्टि का जो राग है, वह पुद्गल कर्म का कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी जीव दृष्टि अपेक्षा राग से भिन्न पड़ गया है, इसलिए उसके राग में कर्म व्यापता है—ऐसा कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-433, नवम्बर 1979, पृष्ठ 28)*

(174)

प्रश्न—ज्ञानी द्रव्यदृष्टि के बल से राग को पुद्गल का मानता है, परन्तु जिज्ञासु जीव, राग को पुद्गल का माने - यह ठीक है ?

उत्तर—हाँ, जिज्ञासु जीव भी वस्तु के स्वरूप का चिन्तवन करते समय राग को आत्मा का नहीं मानता, पुद्गल का ही मानता है। राग तो उपाधिभाव है, पराश्रय से उत्पन्न होने के कारण मेरा नहीं है, पुद्गल का है—ऐसा मानता है।

(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 20)

(175)

प्रश्न—राग पुद्गल का परिणाम है... पुद्गल का परिणाम है... ऐसा ही कहते रहेंगे तो राग का भय ही नहीं रहेगा (और फिर तो महादोष उत्पन्न होगा ?)

उत्तर—ऐसा नहीं होगा, राग की रुचि ही उत्पन्न नहीं होगी। राग की रुचि छोड़ने के लिए ही ऐसा जानना चाहिए कि राग पुद्गल का परिणाम है। भाई ! शास्त्र में कोई भी

कथन स्वच्छन्दता उत्पन्न करने के लिए नहीं किया है, वीतरागता उत्पन्न करने के लिए ही किया है। *(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 20)*

(176)

प्रश्न—भगवान की भक्ति आदि का शुभराग ज्ञानी को भी आता है और उस राग में पुद्गल ही व्याप्त होता है—ऐसा कहा जाता है; परन्तु यह बात बराबर जमती नहीं ?

उत्तर—भाई ! राग है तो जीव का परिणाम, परन्तु पर के लक्ष्य से होता है, जीव का स्वभाव नहीं है, उपाधिभाव है; अत: उससे निवृत्त होने के लिए उसे पुद्गलकर्म का कहा है। *(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 20-21)*

(177)

प्रश्न—राग आत्मा का नहीं तो क्या राग जड़ में होता होगा ?

उत्तर—राग, जीव का स्वाभाविक परिणाम नहीं है; इसलिए शुभाशुभराग को जड़ और अचेतन कहा है। राग, आत्मा का स्वरूप है ही नहीं, चैतन्यपुञ्ज कभी रागरूप हुआ ही नहीं। आत्मा के भान बिना अनन्तबार नववें ग्रैवेयक में गया, किन्तु सम्यग्दर्शन बिना लेशमात्र भी सुख नहीं पाया। अलिङ्गग्रहण के बोल में भी यति की क्रिया पञ्च महाव्रतादि का आत्मा में अभाव कहा है। समयसार गाथा 181 से 183 तक में भी कहा है कि ज्ञाननक्रियारूप आत्मा और क्रोधादिक्रियारूप आस्रव - ये दोंनों अत्यन्त भिन्न हैं। उनके प्रदेश भिन्न होने से दो वस्तुओं की सत्ता ही भिन्न-भिन्न है। बात यह है कि आस्रव के ऊपर से दृष्टि हटाना और द्रव्य के ऊपर दृष्टि देना—यहाँ यही अभीष्ट है। जहाँ तेरी वस्तु है नहीं, वहाँ से दृष्टि उठा ले और जहाँ तेरी वस्तु है, वहाँ दृष्टि डाल; तभी तुझे सुख और शान्ति मिलेगी। *(आत्मधर्म, अंक-399, जनवरी 1977, पृष्ठ 20-21)*

(178)

प्रश्न—क्या राग, आत्मा से भिन्न है और क्या यह निषेध करने योग्य भी है ?

उत्तर—हाँ; राग, आत्मा से भिन्न है; राग में ज्ञानगुण नहीं है और जिसमें ज्ञानगुण न हो, उसको आत्मा कैसे कहा जाये—इसलिए राग है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा की

शक्ति के निर्मल परिणाम से राग का परिणाम भिन्न है। आत्मा से भिन्न कहो या निषेध योग्य कहो – एक ही बात है। मोक्षार्थी को जैसे पराश्रित राग का निषेध है, उसी प्रकार पराश्रित ऐसे सर्व व्यवहार का भी निषेध ही है; राग और व्यवहार दोनों एक ही कक्षा में हैं—दोनों ही पराश्रित होने से निषेध योग्य हैं और उनसे विभक्त चैतन्य का एकत्वस्वभाव, वही परम आदरणीय है। *(आत्मधर्म, अंक-258, अप्रैल 1965, पृष्ठ 9)*

(179)

प्रश्न—ज्ञान में राग नहीं – ऐसा कहा, तो जीव को जहाँ तक राग होगा, वहाँ तक वह ज्ञानी नहीं हो सकेगा ?

उत्तर—भाई ! राग, ज्ञानी को अपने ज्ञानभाव से एकमेक नहीं भासता, किन्तु भिन्न ही भासता है अर्थात् ज्ञानी, राग में नहीं, किन्तु ज्ञानभाव में ही है—यह बात बराबर समझ में आवे तो पता लगे कि ज्ञानी क्या करता है ? राग के समय ज्ञानी, राग करता है अथवा ज्ञान करता है – इसका विवेक अज्ञानी को नहीं होता, क्योंकि उसे अपने राग और ज्ञान की भिन्नता का भान नहीं है। सम्यक्त्वी को राग होने पर भी उसी समय ज्ञान में ही एकत्वरूप परिणमन होने से और राग में एकस्वरूप परिणमन नहीं होने से वह ज्ञानी ही है।

(आत्मधर्म, अंक-193, कार्तिक 2486, पृष्ठ 6)

(180)

प्रश्न—वर्तमान में राग होने पर भी रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है ? जबतक हमारी पर्याय में राग विद्यमान हैं, तब तक रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो ? पहले राग छूट जाये, तब रागरहित स्वभाव की श्रद्धा हो।

उत्तर—ऐसे जो जीव राग को ही अपना स्वरूप मानकर सम्यक् श्रद्धा नहीं करते और पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभावदृष्टि से अपने रागरहित स्वरूप का अनुभव नहीं करते, उनसे आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव ! तू पर्यायदृष्टि से राग को तेरा स्वरूप मान रहा है, परन्तु पर्याय में राग होने पर भी, पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से देख, तो तेरे रागरहित स्वरूप का तुझे अनुभव होगा। जिस समय क्षणिकपर्याय में राग है, उसी समय रागरहित त्रिकालीस्वभाव भी साथ में पड़ा है; इसलिए पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभाव की प्रतीति

करने पर उस प्रतीति के बल पर, राग अल्पकाल में टल जायेगा। उस प्रतीति के बिना तो राग टलनेवाला है नहीं।

'पहले राग टल जाये तो मैं रागरहित स्वभाव की श्रद्धा करूँ'—ऐसा नहीं, परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि पहले तू रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कर तो उस स्वभाव की एकाग्रता के द्वारा राग टले।

'राग टले तो श्रद्धा करूँ' अर्थात् 'पर्याय सुधरे तो द्रव्य को मानूँ'—ऐसी मान्यतावाले जीव पर्यायदृष्टि हैं – पर्यायमूढ़ हैं। उन्हें स्वभावदृष्टि नहीं है और वे मोक्षमार्ग के क्रम को जानते नहीं हैं, क्योंकि वे सम्यक् श्रद्धा से पहले सम्यक्चारित्र करना चाहते हैं, परन्तु यदि पर्यायदृष्टि ही रखकर अपने को रागवाला मान लेगा तो राग दूर नहीं हो सकेगा। सम्यग्दृष्टि जीव अभिप्राय-अपेक्षा से वीतराग है और उसी अभिप्रायपूर्वक के विशेषपरिणमन से उसे चारित्र-अपेक्षा भी वीतरागता प्रगट हो जाती है।

पहले अभिप्राय-अपेक्षा से वीतरागता प्रगट हुए बिना किसी भी जीव को चारित्र-अपेक्षा से वीतरागता प्रगट नहीं हो सकती। जबतक राग रहेगा, तब तक श्रद्धा सम्यक् नहीं हो सकती – ऐसा जो मानता है, वह श्रद्धागुण और चारित्रगुण के कार्य को भिन्न न मानकर एक ही मानता है; उसको न तो श्रद्धा का स्वीकार है और न चारित्र का ही और ऐसी स्थिति में उसे सचमुच आत्मा का ही स्वीकार नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक-54, चैत्र 2474, पृष्ठ 83-84)*

(181)

प्रश्न—ज्ञान में राग को जाना जाता है, फिर भी ज्ञान से राग एकमेक हो गया हो – ऐसा क्यों लगता है ?

उत्तर—भेदज्ञान के अभाव से अज्ञानी, राग और ज्ञान की अति निकटता देखकर उन दोनों को एकमेक मान लेता है, परन्तु राग और ज्ञान का एकत्व है नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-405, जुलाई 1977, पृष्ठ 23)

(182)

प्रश्न — समयसार संवराधिकार की प्रारम्भिक गाथा 181 की टीका में कहा है

कि वास्तव में एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है। वहाँ यह भी कथन है कि जीव और राग के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। कृपा करके स्पष्टीकरण कीजिये?

उत्तर—वास्तव में एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है, इसलिए दोनों के प्रदेश भिन्न हैं। आत्मवस्तु से शरीरादि परद्रव्य तो भिन्न हैं ही, किन्तु यहाँ तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष के जो परिणाम हैं, वे भी निर्मलानन्द प्रभु - ऐसे आत्मा से भिन्नस्वरूप हैं। अत: पुण्य-पापभाव आत्मा के भाव से भिन्न हैं और भाव से भिन्न होने के कारण उनके प्रदेश भी भिन्न हैं। असंख्यप्रदेशी आत्मा है, उससे आस्रव के प्रदेश भिन्न हैं। ये हैं तो जीव के प्रदेश में ही, परन्तु निर्मलानन्द प्रभु असंख्यप्रदेशी ध्रुव है, उससे आस्रवभाव के प्रदेश भिन्न हैं। आत्मा और आस्रव को भाव से भिन्नता है, इसलिए उनके प्रदेश को भिन्न कहा और आत्मा के आश्रय से प्रकट हुई निर्मल पर्याय भी आस्रववस्तु से भिन्न कही गयी है। भाव से भिन्न होने के कारण उनके प्रदेश को भी भिन्न कहकर वस्तु भी भिन्न है—ऐसा कथन आचार्य ने किया है। *(आत्मधर्म, अंक-430, अगस्त 1979, पृष्ठ 24-25)*

(183)

प्रश्न—क्रोधादिभाव आत्मा से भिन्न वस्तु हैं—ऐसा कहा है। यहाँ क्रोधादिभाव को 'वस्तु' क्यों कहा?

उत्तर—क्रोधादिभाव को 'वस्तु' इसलिए कहा कि क्रोधादि अवस्था में वीतरागी अवस्था को नास्ति है, उस एक अवस्था में अन्य अनन्त अवस्थाओं की नास्ति है और उस अवस्था की स्वयंपने अस्ति है—ऐसा उसका अस्ति-नास्तिस्वभाव है, इसलिए वह भी वस्तु है। वह त्रिकाली द्रव्यरूप वस्तु नहीं है, क्षणिक पर्यायरूप वस्तु है। विकार विकारपने है, परन्तु स्वभावपने नहीं है, पूर्व और पश्चात् की अवस्थापने नहीं है, जड़कर्मपने नहीं है, अर्थात् अपने स्वरूप से उस विकार की अस्ति और दूसरे अनन्त पदार्थपने नास्ति है—इस प्रकार अनन्त धर्म उसमें सिद्ध हुए। एक द्रव्य ने अनन्त गुण और एक-एक गुण की अनन्त-अनन्त पर्यायें, उस एक-एक पर्याय में अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद और एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद अंश में दूसरे अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद अंशों की नास्ति है—इस प्रकार एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद अंश में अनन्त अस्ति-नास्ति धर्म हैं; इसलिए

क्रोधादिभावों को वस्तु कहा है। *(आत्मधर्म, खास अंक, द्वितीय अषाढ़ 2476, पृष्ठ 96)*

(184)

प्रश्न—रागादिक की तथा ज्ञान की उत्पत्ति एक ही क्षेत्र और एक ही समय में होती है, फिर इन दोनों की भिन्नता किस प्रकार है ?

उत्तर—जिस समय और जिस क्षेत्र में रागादिक की उत्पत्ति होती है, उसी समय और उसी क्षेत्र में ज्ञान की उत्पत्ति होती होने से अज्ञानी को भ्रम से वे दोनों एक ही प्रतीत होते हैं, परन्तु उन दोनों के स्वभाव भिन्न-भिन्न ही हैं, एक नहीं। बन्ध का लक्षण रागादि है और चैतन्य का लक्षण जानना है - ऐसे दोनों के लक्षण भिन्न हैं; रागादिक का चैतन्य के साथ एक ही समय और एक ही क्षेत्र में उपजना होता है; वह चेत्य-चेतक, ज्ञेय-ज्ञायकभाव की अति निकटता से होता है, किन्तु एक द्रव्यपने से कारण नहीं। जिस प्रकार प्रकाश में आते हुए घटपटादि पदार्थ दीपक के प्रकाशपने की प्रसिद्धि करते हैं, घटपटादि की नहीं; उसी प्रकार जानने में आते हुए रागादिकभाव, आत्मा के ज्ञायकपने की ही प्रसिद्धि करते हैं, रागादिक की नहीं। कारण कि दीपक का प्रकाश दीपक से तन्मय है; इसलिए प्रकाश, दीपक की प्रसिद्धि करता है। इसी प्रकार ज्ञान आत्मा से तन्मय होने से ज्ञान, आत्मा को प्रकाशित करता है - प्रसिद्ध करता है; रागादिक को नहीं। काम, क्रोधादिकभाव, ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे वास्तव में रागादिक को नहीं प्रकाशते, क्योंकि रागादि, ज्ञान में तन्मय नहीं है, किन्तु रागादिक से सम्बन्धित ज्ञान अपने ज्ञान को प्रकाशित करता है। चैतन्य स्वयं प्रकाशकस्वभावी होने से परसम्बन्धी अपने ज्ञान को प्रकाशता है, पर को प्रकाशित नहीं करता।

पहले कहा कि आत्मा पर को प्रकाशित करता है, वह व्यवहार से बात की थी; किन्तु वास्तव में देखा जाये तो आत्मा, परसम्बन्धी अपने ज्ञान को ही प्रकाशित करता है।

जगत की समस्त वस्तुएँ ज्ञानप्रकाश में आ नहीं जाती और ज्ञानप्रकाश भी जगत की वस्तुओं में चला नहीं जाता। जगत की वस्तुयें हैं, उन सम्बन्धी अपनी पर प्रकाशकता ज्ञानप्रकाश को ही प्रकाशित करती है। इससे सिद्ध हुआ कि बन्धस्वरूप रागादि का और प्रकाशस्वरूप ज्ञान का लक्षण भिन्न होने से उनमें परस्पर एकत्व नहीं है। उन दोनों के

स्वलक्षण भिन्न-भिन्न जानकर भगवती प्रज्ञाछैनी को उन दोनों की अन्तरङ्गसन्धि में पटकने से अर्थात् ज्ञान को आत्मा के सन्मुख करने से राग से भिन्न चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। *(आत्मधर्म, अंक-436, फरवरी 1980, पृष्ठ 25-26)*

(185)

प्रश्न—क्या भावलिङ्ग भी जीव का स्वरूप नहीं है ?

उत्तर—द्रव्यलिङ्ग तो, सर्वथा ही जीव का स्वरूप नहीं और भावलिङ्ग जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्ध निर्मल पर्याय है और पूर्ण स्वरूप - ऐसे मोक्ष का साधक है, वह भी उपचार से जीव का स्वरूप कहा गया है; परमार्थ सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। साधक पर्याय को द्रव्य की है, ऐसा उपचार से कहा गया है। देहादि अथवा रागादि तो जीव के हैं ही नहीं, परन्तु यहाँ तो भावलिङ्ग की पर्याय, जो मोक्ष की साधक है, उसे भी जीव की है—ऐसा उपचार से कहा गया है। पर्याय का लक्ष्य छुड़ानेवाली, भेदज्ञान की पराकाष्ठा को छूनेवाली परमात्मप्रकाश की 88 वीं गाथा में यह बात कही है। ध्रुव-स्वभाव के सन्मुख जो ध्यान की अकषाय साधकपर्याय प्रगट होती है, वह भी उपचार से जीव का स्वरूप है, परमार्थ से तो त्रिकाली ध्रुव-स्वभाव ही जीव का स्वरूप है —ऐसी बात तो किसी भाग्यशाली के ही कर्णगोचर होती है।

(आत्मधर्म, अंक-397, नवम्बर 1976, पृष्ठ 27)

(186)

प्रश्न—एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि परद्रव्य को भोगते हुए भी बँधता नहीं और दूसरी ओर कहते हैं कि जीव परद्रव्य को भोग नहीं सकता - तो दोनों में से सत्य किसे मानें ?

उत्तर—ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव, परद्रव्य को नहीं भोग सकता, परन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं परद्रव्यों को भोग सकता हूँ; अत: यहाँ अज्ञानी की भाषा में अर्थात् व्यवहार से कहते हैं कि परद्रव्यों को भोगते हुए भी ज्ञानी बँधत नहीं है, क्योंकि ज्ञानी को राग में एकत्वबुद्धि नहीं है। अत: परद्रव्य को भोगते हुए भी ज्ञानी को बन्ध नहीं होता — ऐसा कहते हैं।

ज्ञानी को चेतन द्रव्यों का घात होते हुए भी बन्ध नहीं होता - इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्वच्छन्द होकर परजीव का घात होने में नुकसान नहीं। इसका आशय यह है कि जिसे राग की रुचि छूट गयी है और आत्मा के आनन्द का भान और भेदन वर्तते हुए भी निर्बलता से राग आता है तथा चारित्रदोष के निमित्त से होनेवाले चेतन के घात से जो अल्प बन्ध होता है, उसे गौण करके 'ज्ञानी को बन्ध नहीं होता'—ऐसा कहा है, परन्तु जिसे राग की रुचि है और मैं परद्रव्य को मार सकता हूँ, भोग सकता हूँ—ऐसी रुचिपूर्वक भाव में (राग में) एकत्वबुद्धि होने से हिंसाकृत बन्ध अवश्य होता है।

परसन्मुखता से होनेवाले परिणाम को एकत्वबुद्धि की अपेक्षा अध्यवसान कहकर बन्ध का कारण कहा है। पर में एकत्त्वबुद्धि हुए बिना जो राग होता है, उसे भी अध्यवसान कहते हैं, परन्तु उसमें मिथ्यात्त्व का बन्ध नहीं होता, अल्प राग का बन्ध होता है, उसे गौण करके, 'बँध नहीं होता'—ऐसा कहते हैं। स्वभावसन्मुख परिणाम को भी स्वभाव में एकत्वरूप होने से अध्यवसान कहते हैं, परन्तु वह अध्यवसान मोक्ष का ही कारण है।

जो देव-शास्त्र-गुरु और धर्म का स्वरूप वास्तविकरूप से समझे, उसे सम्यग्दर्शन होता ही है। ऐसे संस्कार लेकर कदाचित् अन्य भव में चला जाय तो वहाँ भी यह संस्कार फलेगा। *(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 17-18)*

(187)

प्रश्न—भेदज्ञान करते समय किसकी मुख्यता करनी चाहिए? पर से भेदज्ञान करना या द्रव्य-पर्याय से भेदज्ञान करना, या ज्ञेय से भेदज्ञान करना?

उत्तर—यह सब एक ही है। भेदज्ञान का अभ्यास करते समय विचार तो सभी आते हैं, परन्तु जोर अन्दर का आना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 21)*

(188)

प्रश्न—अज्ञानी जिज्ञासु जीव, स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान करने का प्रयत्न करता है, किन्तु स्वभाव को देखे बिना स्वभाव से विभाव भिन्न कैसे होगा?

उत्तर—यदि पहले से ही जिज्ञासु जीव ने स्वभाव को देखा हो, तब तो भेदज्ञान

करना कहाँ रहा ? जिज्ञासु जीव को पहले अनुमान से निर्णय करना है कि यह पर की ओर झुकने का भाव, विकल्प है, उस विभाव में आकुलता है—दु:ख और अन्तर्लक्षीभाव में शान्ति है। इस प्रकार वह स्वभाव का प्रथम अनुमान से निश्चय करता है।

(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 22)

(189)

प्रश्न—धर्म का मर्म क्या है ?

उत्तर—आत्मा अपने स्वभाव-सामर्थ्य से पूर्ण है और पर से अत्यन्त भिन्न है - ऐसी स्व-पर की भिन्नता को जानकर स्वद्रव्य के अनुभव से आत्मा शुद्धता प्राप्त करता है—यही धर्म का मर्म है। *(आत्मधर्म, अंक-262, अगस्त 1965, पृष्ठ 22-23)*

(190)

प्रश्न—परलक्ष्यी ज्ञान से तो आत्मा जानने में आता नहीं और अनादि मिथ्यादृष्टि के स्वलक्षी ज्ञान है नहीं, तो साधन क्या ?

उत्तर—राग से भिन्न पड़ना, वह साधन है। प्रज्ञाछैनी को साधन कहो अथवा अनुभूति को साधन करो - यह एक ही साधन है।*(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 22)*

(191)

प्रश्न—राग और आत्मा की सूक्ष्म सन्धि दिखलाई नहीं पड़ती, अन्य विचार आते रहते हैं तो प्रज्ञाछैनी कैसे पटकें ?

उत्तर—स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करता है, इसलिए अन्य विचार आते हैं। पुरुषार्थ करके उपयोग को स्वभावसन्मुख सूक्ष्म करे तो आत्मा और बन्ध की सन्धि अवश्य दृष्टिगोचर हो और दोनों को भिन्न कर सके। *(आत्मधर्म, अंक-436, फरवरी 1980, पृष्ठ 26)*

(192)

प्रश्न—आत्मा और बन्ध को भिन्न करने का साधन क्या ?

उत्तर—आत्मा और बन्ध को भिन्न करने में भगवतीप्रज्ञा ही एक साधन है। राग से भिन्न स्वभावसन्मुख झुकाव करना, एकाग्रता करना, ढ़लना - यही एक साधन है। राग

से भिन्न पड़ने में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई साधन है ही नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1977, पृष्ठ टाईटल-3)

(193)

प्रश्न—आत्मा लिख नहीं सकता—ऐसा ज्ञानी को बराबर भान है, फिर भी 'मैं लिखूँ'—ऐसा विकल्प उन्हें क्यों उठता है ? जिस प्रकार नभकुसुम तोड़ने का अथवा वन्ध्यापुत्रहनन का भाव ज्ञानी-अज्ञानी किसी को भी नहीं आता; क्योंकि वह असत् है। इसी प्रकार लिखने की क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता-ऐसा ज्ञानी जानते हैं, तथापि लिखने का भाव क्यों आता है ?

उत्तर—ज्ञानी के अन्तर में ज्ञान और राग का भेदज्ञान वर्तता है। उसे तो राग की भी कर्तत्वबुद्धि नहीं है, तो फिर देहादिक्रिया की, लेखनादिक्रिया की कर्तृत्वबुद्धि कैसे हो सकती है ? ज्ञान और राग का भिन्न अनुभव किये बिना 'ज्ञानी का अन्तर क्या कार्य कर रहा है'—उसका ज्ञान; अज्ञानी नहीं कर सकता। अत: प्रथम ज्ञानस्वभाव और रागादि को भेदज्ञान द्वारा भिन्न जानना चाहिए। यह जानने के बाद 'ज्ञानी को लेखनादि का विकल्प क्यों उठता है'—यह प्रश्न ही नहीं उठता।

ज्ञानी की दृष्टि ही पर और राग के ऊपर से हट गयी है, अत: उसे अस्थिरता के अल्प राग में ऐसा जोर ही नहीं आता कि जिससे कर्तृत्वबुद्धि उत्पन्न हो।

वास्तव में उसके ऐसी भावना ही नहीं कि 'मैं करूँ', उसके तो 'मैं जानूँ'—ऐसी ही भावना है। स्वयं को तीन काल का ज्ञान वर्तमान में नहीं है और अभी राग की योग्यता मिटी नहीं है; इसलिए विकल्प उत्पन्न हुआ है; परन्तु ज्ञानी उस विकल्प और पर की क्रिया का जाननेवाला ही है, राग का विकल्प तो पराश्रय से उत्पन्न होता है, और राग के अनेक प्रकार हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के राग के समय भिन्न-भिन्न परद्रव्यों का आश्रय होता है। जबकि बोलने या लिखने के लक्ष्य से राग हुआ, तब ऐसा विकल्प हुआ कि मैं लिखूँ। पराश्रित राग में उस प्रकार का विकल्प उठता है, परन्तु ज्ञान में ऐसी मान्यता नहीं है कि मैं बोल या लिख सकता हूँ। इससे सिद्ध होता है कि राग, आत्मा का स्वभाव नहीं है, ज्ञानी के ज्ञान और विकल्प दोनों भिन्न-भिन्न हैं। *(आत्मधर्म, अंक-79, वैशाख-2476, पृष्ठ 128)*

(194)

प्रश्न—इस भेदज्ञान की भावना कब तक करनी चाहिए?

उत्तर—जब तक ज्ञान-ज्ञान में ही न ठहर जाये, तब तक अच्छिन्न धारा से भेदज्ञान माना। पहले पर से भिन्न शुद्धात्मा की भावना करते-करते ज्ञान के ज्ञान में ठहरने पर रागादि से भिन्न-होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भी पर से भिन्न-ऐसे शुद्धात्मा की सतत् भावना करते-करते केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है; अत: केवलज्ञान होने तक अच्छिन्न धारा से भेदज्ञान की भावना करना चाहिए। इस भेदज्ञान की भावना को रागरूप मत समझना, अपितु शुद्धात्मा के अनुभवरूप समझना।

(आत्मधर्म, अंक-201, अषाढ़ 2486, पृष्ठ 12)

(195)

प्रश्न—एक ओर तो कहते हैं कि ज्ञानी को भोग निर्जरा का कारण है और दूसरी ओर कहते हैं कि शास्त्र की ओर जानेवाला लक्ष्य शुभराग होने से बन्ध का कारण है। (यहाँ प्रश्न है कि जब शास्त्रलक्ष्यी शुभराग भी बन्ध का कारण है) तो फिर भोग भोगनेरूप अशुभराग निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है?

उत्तर—ज्ञानी के ज्ञान का अचिन्त्य माहात्म्य बताने के लिए भोग को निर्जरा का कारण कहा है, (भोग की पुष्टि के लिए नहीं।) समयसार में (कलश 150 में) कहते हैं कि हे ज्ञानी! तू परद्रव्य के भोग को भोग - ऐसा कहकर आचार्यदेव कहीं भोग भोगने की प्रेरणा नहीं दे रहे हैं, अपितु उनके कहने का आशय यह है कि इस जीव को परद्रव्य के कारण किञ्चित् भी बन्ध नहीं होता। शास्त्र में जहाँ जिस आशय से, अभिप्राय से कथन किया हो, वहाँ उसी अभिप्राय से समझना चाहिए। यह तो अलौकिक बात है।

(आत्मधर्म, अंक-399, जनवरी 1977, पृष्ठ 17)

(196)

प्रश्न—संयमलब्धिस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है तो वहाँ सरागसंयम लेना या वीतरागसंयम?

उत्तर—संयम सराग होता नहीं। वीतरागी संयम है, शुद्धपर्याय है, परन्तु यह भेद

पड़ता है और उसके ऊपर लक्ष्य देने से राग होता है, इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। जीव तो एकरूप अखण्ड है; उसमें भेद करने पर जितने परिणाम जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान के हों; वे सब पुद्गल की रचना है, जीव की नहीं—ऐसा निस्सन्देह जानों। *(आत्मधर्म, अंक-409, फरवरी 1977, पृष्ठ 17)*

(197)

प्रश्न—उपयोग को कितना गहरा ले जाने से आत्मा के दर्शन होते हैं-आत्मा प्राप्त होता है ?

उत्तर—उपयोग पर में-बाहर में जाता है, उसे अन्दर स्व में ले जाना है। उपयोग को स्व में ले जाना, उसे गहरा ले जाना कहा है। गहरा अर्थात् आगे-दूर ले जाना नहीं परन्तु अन्दर-स्व में ले जाना है। उपयोग स्व में ढलने पर-झुकने पर आत्मा के दर्शन होते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-418, मई 1978, पृष्ठ 46)*

(198)

प्रश्न—क्या आत्मा और राग का भेदज्ञान करना अशक्य है ?

उत्तर—आत्मा और राग की सन्धि अतिसूक्ष्म है, बहुदुर्लभ है, दुर्लभ है, तथापि अशक्य तो नहीं। ज्ञानोपयोग को अतिसूक्ष्म करने पर वह आत्मा लक्ष्य में आ सकता है। पञ्च महाव्रत के परिणाम अथवा शुक्ललेश्यारूप कषाय की मन्दता के परिणाम अतिसूक्ष्म अथवा दुर्लभ नहीं है; किन्तु आत्मा अतिसूक्ष्म है, अत: उपयोग को अतिसूक्ष्म करने से आत्मा अनुभव में आता है। *(आत्मधर्म, अंक-415, मई 1978, पृष्ठ 46)*

(199)

प्रश्न—स्वद्रव्य को परद्रव्य से भिन्न देखो - ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है। कृपया इसका कुछ विस्तृत विवेचन कीजिए ?

उत्तर—देह-मन-वाणी तथा स्त्री-पुत्रादि तो परद्रव्य होने से भिन्न हैं ही, किन्तु देव-शास्त्र-गुरु भी परद्रव्य होने से आत्मा से भिन्न ही हैं—ऐसा देखो। एक द्रव्य, अन्य द्रव्य का कुछ भी कर सकता नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव चमत्कारिक है। एक

रजकण दूसरे रजकण का कार्य किञ्चित्मात्र भी नहीं कर सकता। लकड़ी हाथ से ऊँची उठी नहीं अथवा कलम से अक्षर लिखे नहीं गये, कारण कि एक द्रव्य, अन्य द्रव्य से भिन्न है। स्वद्रव्य और पर-द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखने में द्रव्य की प्रभुता है।

(आत्मधर्म, अंक-414, अप्रैल 1978, पृष्ठ 22)

(200)

प्रश्न—परमात्मा होने के लिए ज्ञानियों ने शास्त्रों में क्या कहा है ?

उत्तर—सर्व शास्त्रों के सार में ज्ञानियों ने पर और विकार से भिन्न इस ज्ञानानन्द चैतन्यरत्न को ही पहिचानने के लिए कहा है। पूर्वप्रारब्धानुसार जो संयोग-वियोग होते हैं, वे चैतन्य नहीं और वह प्रारब्ध भी आत्मा का नहीं तथा जिस भाव से प्रारब्ध बँधा, वह भाव भी आत्मा नहीं है। शरीरादि संयोग से भिन्न - ऐसे चैतन्य-स्वरूप, भगवान आत्मा का भान करे तो परमात्मा बनता है और फिर कभी वह संसार में अवतरित नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक-77, फाल्गुन 2476, पृष्ठ 93)

(201)

प्रश्न—आत्मा मात्र जाननेवाला ही है—ऐसा आपने कहा। अब इसमें करने के लिए रह ही क्या गया है ?

उत्तर—अरे भाई ! इसमें तो अपार करने के लिए है। देहादि परद्रव्य की तरफ जो लक्ष्य जाता है, उस लक्ष्य को, जाननेवाला ऐसा जो अपना आत्मा, उस आत्मा को जानने में उपयोग को लगाना है। आत्मा को जानने में तो अनन्त पुरुषार्थ आता है।

(आत्मधर्म, अंक-439, मई 1980, पृष्ठ 30)

(202)

प्रश्न—परपदार्थ बन्ध के कारण नहीं हैं तो उनके सङ्ग का निषेध क्यों किया जाता है ?

उत्तर—अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्य वस्तु का निषेध किया जाता है। यद्यपि बन्ध के कारण तो जीव के परिणाम ही हैं, बाह्य वस्तु नहीं, परन्तु बाह्य वस्तु के

आश्रय से होनेवाले अध्यवसान को छुड़ाने के लिए उसके आश्रयभूत बाह्य वस्तु का निषेध किया जाता है। बाह्य वस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान नहीं होते; अत: अध्यवसान का निषेध करने के लिए बाह्य वस्तु के सङ्ग का निषेध करते हैं, बाह्य वस्तु का लक्ष्य छुड़ाते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 17)*

(203)

प्रश्न—स्वद्रव्य क्या है और परद्रव्य क्या है ? मोक्षार्थी जीव को किसे अङ्गीकार करना ?

उत्तर—प्रत्यक्ष में बाह्य और भिन्न दिखनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मकानादि तथा एकक्षेत्रावगाही सम्बन्धवाले शरीर और अष्टकर्म तो परद्रव्य हैं ही; इनके अतिरिक्त जीव-अजीवादि सातों तत्त्वों के सम्बन्ध में उठनेवाले विकल्प भी पर हैं तथा इन सात तत्त्वों के विकल्पों से अगोचर जो शुद्ध अभेद आत्मस्वरूप है; वही एक स्वद्रव्य है, वही जीव है और एक वही अङ्गीकार करने योग्य है। शुद्धजीव को अङ्गीकार करने से शुद्धभाव प्रगट होता है। अङ्गीकार करने का अर्थ है - उसी शुद्धजीव की श्रद्धा करना, उसी का ज्ञान करना और उसी में लीन होना। *(वीतराग-विज्ञान (हिन्दी), अप्रैल 1984, पृष्ठ 9)*

(204)

प्रश्न—स्वयं ही अपना ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता है तो अन्य छह द्रव्य ज्ञेय और स्वयं उनका ज्ञाता है; यह ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध छोड़ना अशक्य क्यों कहा ?

उत्तर—छह द्रव्य तो ज्ञेय और स्वयं उनका ज्ञाता है, इस ज्ञेय-ज्ञायक के सम्बन्ध को छोड़ना अशक्य कहा है, सो वहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है, किन्तु यहाँ तो स्व-अस्तित्त्व में रहनेवाला स्वयं ही ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता है—इस प्रकार निश्चय बतलाकर पर का लक्ष्य छुड़ाया है। *(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 27)*

(205)

प्रश्न—क्या ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धी भ्रम भी जीव को रहता है ?

उत्तर—हाँ, जीव से भिन्न पुद्गलादि छह द्रव्य ज्ञेय और आत्मा उनका ज्ञायक—

ऐसा निश्चय से नहीं है। अरे! राग ज्ञेय और आत्मा उसका ज्ञायक—ऐसा भी नहीं है। परद्रव्यों से लाभ तो है ही नहीं; किन्तु परद्रव्य ज्ञेय और उनका तू ज्ञाता—ऐसा भी वास्तव में नहीं है। 'मैं जाननेवाला हूँ, मैं ही जानने योग्य हूँ, मैं ही मुझे जानता हूँ, अपने अस्तित्व में जो है, वही स्वज्ञेय है।'—इस प्रकार परमार्थ बतलाकर पर-तरफ का लक्ष्य छुड़ाया है।

(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 27)

(206)

प्रश्न—'ज्ञेय-ज्ञायकपने का निर्दोष सम्बन्ध धर्मात्मा का होता है।' कृपया समझाइए?

उत्तर—शरीर-मन-वाणी परवस्तुएँ हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं; इसलिए 'उनकी अनुकूल क्रिया हो तो मुझे ठीक और प्रतिकूल क्रिया हो तो मुझे अठीक'—ऐसे उनके प्रति मुझे कोई पक्षपात नहीं है। मेरे ज्ञान की उग्रता के पास विकार जल जाए - ऐसा चैतन्य ज्योति ही मेरा स्वभाव है—इस प्रकार प्रथम अपने स्वभाव की पहचान करना चाहिए। दर्शनशुद्धि के बिना ज्ञान-चारित्र या व्रत-तप तीन काल में नहीं होते।

धर्मात्मा जानता है कि मैं तो एक ज्ञाता हूँ और ये शरीरादि सब पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। मैं ज्ञाता और ये ज्ञेय—इसके अलावा अन्य कोई सम्बन्ध हमारा इनके साथ नहीं है। जिस प्रकार जननी के साथ पुत्र का मातारूप निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी अटपटे सम्बन्ध की कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकती; उसी प्रकार मैं चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञायक हूँ और सारे पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं, इस ज्ञेय-ज्ञायकरूप निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मेरा परद्रव्य के साथ स्वप्न में भी नहीं है; मेरा तो उनके साथ मात्र जाननेमात्र का ही सम्बन्ध है।

जैसे अन्धकार में कोई पुरुष किसी को भ्रम से अपनी स्त्री समझकर विकारपूर्ण भाव से उसके समीप गया, तत्काल विद्युत प्रकाश में उसका अवलोकन होते ही ज्ञान हुआ कि यह तो मेरी माता है, वहाँ तब तुरन्त ही उसकी वृत्ति पलट जाती है कि अरे! यह तो मेरी जननी है। जननी की पहिचान होते ही विकारवृत्ति पलटी और माता-पुत्र के सम्बन्धरूप निर्दोषवृत्ति जागृत हुई। वैसे ही अज्ञानदशा में परवस्तु को अपनी मानकर उसमें इष्टानिष्ट कल्पना करता था और कर्ता-भोक्ता का भाव करके विकाररूप परिणमता था, किन्तु

ज्ञानप्रकाश होने पर भान हुआ कि अहो! मेरा तो ज्ञायकस्वभाव है और इन पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव है—ऐसा निर्दोष ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का भान होते ही धर्मी को विकारभाव का नाश होकर निर्दोष ज्ञायकभाव प्रगट होता है। अभी अस्थिरता का राग-द्वेष होने पर भी धर्मी की रुचि पलट गयी है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप सबका जाननेवाला हूँ, अन्य पदार्थों के साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक स्वभावरूप सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-76, माह 2476, पृष्ठ 69)

(207)

प्रश्न—प्रभु! मैं संसाररोग से पीड़ित रोगी हूँ। इस रोग को मिटानेवाले आप जैसे वैद्य के पास आया हूँ। (कोई अमोध उपाय बतलाइए?)

उत्तर—कोई रोगी है ही नहीं। मैं रोगी हूँ—ऐसी मान्यता छोड़ दे। मैं चैतन्यस्वभाव त्रिकाल निरोगी परमात्मस्वरूप ही हूँ। *(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 31)*

साधक की भावना

साधक जीव कहता है : हे ज्ञायक प्रभु! मुझे तेरे दर्शन दे न! तेरा अन्दर का वैभव मुझे देखने-मानने दे न! अरे रे प्रभु! एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रियपने में मैंने तुझे कहीं नहीं देखा। अरे! बाह्य मुनिपना अनन्त बार लिया, परन्तु वहाँ भी तेरे दर्शन नहीं हुए। नाथ! अब तो एक बार चैतन्यप्रभु का दर्शन करने दो! संसार की दूसरी सब झंझटें छोड़कर धर्मी जीव को चेतन का अनुभव करने की लगन लगी है; दुनिया मान दे या न दे-इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। 'यह धर्मात्मा है' ऐसे लोग गिनती में गिने, उसकी कोई कीमत नहीं है। चैतन्य भगवान पर दृष्टि देने से वह प्राप्त होता है; इसलिए हे शुद्धपरिणतिरूपी सखी! मुझे स्वभाव पर दृष्टि करने दे! शरीर के प्राण भी भले जाओ, परन्तु मेरा चैतन्यभावप्राण मेरी दृष्टि में आओ। धर्मी को सदा ऐसी भावना होती है।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[5]
सम्यग्दर्शन

[208]

प्रश्न—सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण क्या है ?

उत्तर—स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान सदा सम्यक्त्व के साथ ही होता है तथा यह दोनों पर्यायें एक ही स्वद्रव्य के आश्रय से होती हैं, इसलिए भेदविज्ञान, सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण है। गुण-भेद की अपेक्षा से सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण निर्विकल्प प्रतीति है और सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण भेदविज्ञान है—ऐसा भी कहा जाता है। किन्तु निर्विकल्प अनुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहा, क्योंकि वह सदा टिकी नहीं रहती। इतनी बात अवश्य है कि सम्यक्त्व के उत्पत्तिकाल में अर्थात् प्रगट होते समय निर्विकल्प अनुभूति अवश्यमेव होती है, इसलिए उसे 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' अर्थात् सम्यक्त्व प्रगट होने होने का लक्षण कह सकते हैं।

अनुभूति, सम्यक्त्व के सद्भाव को प्रसिद्ध अवश्य करती है, परन्तु जिस समय अनुभूति नहीं हो रही होती है, उस समय भी सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व का सद्भाव तो रहता ही है; इसलिए अनुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कहा जा सकता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिए कि जो लक्ष्य के साथ सदैव रहे और जहाँ लक्षण न हो, वहाँ लक्ष्य भी न हो।

(आत्मधर्म, अंक 261, जुलाई 1977, पृष्ठ 30)

[209]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का स्वभावभूत लक्षण क्या है ?

उत्तर—अनुभूति को लक्षण कहा है परन्तु वास्तव में तो वह ज्ञान की पर्याय है, सही लक्षण तो प्रतीति ही है। केवल आत्मा की प्रतीति - यह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण है।

(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1977, पृष्ठ 30)

[210]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पात्रता कैसी होनी चाहिये ?

उत्तर—पर्याय सीधी द्रव्य को पकड़े, वह सम्यग्दर्शन की पात्रता है। तदतिरिक्त व्यवहार-पात्रता तो अनेक प्रकार की कही जाती है। मूल पात्रता तो दृष्टि, द्रव्य को पकड़कर स्वानुभव करे, वही पात्रता है। *(आत्मधर्म, अंक 433, नवम्बर 1979, पृष्ठ 28)*

[211]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन होनेवाले की व्यवहार योग्यता कैसी होती है ?

उत्तर—निमित्त से अथवा राग से सम्यग्दर्शन नहीं होता, पर्याय-भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता; अन्दर में ढ़लने से ही सम्यग्दर्शन होता है, अन्य किसी विधि से नहीं; इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा-ज्ञान होना, वही सम्यग्दर्शन होनेवाले की योग्यता है।

(आत्मधर्म, अंक 429, जुलाई 1979, पृष्ठ 27)

[212]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के लिए खास प्रकार की पात्रता का लक्षण क्या है ?

उत्तर—जिसको अपने आत्मा का हित करने के लिए अन्दर से वास्तविक लगन हो, आत्मा को प्राप्त करने की तड़फड़ाहट हो, दरकार हो, वास्तविक छटपहाट हो; वह कहीं भी अटके बिना -रुके बिना अपना कार्य करेगा ही।

(आत्मधर्म, अंक 430, अगस्त 1979, पृष्ठ 35)

[213]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन न होने में भावज्ञान की भूल है अथवा आगमज्ञान की ?

उत्तर—अपनी भूल है। यह जीव स्व-तरफ नहीं झुककर, पर-तरफ रुकता है—यही भूल है। विद्यमान शक्ति को अविद्यमान कर दिया, (अर्थात् प्राप्त शक्ति को अप्राप्त जैसा समझ लिया) अपनी त्रिकाली शक्ति के अस्तित्व को नहीं पहचाना—यही अपनी भूल है। त्रिकाली वर्तमान शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार कर ले - देख ले तो भूल टल जाय। *(आत्मधर्म, अंक 430, अगस्त 1979, पृष्ठ 35)*

[214]

प्रश्न—तत्त्वविचार तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का निमित्त है, तो मूल साधन क्या है?

उत्तर—मूल साधन अन्दर में आत्मा है, वहाँ दृष्टि का जोर जावे और 'मैं एकदम पूर्ण परमात्मा ही हूँ'—ऐसा विश्वास आवे, जोर आवे और दृष्टि अन्तर में ढ़ले, तब सम्यग्दर्शन होता है। उससे पहले तत्त्व का विचार होता है, उसकी भी रुचि छोड़कर जब अन्दर में जाता है, तब उस विचार को निमित्त कहा जाता है।

(आत्मधर्म, अंक 429, जुलाई 1979, पृष्ठ 27-28)

[215]

प्रश्न—नवतत्त्व को जानना सम्यग्दर्शन है या शुद्धजीव को जानना सम्यग्दर्शन है?

उत्तर—नवतत्त्व को यथार्थरूप से जानने पर, उसमें शुद्धजीव का ज्ञान भी साथ में आ ही जाता है, तथा जो शुद्धजीव को जानता है, उसको नवतत्त्व का भी यथार्थ ज्ञान अवश्य होता है। इस प्रकार नवतत्त्व के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो अथवा शुद्धजीव के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो—दोनों एक ही हैं। (ज्ञान कहने पर, उस ज्ञानपूर्वक की प्रतीति को सम्यग्दर्शन समझना)। इसमें एक विशेषता यह है कि सम्यक्त्व प्रगट होने की अनुभूति के समय में नवतत्त्व के ऊपर लक्ष्य नहीं होता, वहाँ तो शुद्धजीव के ऊपर ही उपयोग लक्षित होता है और 'यह मैं हूँ'— ऐसी जो निर्विकल्प प्रतीति है, उसके ध्येयभूत एकमात्र शुद्धात्मा ही है। *(आत्मधर्म, अंक 429, अगस्त 1965, पृष्ठ 21)*

[216]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि क्या है?

उत्तर—''पर का कर्ता आत्मा नहीं, राग का भी कर्ता नहीं, राग से भिन्न ज्ञायकमूर्ति हूँ''—ऐसी अन्तर में प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि है। ऐसा समय मिला है, जिसमें आत्मा को राग से भिन्न कर देना ही कर्तव्य है। अवसर चूकना बुद्धिमानी नहीं। *(आत्मधर्म, अंक 4,9 , नवम्बर 1977, पृष्ठ 15)*

[217]

प्रश्न—त्रिकाली ध्रुवद्रव्य दृष्टि में आया—ऐसा कब कहा जाय ? वेदन में भी द्रव्य आता है क्या ?

उत्तर—चैतन्य त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मद्रव्य दृष्टि में आने पर नियम से पर्याय में आनन्द का वेदन आता है। इसी पर्याय को अलिङ्गग्रहण के 20वें बोल में आत्मा कहा है। त्रिकाली ध्रुव भगवान के ऊपर दृष्टि पड़ने पर आनन्द का अनुभव होता है, तभी द्रव्यदृष्टि हुई कही जाती है। यदि आनन्द का वेदन न हो तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर गई ही नहीं। जिसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, उसको अनादिकालीन राग का वेदन टलकर आनन्द का वेदन पर्याय में आवे, तब उसकी दृष्टि में द्रव्य आया है, तथापि वेदन में द्रव्य आता नहीं; इसीलिए पर्याय, द्रव्य का स्पर्श करती नहीं - ऐसा कहते हैं। प्रभु की पर्याय में प्रभु का स्वीकार होने पर उस पर्याय में प्रभु का ज्ञान आता है, किन्तु पर्याय में प्रभु का—द्रव्य का वेदन नहीं आता। यदि वेदन में द्रव्य आवे तो द्रव्य का नाश हो जाये, परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल टिकनेवाला है, इसलिए वह पर्याय में आता नहीं; इसीलिए पर्याय, सामान्यद्रव्य को स्पर्श नहीं करती—ऐसा कहा। *(आत्मधर्म, अंक 432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 32-33)*

[218]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन और आत्मा भेदरूप हैं या अभेदरूप हैं ?

उत्तर—यह सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय और आत्मा अभेद हैं। राग को और आत्मा को तो स्वभाव-भेद है, किन्तु यह सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मा अभेद हैं। परिणति स्वभाव में अभेद होकर परिणमित हुई है, आत्मा स्वयं अभेदपने उस परिणतिरूप से परिणमित हुआ है, उसमें भेद नहीं है। व्यवहारसम्यग्दर्शन तो विकल्परूप है, वह कहीं आत्मा के साथ अभेद नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक 261, जुलाई 1965, पृष्ठ 10)*

[219]

प्रश्न—दृष्टि के विषय में वर्तमान पर्याय शामिल है या नहीं ?

उत्तर—दृष्टि के विषय में मात्र ध्रुवद्रव्य ही आता है। पर्याय तो द्रव्य को विषय

करती है, परन्तु वह ध्रुव में शामिल नहीं होती, क्योंकि वह विषय करनेवाली है। विषय और विषयी भिन्न -भिन्न हैं। *(आत्मधर्म, अंक 401, मार्च 1977, पृष्ठ 18-19)*

[220]

प्रश्न—द्रव्यदृष्टि में किसका आलम्बन होता है ?

उत्तर—द्रव्यदृष्टि शुद्ध अन्त:तत्त्व का ही अवलम्बन लेती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय भी बहिर्तत्त्व है, उसका आलम्बन द्रव्यदृष्टि में नहीं है। संवर-निर्जरा-मोक्ष भी पर्याय है, अत: वह भी विनाशीक होने से बहिर्तत्त्व है, उसका भी आलम्बन द्रव्यदृष्टि में नहीं है। मन-शरीर-वाणी, कुटुम्ब अथवा देव-शास्त्र-गुरु—ये तो परद्रव्य होने से बहिर्तत्त्व हैं ही और दया-दान-व्रत-तपादि के परिणाम भी विकार होने से बहिर्तत्त्व ही हैं, परन्तु यहाँ तो जो शुद्ध निर्मलपर्यायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम हैं, वे भी क्षणिक अनित्य और एकसमयमात्र टिकते होने से, ध्रुवतत्त्व / अन्त: तत्त्व की अपेक्षा से बहिर्तत्त्व ही हैं; अत: उनका भी आलम्बन लेने योग्य नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक 424, फरवरी 1979, पृष्ठ 32)

[221]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ?

उत्तर—समयसार की 13 वीं गाथा में कहा है कि नवतत्त्वरूप पर्यायों में अन्वयरूप से विद्यमान भूतार्थ एकरूप सामान्य ध्रुव, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। पञ्चाध्यायी (अध्याय 2) में भी कहा है कि भेदरूप नवतत्त्वों में सामान्यरूप से विद्यमान अर्थात् ध्रुवरूप से विद्यमान वह जीव का शुद्ध भूतार्थस्वरूप है। इस प्रकार भेदरूप नवतत्त्वों से भिन्न शुद्ध जीव को बतलाकर उसे सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् ध्येयरूप बतलाया है।

जीव की श्रद्धापर्याय, ध्येयभूत सामान्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव की ओर झुकती है, तभी सम्यग्दर्शन एवं निर्विकल्प स्वानुभव होता है। उस समय दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि सर्वगुणों के परिणाम (पर्याय) स्वभाव की ओर झुकते हैं; मात्र श्रद्धा-ज्ञान के ही परिणाम झुकते हैं ऐसा नहीं है। "...वहाँ सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं;..." — (पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी)। *(आत्मधर्म, अंक 387, जनवरी 1976, पृष्ठ 26)*

[222]

प्रश्न— ध्रुवस्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को अभेद करके दृष्टि का विषय मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर— ध्रुव द्रव्यस्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को एकमेक करने से दृष्टि का विषय होता है—ऐसा माननेवाले व्यवहार से निश्चय होना माननेवालों की भाँति ही मिथ्यादृष्टि है; उनका जोर पर्याय पर है, ध्रुव स्वभाव पर नहीं है।

सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य के साथ उत्पादरूप निर्मल पर्याय को साथ लेने से वह निश्चयनय का विषय न रहकर प्रमाण का विषय हो जाता है, और प्रमाण स्वयं सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप द्रव्य है, प्रमाण की भाँति उभय-अंशग्राही नहीं है। यदि पर्याय को द्रव्य के साथ एकमेक किया जाये तो निश्चयनय का विषय जो त्रिकाली सामान्य है, वह नहीं रहता, परन्तु प्रमाण का विषय हो जाने से दृष्टि में भूल है, विपरीतता है।

अनित्य, नित्य को जानता है; पर्याय, द्रव्य को जानती है; पर्यायरूप व्यवहार, निश्चयरूप ध्रुवद्रव्य को जानता है; भेद, अभेद ध्रुव द्रव्य को जानता है; पर्याय जाननेवाली अर्थात् विषयी है और त्रिकाली ध्रुव द्रव्य जाननेवाली पर्याय का विषय है। यदि द्रव्य के साथ निर्मल पर्याय को मिलाकर निश्चयनय का विषय कहा जाये तो विषय करनेवाली पर्याय तो कोई भिन्न नहीं रही। अत: पर्याय को विषयकर्ता के रूप में द्रव्य से भिन्न लिया जाये, तभी विषय-विषयी दो भाव सिद्ध हो सकते हैं; इससे अन्यथा मानने से महाविपरीतता होती है।

श्रुतज्ञान की पर्याय, वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान स्वयं पर्याय होने से व्यवहार है। वीतरागी पर्याय स्वयं व्यवहार है, परन्तु उसने त्रिकाली द्रव्यरूप निश्चय का आश्रय लिया होने से उस निर्मल पर्याय को निश्चयनय कहा है, परन्तु वह पर्याय होने से व्यवहार ही है।

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। पर का लक्ष्य छोड़कर, राग का लक्ष्य छोड़कर पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, त्रिकाली द्रव्य को लक्ष्य करे, तब वीतरागता प्रगट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्यरूप ध्येय में पर्याय को साथ ले तो वह बात नहीं रहती।

(आत्मधर्म, अंक 387, जनवरी 1976, पृष्ठ 27-28)

[223]

प्रश्न—इसका कोई शास्त्रीय आधार भी है क्या ?

उत्तर—समयसार की 49 वीं गाथा की टीका में त्रिकाली सामान्य ध्रुवद्रव्य से निर्मल पर्याय को भिन्न बतलाते हुए कहा है कि व्यक्तपना तथा अव्यक्तपना एकमेक—मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह व्यक्तपने को स्पर्श नहीं करता, इसलिए अव्यक्त है। इस 'अव्यक्त' विशेषण से त्रिकाली ध्रुवद्रव्य कहा है, उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तथापि वह त्रिकाली ध्रुवद्रव्य, व्यक्त ऐसी निर्मल पर्याय को स्पर्श नहीं करता। इसी अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुवद्रव्य से निर्मल पर्याय को भिन्न कहा है।

प्रवचनसार, गाथा 172 में अलिङ्गग्रहण के 18 वें बोल में कहा है कि आत्मा में अनन्त गुण होने पर भी, उन गुणों के भेद को आत्मा स्पर्श नहीं करता, क्योंकि गुणों के भेद को लक्ष्य में लेने से विकल्प उठता है, निर्विकल्पता नहीं होती। शुद्ध निश्चयनय से एकरूप अभेद सामान्य ध्रुवद्रव्य को लक्ष्य में लेने से विकल्प टूटकर निर्विकल्पता होती है।

इसलिए आत्मा गुणों के भेद को स्पर्श नहीं करता—ऐसा कहा है। और 19 वें बोल में आत्मा, पर्याय के भेद को स्पर्श नहीं करता, अर्थात् जिस प्रकार ध्रुव में गुण हैं, तथापि उनके भेद को स्पर्श नहीं करता; उसी प्रकार ध्रुव में पर्यायें हैं और उन्हें स्पर्श नहीं करता—ऐसा नहीं कहना है, परन्तु ध्रुव सामान्य से पर्याय भिन्न ही है—ऐसे पर्याय के भेद को आत्मा स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहकर निश्चयनय के विषय में अकेला सामान्यद्रव्य ही आता है—ऐसा बतलाया है। *(आत्मधर्म, अंक 387, जनवरी 1976, पृष्ठ 25)*

[224]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसमें पुरुषार्थ की निर्बलता को कारण मानें ?

उत्तर—नहीं; विपरीतता के कारण तो सम्यग्दर्शन अटकता है और पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण चारित्र अटकता है—ऐसा न मानकर सम्यक्त्व के न होने में पुरुषार्थ की निर्बलता को कारण मानना, यह तो पहाड़ जैसे महादोष को राईसमान अल्प बनाने जैसा है। जो ऐसा मानता है कि सम्यग्दर्शन अटकने में पुरुषार्थ की निर्बलता कारण है, वह इस

पहाड़ जैसी विपरीत मान्यता के दोष को दूर नहीं कर सकता।

(आत्मधर्म, अंक 450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 28)

[225]

प्रश्न—समयसार में शुद्धनय का अवलम्बन लेने के लिए कहा है, परन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है, पर्याय है—क्या उस अंश के / पर्याय के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होगा ?

उत्तर—शुद्धनय का अवलम्बन वास्तव में कब हुआ कहा जाय ? अकेले अंश का भेद करके उसके ही अवलम्बन में जो अटका है, उसके तो शुद्धनय है ही नहीं। ज्ञान के अंश को अन्तर में लगाकर जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की है, उसको ही शुद्धनय होता है। ऐसी अभेद दृष्टि की, तब शुद्धनय का अवलम्बन लिया—ऐसा कहा जाता है। 'शुद्धनय का अवलम्बन'—ऐसा कहने पर उसमें भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की ही बात आती है; परिणति अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद होने पर जो अनुभव हुआ, उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन है; उसमें द्रव्य-पर्याय के भेद का अवलम्बन नहीं है। यद्यपि शुद्धनय ज्ञान का ही अंश है; पर्याय है परन्तु वह शुद्धनय अन्तर के भूतार्थस्वभाव में अभेद हो गया है, अर्थात् वहाँ नय और नय का विषय अलग नहीं रहा। जब ज्ञानपर्याय अन्तर में झुककर शुद्धद्रव्य के साथ अभेद हुई, तब ही शुद्धनय निर्विकल्प है। ऐसा शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है। जैसे—मैले पानी में कतकफल अर्थात् निर्मली नामक औषधि डालने पर पानी निर्मल हो जाता है; वैसे ही कर्म से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव शुद्धनय से होता है। शुद्धनय से भूतार्थस्वभाव का अनुभव होने पर, आत्मा और कर्म का भेदज्ञान हो जाता है।

देखो, यह सच्ची औषधि! अनादि से जीव को मिथ्यात्वरूप रोग लागू पड़ा है; वह इस शुद्धनयरूपी औषधि से ही मिटता है। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा शुद्धनय का अवलम्बन लेकर, शुद्धात्मा का अनुभव करते ही तत्काल भेदज्ञान हो जाता है और अनादि का भ्रमणा रोग मिट जाता है। *(आत्मधर्म, अंक 119, भाद्रपद 2479, पृष्ठ 235)*

[226]

प्रश्न—कितना अभ्यास करें कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सके ?

उत्तर—ग्यारह अङ्गों का ज्ञान हो जाये—इतनी राग की मन्दता अभव्य को होती है। ग्यारह अङ्ग के ज्ञान का क्षयोपशम बिना पढ़े ही हो जाता है, विभङ्ग ज्ञान भी हो जाता है और सात द्वीप समुद्र को प्रत्यक्ष देखता है, तो भी यह सब ज्ञान होना सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 27-28)*

[227]

प्रश्न—ग्यारह अङ्गवाले को भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब आत्मा की रुचि बिना इतना सारा ज्ञान कैसे हो जाता है ?

उत्तर—ज्ञान का क्षयोपशम होना, यह तो मन्द कषाय का कार्य है, आत्मा की रुचि का कार्य नहीं। जिसको आत्मा की यथार्थ रुचि होती है, उसका ज्ञान अल्प हो तो भी रुचि के बल पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के लिए ज्ञान के क्षयोपशम की आवश्यकता नहीं, किन्तु आत्मरुचि की ही आवश्यकता है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 28)*

[228]

प्रश्न—इतने अधिक शास्त्र हैं, उनमें सम्यग्दर्शन के लिए विशेष निमित्तभूत कौन-सा शास्त्र है ?

उत्तर—स्वयं जब स्वभाव को देखने में उग्र पुरुषार्थ करता है, तब उस समय जो शास्त्र निमित्त हो, उसको निमित्त कहा जाता है। द्रव्यानुयोग हो, करणानुयोग हो, चरणानुयोग शास्त्र हो, वह भी निमित्त कहा जाता है, प्रथमानुयोग को भी बोधिसमाधि का निमित्त कहा है। *(आत्मधर्म, अंक 392, मई 1976, पृष्ठ 25)*

[229]

प्रश्न—अपनी आत्मा को जानने से ही सम्यग्दर्शन होता है तो फिर अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना आवश्यक है। अरिहन्त की

पूर्ण पर्याय को जानने पर ही, वैसी पर्याय अपने में प्रगट नहीं हुई है, इसलिए उसे स्वद्रव्य की तरफ लक्षित करने पर दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है और सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति होती है। इसलिए अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने पर सम्यग्दर्शन हुआ—ऐसा कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक 393, जुलाई 1976, पृष्ठ 29)*

[230]

प्रश्न—शुद्धस्वभाव का इतना विशाल स्तम्भ दिखलाई क्यों नहीं पड़ता ?

उत्तर—दृष्टि बाहर ही बाहर भ्रमावे, उसको कैसे दिखाई पड़े ? पुण्य के भाव में बड़प्पन देखा करता है, परन्तु अन्दर जो विशाल महान प्रभु पड़ा है, उसे देखने का प्रयत्न नहीं करता। यदि उसे देखने का प्रयत्न करे तो अवश्य दिखाई पड़े।

(आत्मधर्म, अंक 439, मई 1980, पृष्ठ 29)

[231]

प्रश्न—जिनबिम्ब-दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म का भी नाश होता है और सम्यग्दर्शन प्रगट होता है—ऐसा श्री धवलग्रन्थ में आता है—तो क्या परद्रव्य के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर—श्री धवलग्रन्थ में जो ऐसा पाठ आता है, उसका अभिप्राय यह है कि जिनबिम्बस्वरूप निज अन्तरात्मा अक्रिय चैतन्यबिम्ब है, उसके ऊपर लक्ष्य और दृष्टि जाने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और निद्धत व निकाचित कर्म टलते हैं, तब जिनबिम्ब-दर्शन से सम्यग्दर्शन हुआ और कर्म टला—ऐसा उपचार से कथन किया जाता है। क्योंकि पहले जिनबिम्ब के ऊपर लक्ष्य था, इसलिए उसके ऊपर उपचार का आरोप किया जाता है। सम्यग्दर्शन तो स्व के लक्ष्य से ही होता है; पर के लक्ष्य से तो तीन काल में हो सकता नहीं—ऐसी वस्तुस्थिति है। *(आत्मधर्म, अंक 434, दिसम्बर 1979, पृष्ठ 30)*

[232]

प्रश्न—मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से ही होता है या कोई और दूसरा उपाय भी है ?

उत्तर—स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार गाथा 86 में बताया है कि स्वलक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना उपायान्तर, अर्थात् दूसरा उपाय है, इससे मोह का क्षय होता है।

(आत्मधर्म (हिन्दी), मार्च 1977, पृष्ठ 28)

[233]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई है, वह राग की मन्दता के कारण प्रगट हुई है—ऐसा तो है ही नहीं, किन्तु सूक्ष्मता से देखें तो द्रव्य-गुण के कारण सम्यग्दर्शन हुआ है—ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष्य और ध्येय व आलम्बन यद्यपि द्रव्य है; तथापि पर्याय अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमित हुई है। जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, उसको निमित्तादि का अवलम्बन तो है नहीं, वह द्रव्य के कारण उत्पन्न हुई है—ऐसा भी नहीं है। भाई! अन्तर का रहस्य कच्चे पारे की तरह बहुत गम्भीर है, पचा सके तो मोक्ष होता है। *(आत्मधर्म, अंक 490, नवम्बर 1977, पृष्ठ 13)*

[234]

प्रश्न—''पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ, सो प्रारम्भ''—ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है। वहाँ पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ में त्रिकाली द्रव्य को लेना अथवा केवलज्ञान पर्याय को लेना ? कृपया स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर—यहाँ पूर्णता के लक्ष्य में साध्यरूप केवलज्ञान पर्याय लेना। त्रिकाली द्रव्य तो ध्येयरूप है। केवलज्ञान उपेय है और साधकभाव उपाय है। उपाय का साध्य / उपेय केवलज्ञान है। *(आत्मधर्म, अंक 432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 32)*

[235]

प्रश्न—जिनवर कथित व्यवहारचारित्र का सावधानीपूर्वक पालन सम्यग्दर्शन होने का कारण होता है या नहीं ?

उत्तर—रञ्चमात्र भी कारण नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने का कारण तो अपना

त्रिकाली आत्मा ही है। जिनेन्द्र कथित व्यवहार चारित्र को सावधानीपूर्वक और परिपूर्ण पाले, तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह तो वीरों का मार्ग है-शूरवीरों का मार्ग है, कायर का काम नहीं। शुभराग को धर्म या धर्म का कारण माननेवाले सब कायर हैं।

(आत्मधर्म, अंक 403, मई 1977, पृष्ठ 15)

[236]

प्रश्न—दोनों अपेक्षाओं का प्रमाणज्ञान करें, फिर पर्यायदृष्टि गौण करें, निश्चयदृष्टि मुख्य करें—इतनी मेहनत करने के बदले 'आत्मा चैतन्य है'—मात्र इतना ही अनुभव में आए तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं ?

उत्तर—नहीं; नास्तिकमत के सिवाय सभी मतवाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं। यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जाएगा। सर्वज्ञ-वीतराग ने आत्मा का जैसा स्वतन्त्र और पूर्ण स्वरूप कहा है, वैसा सत्समागम से जानकर, स्वभाव से निर्णय करके, उसका ही श्रद्धान करने से निश्चय सम्यक्त्व होता है। सर्वज्ञ को स्वीकार करनेवाले जीव ने यह निर्णय किया है कि अल्पज्ञ जीव अधूरी अवस्था के काल में भी सर्वज्ञ परमात्मा जैसा पूर्ण सामर्थ्यवान है। पूर्ण को स्वीकार करनेवाला प्रतिसमय पूर्ण होने की ताकत रखता है। परोक्षज्ञान में वस्तु के वर्तमान स्वतन्त्र त्रिकाली अखण्ड परिपूर्णस्वरूप का निर्णय पूर्णता के लक्ष्य से ही होता है। शुद्धनय से ऐसा जानना निश्चय सम्यक्त्व है। *(आत्मधर्म (हिन्दी), नवमबर 1977, पृष्ठ 24)*

[237]

प्रश्न—जिस प्रकार क्रियानय से साध्य सिद्धि है, ऐसा एक धर्म है और ज्ञाननय से साध्य सिद्धि है, ऐसा भी एक धर्म है; उसी प्रकार त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन हो और निर्मल पर्यायसहित द्रव्य के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन हो—ऐसा है क्या ?

उत्तर—नहीं, एक ही समय में जानने योग्य क्रियानय तथा ज्ञाननय इत्यादि अनन्तधर्म है, परन्तु सम्यग्दर्शन का विषय एक नय से त्रिकालीद्रव्य भी है और दूसरे नय

से देखने पर पर्याययुक्त द्रव्य भी सम्यग्दर्शन का विषय बने, ऐसा कोई धर्म ही नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय तो मात्र भूतार्थ ऐसा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य (पर्यायरहित) ही है। उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक 387, जनवरी 1976, पृष्ठ 26)

[238]

प्रश्न—सम्यग्दर्शन तो राग छोड़ने पर होता है न ?

उत्तर : राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर राग से भिन्नता भासित होती है, राग सर्वथा नहीं छूटता, परन्तु राग को दु:खरूप जानकर उसकी रुचि छूटती है। *(आत्मधर्म, अंक 401, मार्च 1977, पृष्ठ 23)*

[239]

प्रश्न—गुण-भेद के विचार से भी मिथ्यात्व न टले तो मिथ्यात्व को कैसे टालना ?

उत्तर—जिसमें राग और मिथ्यात्व है ही नहीं—उस शुद्धवस्तु में परिणाम तन्मय होने पर मिथ्यात्व टल जाता है; दूसरे किसी उपाय से मिथ्यात्व नहीं टलता। भाई ! गुण-भेद का विकल्प भी शुद्धवस्तु में नहीं है; शुद्धवस्तु की प्रतीति गुण-भेद के विकल्प की अपेक्षा भी नहीं रखती। वस्तु में विकल्प नहीं और विकल्प में वस्तु नहीं। इस प्रकार दोनों की भिन्नता जानकर, परिणति विकल्प में से हटकर स्वभाव में आवे, तब मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है—यही मिथ्यात्व टालने की रीति है, अर्थात् उपयोग और रागादिक का भेदज्ञान होना ही सम्यक्त्व का मार्ग है। इसलिए विकल्प की अपेक्षा चिदानन्दस्वभाव की अनन्त महिमा भासित होकर उसका अनन्त गुणा रस आना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक 262, अगस्त 1965, पृष्ठ 20)

[240]

प्रश्न—जिसको सम्यग्दर्शन होना ही है, ऐसे जीव की पूर्व भूमिका कैसी होती है ?

उत्तर—इस जीव को जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा सविकल्प निर्णय होता है, किन्तु सविकल्प से निर्विकल्पता होती ही है, ऐसा नहीं है। जिसे होती है, उसके पूर्व के

सविकल्प निर्णय पर उपचार आता है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 26)*

[241]

प्रश्न—दृष्टि को स्थिर करने के लिए सामने की वस्तु स्थिर होनी चाहिए; लेकिन दृष्टि तो पलटती रहती है, वह किस तरह स्थिर हो ?

उत्तर— सामने स्थिर वस्तु हो तो उस पर नजर करने से दृष्टि स्थिर हो जाती है। भले ही नजर (दृष्टिरूप पर्याय) स्थिर न रह सकती हो तो भी ध्रुव पर नजर एकाग्र करने से सारी वस्तु नजर में आ जाती है, सारा आत्मद्रव्य दृष्टि में जाना जाता है।

मूल बात यह है कि अन्दर में जो आश्चर्यकारी आत्मवस्तु है, उसकी इसे अन्दर से महिमा नहीं आती। द्रव्यलिङ्गी साधु हुआ लेकिन अन्दर से महिमा नहीं आती। पर्याय के पीछे पूरा ध्रुव महाप्रभु विद्यमान है, उसकी महिमा आवे, आश्चर्य भासित हो तो कार्य होता ही है। आत्मा अनन्त-अनन्त आनन्द का धाम है, उसको विश्वास में लाना चाहिए। विश्वास से जहाज चलता है और समुद्र पार हो जाता है; वैसे ही अन्दर में आत्मा की प्रभुता का विश्वास आये, तब कार्य होता ही है।

जिसने जीवन ज्योति ऐसे चैतन्य का अनादर करके राग को अपना माना है, 'राग मैं हूँ'—ऐसा माना है, उसने अपनी आत्मा का घात किया है। जिससे लाभ मानता है, उसको स्वयं का माने बगैर उससे लाभ माना नहीं जा सकता। इसलिए राग से लाभ माननेवाला स्वयं का ही घात करनेवाला होने से दुरात्मा है, आत्मा का अनादर करनेवाला है, आत्मा का तिरस्कार करनेवाला है। अविवेकी मिथ्यादृष्टि है।

(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 31-32)

[242]

प्रश्न—इस पर से ऐसा होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पात्र कौन है ?

उत्तर—यह पात्र ही है, लेकिन पात्र नहीं है—ऐसा मान लेता है। यही शल्य बाधक होती है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 26)*

[243]

प्रश्न—क्या सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है ?

उत्तर—सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नहीं होता, किन्तु कहा अवश्य जाता है। क्योंकि विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प में जाता है, यह बताने के लिए सविकल्प द्वारा हुआ ऐसा कहा जाता है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है कि 'रोमांच होता है' अर्थात् वीर्य अन्दर जाने के लिए उल्लसित होता है, ऐसा बताना है।

(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 30)

[244]

प्रश्न—शास्त्राभ्यास आदि करने पर भी उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता, तो सम्यग्दर्शन के लिए क्या करना ?

उत्तर—यथार्थ में तो एक आत्मा की ही रुचिपूर्वक सबसे पहिले आत्मा को जानना, वही सम्यग्दर्शन का उपाय है। आत्मा का सत्य निर्णय करनेवाले को पहिले सात तत्त्वों का सविकल्प निर्णय होता है, शास्त्राभ्यास होता है, शास्त्राभ्यास ठीक है—ऐसा भी विकल्प होता है, लेकिन उससे यथार्थ निर्णय नहीं होता। जहाँ तक विकल्प सहित है, वहाँ तक परसन्मुखता है; परसन्मुखता से सत्य निर्णय नहीं होता। स्वसन्मुख होते ही सत्य निर्विकल्प निर्णय होता है। सविकल्पता द्वारा निर्विकल्प होना कहा है, तो भी सविकल्पता, निर्विकल्प होने का सही कारण नहीं है। तब भी सविकल्पता पहिले होती है, इसी कारण सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होना कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 25)*

[245]

प्रश्न—क्या सम्यग्दृष्टि को अशुभभाव के सद्भाव में आयुष्य बँधती है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि को चौथे-पाँचवें गुणस्थान में व्यापार-विषयादि का अशुभराग भी होता है, तथापि सम्यग्दर्शन का ऐसा माहात्म्य है कि उसको अशुभभाव के समय आयुष्य नहीं बँधती, शुभभाव में ही बँधती है। सम्यग्दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि उसके भव बढ़ते तो हैं ही नहीं; यदि भव होते भी हैं तो नीचा भव नहीं होता, स्वर्गादि का ऊँचा भव ही होता है। *(आत्मधर्म, अंक 410, दिसम्बर 1977, पृष्ठ 26)*

[246]

प्रश्न—जिसके प्रताप से जन्म-मरण टले और मुक्ति प्राप्त हो—ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन पञ्चम काल में शीघ्र हो सकता है क्या ?

उत्तर—पञ्चम काल में भी क्षणभर में सम्यग्दर्शन हो सकता है। पञ्चम काल सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने के लिए प्रतिकूल नहीं है। सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो वीरों का काम है, कायरों का नहीं। पञ्चम काल में नहीं हो सकता, वर्तमान में नहीं हो सकता—ऐसा मानना कायरता है। बाद में करेंगे, कल करेंगे—इस प्रकार वायदा करनेवालों का यह काम नहीं है। आज ही करेंगे, अभी करेंगे—ऐसे वीरों का यह काम है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके समक्ष देखनेवालों को पञ्चम काल क्या करेगा।

(आत्मधर्म, अंक 420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 22)

[247]

प्रश्न—शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा गया है। उस निश्चयसम्यग्दर्शन के सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ऐसे दो भेद क्यों कहे गये हैं ?

उत्तर—निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ वर्तते हुए राग को बताने के लिए निश्चयसम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वहाँ सम्यग्दर्शन तो निश्चय ही है, परन्तु साथ में प्रवर्तमान शुभराग का व्यवहार है, अत: उसका सम्बन्ध बताने के लिए सराग सम्यक्त्व कहने में आता है। गृहस्थाश्रयम में स्थित तीर्थङ्कर, भरत, सगर आदि चक्री तथा राम, पाण्डव आदि को सम्यग्दर्शन तो निश्चय था, तथापि उसके साथ वर्तते हुए शुभराग का सम्बन्ध बताने के लिए उन्हें सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। यहाँ मूल प्रयोजन वीतरागता पर वजन देना है। इसलिए निश्चयसम्यक्त्व होने पर भी उसे सराग सम्यक्त्व कहा गया है और उसे वीतराग सम्यक्त्व का परम्परा साधक कहा है। शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चयसम्यग्दर्शन में सराग और वीतराग के भेद नहीं है। है तो एक-सा सम्यग्दर्शन, किन्तु जहाँ स्थिरता की मुख्यता का कथन चलता हो, वहाँ सम्यक्त्व के साथ वर्तते हुए राग के सम्बन्ध को देखकर उसे सराग सम्यक्त्व कहा है और रागरहित संयमी

के वीतराग सम्यक्त्व कहा है, क्योंकि जैसा वीतराग स्वभाव है, वैसा ही वीतरागी परिणमन भी हुआ है; अत: वीतरागता का सम्बन्ध देखकर उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहा गया है।

(आत्मधर्म, अंक 398, दिसम्बर 1976, पृष्ठ 20)

[248]

प्रश्न—ज्ञान प्राप्ति का फल तो राग का अभाव होता है न ?

उत्तर—राग का अभाव अर्थात् राग से भिन्न आत्मा के अनुभवपूर्वक भेदज्ञान का होना। इसमें राग के कर्तापने का-स्वरामीपने का अभाव हुआ, राग में से आत्मबुद्धि छूट गई; यही राग के प्रथम नम्बर का अभाव हो गया।

(आत्मधर्म, अंक 409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 13)

[249]

प्रश्न— सम्यग्दर्शनसहित नरकवास भी भला कहा है तो क्या नरक में सम्यग्दृष्टि को आनन्द की गटागटी है ?

उत्तर—यह तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कहा है, परन्तु वहाँ भी जितना कषाय है, उतना दु:ख तो है। तीन कषाय हैं, उतना दु:ख है। मुनि को घानी में पेले, अग्नि में जलावे, तथापि तीन कषाय का अभाव होने से उन्हें आनन्द है।

(आत्मधर्म, अंक 445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 28)

[250]

प्रश्न—सम्यक् श्रद्धा और अनुभव में क्या अन्तर है ?

उत्तर—सम्यक्-श्रद्धान-प्रतीति तो श्रद्धागुण की पर्याय है और अनुभव मुख्यत: चारित्रगुण की पर्याय है। *(आत्मधर्म, अंक 446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 28)*

[251]

प्रश्न—मिथ्यात्व-आस्रवभाव को तोड़ने का वज्रदण्ड क्या है ?

उत्तर—त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव ही वज्रदण्ड है, क्योंकि उसी का आश्रय लेने से मिथ्यात्व-आस्रवभाव टूटता है। प्रथम में प्रथम कर्तव्य राग से भिन्न होकर ज्ञायकभाव

की दृष्टि करना है। इस कार्य के किये बिना तप-व्रतादि सभी कुछ थोथा है।

(आत्मधर्म, अंक 422, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 30)

[252]

प्रश्न—किसी जीव का उपशमसम्यक्त्व छूट जाये और वह मिथ्यात्व में आ जाये, तो उसे ख्याल में आता है कि मुझे सम्यक्त्व हुआ था?

उत्तर—हाँ, सम्यक्त्व छूट जाने के बाद थोड़े समय तक ख्याल में रहता है, किन्तु लम्बे समय के पश्चात् भूल जाता है। *(आत्मधर्म, अंक 445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 31)*

[253]

प्रश्न—दर्शनपाहुड़ की गाथा 21 में कहा है कि हे जीव! तू सम्यग्दर्शन को अन्तरङ्गभाव से ग्रहण कर। यहाँ बताये हुए अन्तरङ्गभाव का तथा बहिरङ्गभाव का भी अर्थ स्पष्ट कीजिए?

उत्तर—अन्तरस्वभाव के आश्रय से परिणति प्रगट करना, वह अन्तरङ्गभाव है; ऐसी परिणति अंशरूप में प्रगट करना, वह सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत नवतत्त्व की श्रद्धा आदि रागभाव, अन्तरङ्गभाव नहीं हैं; वे तो बहिरङ्गभाव हैं अर्थात् उनसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। बाह्यलक्ष्य से जो भी भाव हों, वे सब बहिरङ्गभाव हैं। आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्यमय है। उसके अन्तर में अङ्ग में से परिणति प्रगट कर। इस जड़ शरीर में से सम्यग्दर्शन प्रगट होनेवाला नहीं है, तथा देव-गुरु-शास्त्र में से या नव तत्त्व के विकल्प में से भी तेरा सम्यग्दर्शन प्रगट होनेवाला नहीं है; इसलिए उन सबका लक्ष्य छोड़कर तेरे चैतन्यरूपी शरीर में से सम्यग्दर्शन निकाल। पुण्य-पाप के परिणाम हों, वह तेरा चैतन्य-अङ्ग नहीं हैं, किन्तु कार्मण-अङ्ग हैं। व्यवहारसम्यग्दर्शन भी कार्मण-अङ्ग है। चैतन्य को चूककर कर्म के सम्बन्ध से जो भी भाव उत्पन्न हों, वे सब बहिरङ्गभाव हैं, अन्तरङ्गभाव नहीं। उनसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती।

'अन्तरङ्गभाव' कहकर आचार्यदेव ने समस्त परभावों का निषेध किया है। शरीरादि की क्रिया तो जड़ है और व्रत, तप, भक्ति, पूजा, प्रतिमा इत्यादि का शुभराग, वह

बहिरंगभाव है–विकार है; इसलिए उन जड़ की क्रियाओं और बहिरङ्गभावों में एकत्वबुद्धि छोड़कर अर्थात् परभावों में आत्मबुद्धि छोड़कर अकेले आत्मस्वभाव का आश्रय करना, वह अन्तरङ्गभाव है और ऐसे भाव से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वही आत्मा का कल्याण है। *(आत्मधर्म, अंक 53, फाल्गुन 2474, पृष्ठ 71)*

[254]

प्रश्न—जिस समय जीव हेय-उपादेय को यथार्थ समझे, उसी समय हेय को छोड़कर उपादेय को ग्रहण करे अर्थात् सच्ची श्रद्धा के साथ ही साथ पूर्ण चारित्र भी होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता तो है नहीं; इसलिए हम तो ऐसा मानते हैं कि जब यह जीव रागादि को त्यागकर चारित्र अङ्गीकार करे, तभी उसे सच्ची श्रद्धा होती है।—ऐसा मानने में क्या दोष है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन का काम तो परिपूर्ण आत्मस्वभाव को ही मानना है; रागादि के ग्रहण-त्याग करने का काम सम्यग्दर्शन का नहीं है, वह तो चारित्र का अधिकार है। सच्ची श्रद्धा का कार्य यह है कि उपादेय की उपादेयरूप से और हेय की हेयरूप से प्रतीति करे; उपादेय को अङ्गीकार करना और हेय को छोड़ने का काम चारित्र का है, श्रद्धा का नहीं।

राजपाट में होने पर, भी और राग विद्यमान होने पर भी भरत चक्रवर्ती, श्रेणिक राजा, रामचन्द्रजी तथा सीताजी इत्यादि सम्यग्दृष्टि थे। सम्यग्दर्शन होने पर व्रतादि होना ही चाहिए और त्याग होना ही चाहिए—ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर विपरीत अभिप्राय का—मिथ्या मान्यता का त्याग अवश्य हो जाता है।

(आत्मधर्म, अंक 54, चैत्र 2474, पृष्ठ 87)

[255]

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि स्वर्ग से आता है, तब माता के पेट में नौ महीने में निर्विकल्प उपयोग आता होगा या नहीं ?

उत्तर—यह बात ख्याल में है, लेकिन शास्त्राधार कोई मिलता नहीं। विचार तो अनेक आते हैं, लेकिन शास्त्राधार तो मिलना चाहिए न ?

(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 26)

[256]

प्रश्न—क्या मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर—मतिज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है तो भी मतिज्ञान के समय आनन्द का वेदन नहीं है। श्रुतज्ञान में आनन्द का वेदन होता है, अर्थात् श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन का आनन्द आता है, तो भी मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान में सम्यग्दर्शन होता है —ऐसा कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 31)*

[257]

प्रश्न—द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विचार में भी मिथ्यात्व किस प्रकार है ?

उत्तर—भेद का विचारना कहीं मिथ्यात्व नहीं है। ऐसा भेद-विचार तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है; किन्तु उस भेद-विचार में जो रागरूप विकल्प है, उसे लाभ का कारण मानना और उसमें एकत्वबुद्धि करके अटक जाना मिथ्यात्व है। एकत्वबुद्धि किए बिना मात्र भेद-विचार मिथ्यात्व नहीं है, वह तो अस्थिरता का राग है।

(आत्मधर्म, अंक 262, अगस्त 1965, पृष्ठ 20)

[258]

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मा का विचार उपयोग में चलता है वही शुद्ध उपयोग है न ?

उत्तर—नहीं, शुद्ध आत्मा का विचार चले, वह शुद्ध उपयोग नहीं है, वह तो राग मिश्रित विचार है। शुद्ध आत्मा में एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हों, वह शुद्ध उपयोग है। जिसमें ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता का भेद छूटकर अकेला अभेदरूप चैतन्य गोला अनुभव में आता है, वह शुद्ध उपयोग है। *(आत्मधर्म, अंक 418, अगस्त 1970, पृष्ठ 25)*

[259]

प्रश्न—आत्मा की रुचि हो और यहाँ सम्यग्दर्शन न हो तो दूसरे भव में होगा ?

उत्तर—आत्मा की सच्ची रुचि हो, उसे सम्यग्दर्शन होता होता और होता ही है। यथार्थ रुचि और लक्ष्य हो उसे सम्यग्दर्शन न हो, ऐसा तीन काल में बनता ही नहीं। वीर्य

में हीनता नहीं आनी चाहिए। वीर्य में उत्साह और नि:शंकता आनी चाहिए। कार्य होगा ही-ऐसा इसके निर्णय में आना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक 421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 24)*

[260]

प्रश्न—पहले अशुभराग टाले और शुभराग करे तो फिर शुद्धभाव हो, ऐसा तो है न?

उत्तर—यह क्रम ही नहीं है। पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, पश्चात् एकदम शुभराग टाल नहीं सकता, इसलिए पहले अशुभराग टालकर शुभराग आता है, यह साधक के क्रम की बात है। *(आत्मधर्म, अंक 421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 27)*

[261]

प्रश्न—तो अज्ञानी को क्या करना?

उत्तर—अज्ञानी को पहले वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान करके आत्मा का भान करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सच्चा उपाय है। शुभराग का क्रियाकाण्ड करना, वह सच्चा उपाय नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक 421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 27)*

[262]

प्रश्न—नयपक्ष से अतिक्रान्त, ज्ञान-स्वभाव का अनुभव करके उसकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है—इस प्रकार सम्यग्दर्शन की विधि तो आपने बतलाई; परन्तु उस विधि को अमल में कैसे लावें? विकल्प में से गुलाँट मार कर निर्विकल्प किसप्रकार हों? वह समझाइए।

उत्तर—विधि यथार्थ समझ में आ जाय तो परिणति गुलाँट मारे बिना रहे नहीं। विकल्प की और स्वभाव की जाति भिन्न-भिन्न है, ऐसा भान होते ही परिणति, विकल्प में से छूटकर स्वभाव के साथ तन्मय हो जाती है। विधि को सम्यक्रूपेण जानने का काल और परिणति के गुलाँट मारने का काल; दोनों एक ही हैं। विधि जानने के बाद उसे सिखाना नहीं पड़ता कि तुम ऐसे करो। जो विधि ज्ञात की है, उसी विधि से ज्ञान अन्तर में ढ़लता है। सम्यक्त्व की विधि जाननेवाला ज्ञान स्वयं कहीं राग में तन्मय नहीं होता, वह

तो स्वभाव में तन्मय होता है—और ऐसा ज्ञान ही सच्ची विधि को जानता है। राग में तन्मय रहनेवाला ज्ञान, सम्यक्त्व की सच्ची विधि को नहीं जानता।

(आत्मधर्म, अंक 262, अगस्त 1965, पृष्ठ 21-22)

[263]

प्रश्न—बन्धन का नाश निश्चयसम्यग्दर्शन से होता है या व्यवहारसम्यग्दर्शन से ?

उत्तर—जिसको निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उस जीव को व्यवहारसम्यग्दर्शन में दोष (अतिचार) होने पर भी वह दोष, दर्शनमोह के बन्ध का कारण नहीं होता क्योंकि निश्चयसम्यग्दर्शन के सद्भाव में मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्धन नहीं होता। किसी जीव को व्यवहारसम्यग्दर्शन तो बराबर हो, उसमें किञ्चित् भी अतिचार न लगने देता हो, परन्तु उसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है तो मिथ्यात्व या मोह का बन्ध बराबर होता रहता है। सम्यग्दर्शन का जो व्यवहार है, मिथ्यात्व को टालने में समर्थ नहीं है; अपितु सम्यग्दर्शन का निश्चय ही मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होने देता। अत: यह सिद्धान्त निकला कि निश्चय से बन्ध का नाश होता है, व्यवहार से नहीं।

(आत्मधर्म, अंक 53, फाल्गुन 2474, पृष्ठ 70)

[264]

प्रश्न—आत्मा में परिणमन के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर—प्रथम, सत्समागम से सत्य वस्तुस्वरूप का श्रवण करना चाहिए। जहाँ सत्य का श्रवण भी नहीं, वहाँ सत्य का ग्रहण तो हो ही कैसे सकता है ? जहाँ ग्रहण नहीं, वहाँ धारणा नहीं; जहाँ धारणा नहीं, वहाँ रुचि नहीं; और जहाँ रुचि नहीं, वहाँ परिणमन भी नहीं होता। जिसे आत्मा की रुचि होती है; उसे प्रथम उसका श्रवण, ग्रहण और धारणा होती ही है। यहाँ तो अब श्रवण, ग्रहण, धारणा और रुचि के पश्चात् अन्तर में पणिमन करने की बात है।

(आत्मधर्म, अंक 97, कार्तिक 2478, पृष्ठ 9)

[265]

प्रश्न—आत्मख्याति को सम्यग्दर्शन कहा-आत्मप्रसिद्धि कहा-आत्मानुभव कहा,

उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—त्रिकाली आत्मस्वभाव तो प्रसिद्ध ही था, वह कहीं ढँका नहीं था, किन्तु अवस्था में पहले उसका भान नहीं था और अब उसका भान होने पर अवस्था में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई। निर्मल अवस्था प्रगट होने पर, द्रव्य-पर्याय की अभेदता से 'आत्मा ही प्रसिद्ध हुआ'—ऐसा कहा है। अनुभव में कहीं, द्रव्य-पर्याय के भेद नहीं है। रागमिश्रित विचार छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही एकाग्र हुआ—उसी का नाम आत्मख्याति है। उस आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि आत्मख्याति स्वयं तो ज्ञान की पर्याय है, किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शन अविनभावी होता है; इसलिए उस आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। *(आत्मधर्म, अंक 95, भाद्रपद 2477, पृष्ठ 241)*

[266]

प्रश्न—जब स्वाश्रय करे, तब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है अथवा जब सम्यग्दर्शन हो, तब स्वाश्रय प्रगट होता है ?

उत्तर—जिस पर्याय ने स्वाश्रय किया, वह स्वयं ही सम्यग्दर्शन है; अत: उसमें पहले-पीछे का भेद ही नहीं है। जो पर्याय स्वाश्रय में ढ़ली, वही सम्यग्दर्शन है। स्वाश्रितपर्याय और सम्यग्दर्शन भिन्न-भिन्न नहीं हैं। त्रिकाली स्वभावाश्रित ही मोक्षमार्ग है।

(आत्मधर्म, अंक 78, चैत्र 2478, पृष्ठ 110)

[267]

प्रश्न—आपश्री के द्वारा बताया गया आत्मा का माहात्म्य आने पर भी कार्य क्यों नहीं होता ?

उत्तर—अन्दर जो अपूर्व माहात्म्य आना चाहिए, वह नहीं आता। एकदम उल्लसित होकर अन्दर से जो महिमा आनी चाहिए, वह नहीं आती। भले धारणा में महात्म्य आता हो। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 29)*

[268]

प्रश्न—वास्तविक माहात्म्य लाने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर—एक आत्मा की ही यथार्थ में अन्दर से रुचि जगे और भव के भावों की थकान लगे तो आत्मा का अन्दर से माहात्म्य आये बिना रहता ही नहीं। वास्तव में जिसे आत्मा चाहिए ही, उसको आत्मा मिलता ही है। श्रीमद् ने भी कहा है—'छूटने का इच्छुक बँधता नहीं है'। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 29)*

[269]

प्रश्न—उपयोग में उपयोग है—इसका क्या मतलब ?

उत्तर—उपयोग में उपयोग अर्थात् सम्यग्दर्शन की निर्विकल्प परिणति में उपयोग अर्थात् त्रैकालिक आत्मा आता है, ज्ञात होता है। आत्मा तो आत्मारूप-उदासीनरूप में विद्यमान ही है, निर्विकल्प होने पर शुद्धोपयोग में त्रैकालिक उपयोगस्वरूप आत्मा जाना जाता है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 31)*

[270]

प्रश्न—विकल्पसहित निर्णय करना सामान्य श्रद्धा और निर्विकल्प अनुभव करना विशेष श्रद्धा - क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नहीं; श्रद्धा में सामान्य-विशेष का भेद है ही नहीं। अखण्ड आत्मा की निर्विकल्प अनुभवसहित प्रतीति करना, वही सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन करनेवाले जीव को प्रथम 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है'—ऐसा विकल्पसहित निर्णय होता है, तत्पश्चात् जब निर्विकल्प अनुभव करता है, तब पहले के विकल्पसहित किये गए निर्णय को व्यवहार कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक 398, दिसम्बर 1976, पृष्ठ 14)*

[271]

प्रश्न—स्वानुभव करने के लिए छह मास अभ्यास करना बताया, वह अभ्यास क्या करना ?

उत्तर—'राग, वह मैं नहीं; ज्ञायक वह मैं हूँ'—इस प्रकार ज्ञायक की दृढ़ता जिसमें हो, वैसा बारम्बार अभ्यास करना। *(आत्मधर्म, अंक 398, दिसम्बर 1976, पृष्ठ 15)*

[272]

प्रश्न—आत्मा की रुचि हो और सम्यग्दर्शन न हो सके तो दूसरे भव में होगा क्या ?

उत्तर—आत्मा की सच्ची रुचि हो, उसे सम्यग्दर्शन होगा ही-अवश्य होगा। यथार्थ रुचि और लक्ष्य होने पर सम्यग्दर्शन न हो, यह तीन काल में नहीं हो सकता। वीर्य में हीनता नहीं होनी चाहिए, वीर्य में उत्साह और नि:शङ्कता होनी चाहिए। कार्य होगा ही—इस प्रकार हमारे निर्णय में आना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक 421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 24-25)*

[273]

प्रश्न—धारणाज्ञान में यथार्थ जाने तो सम्यक्सन्मुखता कही जाये या नहीं ?

उत्तर—धारणाज्ञान में दृढ़ संस्कार अपूर्व रीति से डाले, पहले कभी नहीं डाले हो—ऐसे अपूर्व रीति से संस्कार डाले जावें तो सम्यक्सन्मुखता कही जाये।

(आत्मधर्म, अंक 440, जून 1980, पृष्ठ 32)

[274]

प्रश्न—अन्तर में उतरने के लिए रुचि की आवश्यकता है या कोई अन्य भूल है जिसके कारण अन्दर में नहीं उतर पाता ?

उत्तर—अन्तर में उतरने के लिए सच्ची रुचि की आवश्यकता है, किन्तु इस रुचि के सम्बन्ध में अन्य कोई कुछ नहीं कह सकता है, स्वयं से ही निर्णय होना चाहिए। सच्ची रुचि हो तो आगे बढ़ता जाये और अपना कार्य कर ले।

(आत्मधर्म, अंक 441, जुलाई 1980, पृष्ठ 30)

[275]

प्रश्न—क्या नवतत्त्व का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय है ? नवतत्त्व के विचारक को किसका अवलम्बन है ?

उत्तर—नवतत्त्व का विचार पाँच इन्द्रियों का विषय नहीं है, पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से नवतत्त्व का निर्णय नहीं होता अर्थात् नवतत्त्व का विचार करनेवाला जीव पञ्चेन्द्रिय के विषयों से तो हट गया है। अभी मन का अवलम्बन है, परन्तु वह जीव, मन

के अवलम्बन में अटकना नहीं चाहता, वह तो मन का अवलम्बन भी छोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना चाहता है। स्वलक्ष्य से राग का नकार और स्वभाव का आदर करनेवाला भाव, निमित्त और राग की अपेक्षा से रहित भाव है, उसमें जो भेद के अवलम्बन की रुचि छोड़कर अभेद स्वभाव के अनुभव करने की रुचि का जोर वर्त रहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है। *(आत्मधर्म, अंक 93, अषाढ़ 2477, पृष्ठ 185)*

[276]

प्रश्न—नवतत्त्व का विचार तो पहले अनन्त बार कर चुके हैं, फिर भी लाभ क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—भाई! पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, उससे इसमें कुछ विशेषता है। पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, वह तो अभेदस्वरूप के लक्ष्य बिना किया था, जबकि यहाँ अभेदस्वरूप के लक्ष्यसहित की बात है। पहले अकेले मन के स्थूल विषय से नवतत्त्व के विचाररूप आँगन तक तो अनन्त बार आया है, परन्तु उससे आगे बढ़कर, विकल्प तोड़कर, ध्रुव चैतन्यतत्त्व में एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ से वञ्चित् रहा; इसलिए भवभ्रमण खड़ा रहा।

(आत्मधर्म, अंक 93, अषाढ़ 2477, पृष्ठ 185)

[277]

प्रश्न—शुभभाव में गर्भित शुद्धता कही गई है, उसी प्रकार मिथ्याश्रद्धान में गर्भित शुद्धता है क्या ?

उत्तर—नहीं; मिथ्याश्रद्धानयुक्त पर्याय विपरीत ही है, उसमें गर्भित शुद्धता नहीं है। ज्ञान में निर्मलता विशेष है, ज्ञान के अंश को निर्मल कहा है और वह वृद्धिंगत होकर केवलज्ञान होता है। तथा शुभ में गर्भित शुद्धता का अंश कहा है, किन्तु ग्रन्थिभेद (सम्यग्दर्शन) होने के बाद ही वह शुद्धता काम करती है। *(आत्मधर्म, अंक 409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 15)*

[278]

प्रश्न—''घटघट अन्तर जिन बसै, घटघट अन्तर जैन''—इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से तो 'जिन' ही है। घटघट अन्तर जैन—अर्थात्

गृहस्थाश्रम में रहते हुए चक्रवर्ती के 96000 रानियाँ होती हैं, इन्द्र के करोड़ों अप्सरायें होती हैं, अनेक प्रकार के वैभव बाह्य में होते हैं; तथापि सम्यग्दृष्टि अन्दर में जैन है, राग से भिन्न पड़ा होने से सच्चा जैन है। और जिसने बाहर से हजारो स्त्रियाँ छोड़ दी हो, त्यागी बन गया हो, किन्तु राग से भिन्न न हुआ हो तो वह वास्तविक जैन नहीं है। उसने राग को मन्द तो किया है, किन्तु राग से भिन्नत्व अनुभव नहीं किया, इसलिए जैन नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक 429, जुलाई 1979, टाईटल पृष्ठ 3)

[279]

प्रश्न—राग से छुटकारा कैसे मिले ?

उत्तर—एकान्त दु:ख के जोर से राग से छुटकारा मिल जाये—ऐसा बनता नहीं। हाँ, द्रव्यदृष्टि के जोर से राग से छुटकारा मिल सकता है। आत्मा को पहिचाने बिना, जाने बिना जावे कहाँ ? आत्मा को जाना हो, उसका अस्तित्व ग्रहण किया हो, तो राग से छूटकर आत्मा में लीन हो सकता है। *(आत्मधर्म, अंक 424, फरवरी 1979, पृष्ठ 28)*

[280]

प्रश्न—आत्मा की रुचिवाला जीव मरकर देव में ही जाता है न ?

उत्तर—हाँ, तत्त्व की रुचि है, वाचन-श्रवण है, भक्ति, पूजा आदि है—इनका करनेवाला तो देव ही होता है। कोई साधारण हो तो वह मनुष्य होता है।

(आत्मधर्म, अंक 439, मई 1980, पृष्ठ 29)

[281]

प्रश्न—देव होता है तो कैसा देव होता है ?

उत्तर—वह तो अपनी योग्यतानुसार भवनत्रिक या वैमानिक में जाये, तथा आत्मानुभवी तो वैमानिक में ही जाये। *(आत्मधर्म, अंक 439, मई 1980, पृष्ठ 29)*

सम्यग्दर्शन एवं उसके विषय को स्पष्ट करनेवाली पूज्य गुरुदेवश्री की एक विशिष्ट तत्त्वचर्चा

सम्यग्दर्शन का विषय - एक स्पष्टीकरण

इस ग्रन्थ के अन्त में दी गयी है।

[6]

सम्यग्ज्ञान

(282)

प्रश्न—सम्यग्ज्ञान प्रगट करने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर—चैतन्य समान्य द्रव्य पर दृष्टि करना चाहिए और उसके पहिले सात तत्त्वों का स्वरूप इसके ख्याल में आना चाहिए। विकल्पसहित सात तत्त्वों का निर्णय होना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 27)*

(283)

प्रश्न—द्वादशांग का सार क्या है ?

उत्तर—अनन्त केवली, मुनिराज और सन्त ऐसा कहते हैं कि स्वद्रव्य का आश्रय करो और परद्रव्य का आश्रय छोड़ो। स्वभाव में रत हो और परभाव से विरक्त। यही बारह अङ्ग का सार है। *(आत्मधर्म (हिन्दी), जुलाई 1978, पृष्ठ 26)*

(284)

प्रश्न—एक आत्मा के ही सन्मुख होना है तो इसके लिए इतने अधिक शास्त्रों की रचना आचार्यदेव ने क्यों की ?

उत्तर—इस जीव की भूलें इतनी अधिक हैं कि उन्हें बतलाने के लिए इतने अधिक शास्त्रों की रचना हुई है; की नहीं गयी है, पुद्गल से हुई है।

(आत्मधर्म, अंक 445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 32)

(285)

प्रश्न—पर के लक्ष्य से आत्मा में नहीं जाते—यह तो ठीक है, तो क्या शास्त्र-वाँचन से भी आत्मा में नहीं जाते ?

उत्तर—हाँ, शास्त्र वाँचने के विकल्प से भी आत्मा में नहीं जाते।

(आत्मधर्म, अंक 413, मार्च 1978, पृष्ठ 25)

(286)

प्रश्न—तो क्या हमें शास्त्र नहीं वाँचना चाहिए ?

उत्तर—आत्मा के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना—ऐसा श्री प्रवचनसार में कहा है तथा श्री समयसार की प्रथम गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि तू अपनी पर्याय में सिद्धों की स्थापना करके सुन। इसका अर्थ यह हुआ कि तू सिद्धस्वरूप है—ऐसी श्रद्धा-प्रतीति करके सुन। सिद्धस्वरूप में दृष्टि जोड़ी है अर्थात् सुनते और वाँचते हुए भी स्वरूप में एकाग्रता की वृद्धि होगी। *(आत्मधर्म, अंक 413, मई 1978, पृष्ठ 25)*

(287)

प्रश्न—एक स्थान पर तो ऐसा कहा कि आत्मा के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा, और दूसरे स्थान पर ऐसा कहा कि शास्त्र की ओर होनेवाले राग को भी छोड़ दो। ऐसा क्यों ?

उत्तर—पर की तरफ का लक्ष्य बन्ध का कारण होने से शास्त्र की तरफ का राग भी छुड़ाया है और जहाँ आगम का अभ्यास करने के लिए कहा, वहाँ उसे आगमाभ्यास में आत्मा का लक्ष्य है, इसलिए व्यवहार से उस आगमाभ्यास को कल्याण का कारण कहा है। *(आत्मधर्म, अंक 399, जनवरी 1977, पृष्ठ 17)*

(288)

प्रश्न—शास्त्र द्वारा मन से आत्मा जाना हो, उसमें आत्मज्ञान हुआ कि नहीं ?

उत्तर—यह तो शब्दज्ञान हुआ, आत्मा जानने में नहीं आया; आत्मा तो आत्मा से जाना जाता है। शुद्ध उपादान से हुए ज्ञान में साथ में आनन्द आता है; किन्तु अशुद्ध उपादान से हुए ज्ञान में साथ में आनन्द नहीं आता और आनन्द आए बिना आत्मा वास्तव में जानने में नहीं आता। *(आत्मधर्म, अंक 411, जनवरी 1978, पृष्ठ 24)*

(289)

प्रश्न—शास्त्र द्वारा आत्मा को जाना और बाद में परिणाम आत्मा में मग्न हुए—इन दोनों में आत्मा के जानने में क्या अन्तर है ?

उत्तर—अनन्त गुणा अन्तर है। शास्त्र से जानपना किया, यह तो साधारण धारणारूप जानपना है और आत्मा में मग्न होकर अनुभव में आत्मा को प्रत्यक्ष वेदन से जानता है। अत: इन दोनों में भारी अन्तर है। *(आत्मधर्म, अंक 403, मई 1977, पृष्ठ 10)*

(290)

प्रश्न—क्या इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान का कारण नहीं है ?

उत्तर—ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व की लब्धिवाला ज्ञान भी खण्ड-खण्ड ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नहीं। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, इन्द्रियज्ञान वह आत्मा नहीं। आँख से हजारों शास्त्र बाँचे और कान से सुने, वह सब इन्द्रियज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं। आत्मा अतीन्द्रियज्ञान से जाननेवाला है; इन्द्रियज्ञान से जाने, वह आत्मा नहीं। आत्मा को जानने पर जो आनन्द का स्वाद आता है, वह स्वाद, इन्द्रियज्ञान से नहीं आता; अत: इन्द्रियज्ञान आत्मा नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक 412, फरवरी 1978, पृष्ठ 30)*

(291)

प्रश्न—अनुमानज्ञान से आत्मा को जाननेवाले की पर्याय में भूल है या आत्मा जानने में भूल है ?

उत्तर—अनुमानज्ञानवाले ने आत्मा को यथार्थ जाना ही नहीं, अत: आत्मा के जानने में भूल है। स्वानुभव प्रत्यक्ष से ही आत्मा जैसा है, वैसा जानने में आता है। अनुमान से शास्त्र और सर्वज्ञ जैसा कहते हैं, वैसा आत्मा को जानता है, परन्तु यथार्थ तो स्वानुभव में ही ज्ञात होता है। स्वानुभव के बिना आत्मा यथार्थ जानने में नहीं आता।

(आत्मधर्म, अंक 422, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 26)

(292)

प्रश्न—भगवान की वाणी से भी आत्मा जानने में नहीं आता, तो फिर आप ही बतलाइए कि वह आत्मा कैसे जानने में आता है ?

उत्तर—भगवान की वाणी वह श्रुत है—शास्त्र है और शास्त्र पौद्गलिक है, अत: वह ज्ञान नहीं है—उपाधि है, तथा उस श्रुत से होनेवाला ज्ञान भी उपाधि है; क्योंकि उस श्रुत के लक्ष्यवाला ज्ञान, परलक्ष्यी ज्ञान है और परलक्ष्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, स्व को जान सकता नहीं; अत: उसको भी श्रुत के समान उपाधि कहा गया। जिस प्रकार सूत्र-शास्त्र ज्ञान नहीं है, बाहर की चीज है, उपाधि है; उसी प्रकार उस श्रुत के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी बाहर की चीज है, उपाधि है। अहाहा! कैसी अनोखी है, वीतराग की शैली? परलक्ष्यी ज्ञान को भी श्रुत के समान उपाधि कहा है। स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया से आत्मा जानने में आता है, परन्तु भगवान की वाणी से आत्मा जानने में नहीं आता।

(आत्मधर्म, अंक 425, मार्च 1979, पृष्ठ 26)

(293)

प्रश्न—ग्यारह अङ्ग और नव पूर्व का ज्ञानी पञ्च महाव्रत का पालन करे, तथापि आत्मज्ञान करने में अब उसे और क्या शेष रह गया है?

उत्तर—ग्यारह अङ्ग का ज्ञान तथा पञ्च महाव्रत का पालन करने पर भी उसे भगवान आत्मा का अखण्डज्ञान करना शेष रह गया है। ग्यारह अङ्ग का खण्ड-खण्ड इन्द्रियज्ञान किया था, वह खण्ड-खण्ड ज्ञान परवश होने से दु:ख का कारण था। अखण्ड आत्मा का ज्ञान किए बिना वह ग्यारह अङ्ग का ज्ञान नाश को प्राप्त होने पर कालक्रम से वह जीव निगोद में भी चला जाता है। अखण्ड आत्मा का ज्ञान करना ही मूलवस्तु है। इसके बिना भव-भ्रमण का अन्त नहीं। *(आत्मधर्म, अंक 423, जनवरी 1979, पृष्ठ 27)*

(294)

प्रश्न—आचार्यदेव ने केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में किस अपेक्षा से समानता कही है?

उत्तर—जैसे भगवान केवली, केवलज्ञान से आत्मा का अनुभव करने से केवली हैं; वैसे ही हम भी श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से श्रुतकेवली हैं—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। अत: विशेष जानने की आकांक्षा से बस होओ! स्वरूप निश्चलता ही रहते हैं! आहाहा! देखो, मुनि अपनी दशा की बात करते हैं कि केवली की तरह हम भी केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से श्रुतकेवली हैं। जिस प्रकार

अमृतकुण्ड को कोई सूर्य के प्रकाश से देखे और कोई उसी को दीपक के प्रकाश से देखे तो दृष्टिगोचर वस्तु में कोई अन्तर नहीं है; उसी प्रकार केवली तो केवलज्ञान-सूर्य से अमृतकुम्भ आत्मा को देखते हैं और श्रुतकेवली दीपक समान श्रुतज्ञान से अमृतकुम्भ आत्मा को देखते हैं।

यद्यपि सूर्य और दीपक के प्रकाश में अन्तर है, तथापि उनके द्वारा देखी गयी वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा कहकर केवली के साथ समानता की है।

(आत्मधर्म, अंक 425, मार्च 1979, पृष्ठ 28)

(295)

प्रश्न—सूक्ष्म उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर—अन्दर आत्मा ध्रुववस्तु पड़ी है, उसको पकड़नेवाला उपयोग सूक्ष्म है। जो पुण्य-पाप के परिणामों में ही रुक जाये, वह उपयोग स्थूल है।

(आत्मधर्म, अंक 441, जुलाई 1980, पृष्ठ 30)

(296)

प्रश्न—उपयोग सूक्ष्म कैसे हो ?

उत्तर—अन्दर में आत्मवस्तु अचिन्त्य सामर्थ्यवाली पड़ी है, उसकी रुचि करे तो उपयोग सूक्ष्म होकर अन्दर में झुकता है। *(आत्मधर्म, अंक 441, जुलाई 1980, पृष्ठ 30)*

(297)

प्रश्न—धारणा का विषय आत्मा है या नहीं ?

उत्तर—बाहर के उघाड़ में होनेवाली धारण का विषय आत्मा नहीं है। किन्तु सम्यक्-मतिज्ञान में आत्मा को जानकर जो धारण हुई है, उसका विषय आत्मा है; इस धारण से ज्ञानी पुनः-पुनः आत्मा का स्मरण करता है।

(आत्मधर्म, अंक 405, जुलाई 1977, पृष्ठ 23)

(298)

प्रश्न—स्मरण होता है अर्थात् निर्विकल्पदशा हो जाती है।

उत्तर—स्मरण ही निर्विकल्पता है। निर्विकल्प स्मरण में अतीन्द्रिय आनन्द की माला फिरती है। इस निर्विकल्प स्मरण से मोह छूटता है; विकल्प से मोह नहीं छूट सकता। *(आत्मधर्म, अंक 405, जुलाई 1977, पृष्ठ 23)*

(299)

प्रश्न—सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान में भेद और उनका फल बतलाते हुए स्पष्ट कीजिए कि सम्यग्दृष्टि इनमें से अपना ज्ञान किसे मानता है ?

उत्तर—विषयों में एकाकार हुए ज्ञान को विशेषज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान कहते हैं और उनका लक्ष्य छोड़कर अकेले सामान्यज्ञान -स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न हुए ज्ञान को सामान्यज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ज्ञानस्वभाव में एकाकार होकर प्रगट हुये ज्ञान को सामान्यज्ञान-वीतरागीज्ञान कहते हैं, उसी को जैनशासन अथवा आत्मानुभूति कहते हैं। सामान्यज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है। विशेषज्ञान अर्थात् इन्द्रियज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता; अपितु आकुलता और दु:ख का स्वाद आता है।

परद्रव्य का अवलम्बन लेकर जो ज्ञान होता है, वह विशेषज्ञान है। भगवान की वाणी सुनकर जो ज्ञान हुआ, वह इन्द्रियज्ञान है — विशेषज्ञान है; वह आत्मा का ज्ञान— अतीन्द्रियज्ञान—सामान्यज्ञान नहीं। ज्ञानी को आत्मा का ज्ञान हुआ है, उस सामान्यज्ञान को ज्ञानी अपना ज्ञान जानता है और पर को जानता हुआ इन्द्रियज्ञान को अनेकाकाररूप परसत्तावलम्बी ज्ञान होता है, उसको अपना ज्ञान नहीं मानता। जैसे परज्ञेय को अपना नहीं मानता; वैसे ही पर के ज्ञान को भी अपना ज्ञान नहीं मानता। जिसमें आनन्द का स्वाद आता है, ऐसे आत्मज्ञान को ही अपना ज्ञान मानता है।

(आत्मधर्म, अंक 424, फरवरी 1979, पृष्ठ 22 /29)

(300)

प्रश्न—आत्मज्ञान हो जाने पर तो यह व्रतादि राग है, ऐसा भासित हो जाता है, परन्तु प्रथम तो आत्मज्ञान जल्दी होता नहीं है न ?

उत्तर—जल्दी का क्या अर्थ ? इसका अभ्यास करना चाहिए कि राग क्या है ?

आत्मा क्या है ? मैं त्रिकाल टिकनेवाली चीज कैसी हूँ ? इत्यादि अभ्यास करके, ज्ञान करके, राग से भिन्न आत्मा का अनुभव करना—यह पहली वस्तु है। आत्मा को जाने बिना समस्त क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान चैतन्य का पुँज प्रभु है। उसका ज्ञान न हो, अन्तर-दशा का वेदन न हो, तब तक उसका क्रियाकाण्ड सब झूठा है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है। अत: सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक 412, फरवरी 1978, पृष्ठ 28)*

(301)

प्रश्न—अपने हो सत् का ज्ञान करना क्यों महत्वपूर्ण है, पर-सत् का क्यों नहीं ?

उत्तर—अपनी अपेक्षा से अन्य सभी परद्रव्य असत् हैं, स्वयं ही सत् है। स्वयं ही अपना ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप सत् है; अत: अपने ही सत् का ज्ञान करना। अपने सत् का ज्ञान करने से अतीन्द्रिय आनन्द की झलक आये बिना नहीं रहेगी। यदि आनन्द न आवे तो उसने अपने सत् का सच्चा ज्ञान किया ही नहीं। मूल में तो अन्तर में झुकना—रमणता करना ही सर्व सिद्धान्त का सार है। *(आत्मधर्म, अंक 420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 27)*

(302)

प्रश्न—क्या खण्ड-खण्ड ज्ञान-इन्द्रियज्ञान भी संयोग रूप है ?

उत्तर—हाँ, वास्तव में तो खण्ड-खण्ड ज्ञान भी त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से संयोगरूप है। जैसे इन्द्रियाँ, संयोगरूप हैं; वैसे वह भी संयोगरूप है। जिस प्रकार शरीर, ज्ञायक से अत्यन्त भिन्न है; उसी प्रकार खण्ड-खण्ड ज्ञान—इन्द्रियज्ञान भी ज्ञायक से भिन्न है, संयोगरूप है; स्वभावरूप नहीं। *(आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर 1978, पृष्ठ 24)*

(303)

प्रश्न—क्या ज्ञानी की प्ररूपणा में असत् की प्ररूपणा भी आती है ?

उत्तर—नहीं, ज्ञानी की वाणी में असत् की प्ररूपणा नहीं आती। ज्ञानी के अस्थिरता तो होती है, किन्तु उसकी प्ररूपणा में असत् कथन नहीं आता। व्यवहार से निश्चय होता है, राग से लाभ होता है अथवा राग से धर्म होता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य कर

सकता है—ऐसी प्ररूपणा को असत् प्ररूपणा कहते हैं।

(आत्मधर्म, अंक 413, मार्च 1978, पृष्ठ 23)

(304)

प्रश्न—पञ्चास्तिकाय को अर्थीरूप से सुने—इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—अर्थीरूप से अर्थात् सेवक होकर, दास होकर सुनना। जैसे किसी बड़े आदमी के पास याचक होकर माँगा जाता है; उसीप्रकार गुरु के पास पात्र शिष्य याचक होकर सुनता है। मैं भी कुछ जानता हूँ—इस प्रकार अभिमानपूर्वक नहीं सुनता, किन्तु गरजमन्द होकर अपना हित करने के लिए सुनता है। अपने ज्ञान में पञ्चास्तिकाय को जानता है—निर्णय करता है। *(आत्मधर्म, अंक 428, जून 1978, पृष्ठ 24-25)*

(305)

प्रश्न—परसत्तावलम्बी ज्ञान शुद्धात्मा का निर्णय करता है, क्या वह ज्ञान भी व्यर्थ है ?

उत्तर—परोन्मुख ज्ञान से सविकल्प निर्णय होता है, वह वास्तव में शुद्धात्मा का निर्णय नहीं कहा जाता। स्वसन्मुख होकर निर्विकल्पता में जो निर्णय होता है, वही शुद्धात्मा का सच्चा निर्णय है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1979, पृष्ठ 25)*

(306)

प्रश्न—जो सविकल्प ज्ञान किनारे तक ले जाता है, उसको व्यर्थ क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—सविकल्प ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। स्व-सन्मुख ज्ञान से शुद्धात्मा का स्वानुभावपूर्वक निर्णय होता है। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 26)*

(307)

प्रश्न—व्यवस्थित जानना ज्ञान का स्वभाव है क्या ?

उत्तर—आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उसकी केवलज्ञानादि पाँच पर्यायें हैं। केवलज्ञान अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को जानता है; उसी प्रकार मतिज्ञान भी अपने गुण के

व्यवस्थित कार्य को जानता है, पर के कार्य को भी व्यवस्थित जानता है। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान भी अपने-अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को तथा पर के कार्य को भी व्यवस्थित जानते हैं। व्यवस्थित जानना ही उनका स्वभाव है।

आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप है अर्थात् उसकी पर्याय, गुण और द्रव्य-बस, मात्र ज्ञाता ही हैं, फेरफार करनेवाले नहीं। अपने में भी कोई फेरफार करना नहीं है। जैसा व्यवस्थित कार्य होता है, वैसा जानता है। अहाहा! देखो तो सही! वस्तु ही ऐसी है। अन्दर में तो खूब गम्भीरता से चलता है, परन्तु कथन में तो....।

(आत्मधर्म, अंक 427, मई 1979, पृष्ठ 30)

(308)

प्रश्न—वर्तमान पर्याय में अधूरा ज्ञान है, उस अधूरे ज्ञान में पूरे ज्ञानस्वभाव का ज्ञान कैसे हो?

उत्तर—जैसे आँख छोटी होने पर भी सारे शरीर को जान लेती है, उसी प्रकार पर्याय में ज्ञान का विकास अल्प होने पर भी, यदि वह ज्ञान स्व-सन्मुख हो तो पूर्णज्ञानस्वरूपी शुद्धात्मा को स्वसंवेदन से जान लेता है। केवलज्ञान होने से पहले अपूर्णज्ञान में भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से पूर्ण-ज्ञानस्वरूपी आत्मा का नि:सन्देह निर्णय होता है।

जैसे ज्ञान बाहर में स्थूल पदार्थों को जानने में अटक रहा है; वैसे ज्ञान को यदि अन्तर्मुख करो तो वह ज्ञान, आत्मा को जानता है। जैसे शक्कर की अल्पमात्रा से सम्पूर्ण शक्कर के स्वाद का निर्णय हो जाता है, वैसे ही ज्ञान की अल्प पर्याय को अन्तर्मुख करने पर उसमें पूर्णज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। पूर्णज्ञान होने पर ही पूर्ण आत्मा को जाना जाये - ऐसी बात नहीं है। यदि अपूर्ण ज्ञान पूर्ण आत्मा को न जान सके, तो कभी भी सम्यग्ज्ञान ही नहीं हो सके; इसलिए अपूर्ण ज्ञान भी स्वसन्मुख होकर पूर्ण आत्मा को जान लेता है तथा प्रतीति करता है; ऐसा ज्ञान उसे प्रतीति करे, तभी सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है। *(आत्मधर्म, अंक 104, ज्येष्ठ 2478, पृष्ठ 165)*

(309)

प्रश्न—उपयोग का पर से हनन नहीं होता—इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—प्रवचनसार गाथा 172 में अलिङ्गग्रहण के नौवें बोल में 'उपयोग का पर से हनन नहीं होता'—ऐसी बात आयी है। उसमें पर के द्वारा तो उपयोग का हनन अर्थात् नाश नहीं होता, परन्तु मुनि को चारित्रदशा होती है और वे स्वर्ग में जाते हैं, वहाँ चारित्रदशा तो नाश को प्राप्त हो जाती है तो भी स्व के लक्ष्य से जो उपयोग हुआ है, वह नाश नहीं होता। स्व के लक्ष्य से उपयोग हुआ है, वह तो अप्रतिहत हुआ है—नाश नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक 412, फरवरी 1978, पृष्ठ 30)

संसार में उसका जीवन प्रशंसनीय है।

जैसे माता से बिछुड़े हुए बालक को 'मेरी माँ, मेरी माँ'-ऐसे अपनी माता का ही रटन हुआ करता है। कोई उससे पूछे कि तेरा नाम क्या? तो कहेगा कि 'मेरी माँ'। कोई उसे खाने को पूछे तो कहेगा कि 'मेरी माँ'—इस प्रकार वह माता की ही रटन करता है। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को अन्तर में आत्मा की दरकार जगे, आत्मा की ही रटन और आत्मा की चिन्ता का मनोमन्थन प्रगट करे, आत्मा के अतिरिक्त दूसरे की रुचि अन्तर में होने न दे, उसका जीवन धन्य है। अहो! पूर्ण चिदानन्दस्वरूप मेरा आत्मा है, उसका भान और प्राप्ति जब तक न हो, तब तक यथार्थ शान्ति और सुख नहीं होता। अभी तक का अनन्त काल आत्मा के भान बिना भ्रान्ति में गँवाया, अब एक क्षण भी गँवाना नहीं है - ऐसे आत्मा की चिन्तावाला जीव दूसरे किसी की रुचि नहीं करता। जो चैतन्यस्वभाव का भान प्रगट करके उसे ध्यान में ध्याता है, उसकी महिमा की क्या बात करना! उसने तो कार्य प्रगट कर लिया है, इसलिए वह कृतकृत्य है परन्तु जिसने उसके कारणरूप रुचि प्रगट की है कि अहो! मेरा कार्य कैसे प्रगटे? आनन्दकन्द आत्मा का अनुभव न्दर से कैसे प्रगटे? ऐसी जिसे चिन्ता प्रगटी है, उस आत्मा का जीवन भी, सन्त आचार्य कहते हैं कि धन्य है! संसार में उसका जीवन प्रशंसनीय है। *—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

[7]

सम्यक्चारित्र

(310)

प्रश्न—धर्म क्या है ? अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग क्या है ?

उत्तर—'**चारित्तं खलु धम्मो**' अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है, वही साक्षात् मोक्षमार्ग है। *(आत्मधर्म, अंक 194, मगसर 2486, पृष्ठ 5)*

(311)

प्रश्न—चारित्र का अर्थ क्या है ?

उत्तर—शुद्ध-ज्ञानस्वरूप आत्मा में चरना / प्रवर्तन करना, वह चारित्र है।

(आत्मधर्म, अंक 194, मगसर 2486, पृष्ठ 5)

(312)

प्रश्न—ऐसे चारित्र के लिए प्रथम क्या होना चाहिए ?

उत्तर—चारित्र के लिए प्रथम तो स्व-पर के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करना चाहिए, क्योंकि उसमें एकाग्र होना है। वस्तु के स्वरूप का निश्चय किए बिना उसमें स्थिर कैसे होगा ? इसलिए प्रथम जिसमें स्थिर होना है, उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय करना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक 194, मगसर 2486, पृष्ठ 5)*

(313)

प्रश्न—'**चारित्तं खलु धम्मो**' अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है—ऐसा कहा, उस चारित्र का स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रथम क्या होना चाहिए ?

उत्तर—शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा में चरना-प्रवर्तना, वह चारित्र है। चारित्र के लिए

प्रथम तो स्व-पर के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करना चाहिए; क्योंकि जिसमें एकाग्र होना है, उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय किए बिना उसमें स्थिर कैसे होगा? अत: जिसमें स्थिर होना हो, उस वस्तु के स्वरूप का प्रथम ही निश्चय करना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक 194, मगसर 2489, पृष्ठ 5)

(314)

प्रश्न—वस्तु के स्वरूप का निश्चय किस प्रकार करना चाहिए?

उत्तर—इस जगत में मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। मेरे से भिन्न जगत् के समस्त जड़-चेतन पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। विश्व के पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मेरा नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं और मैं किसी के कार्य का कर्ता नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावसामर्थ्य से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप से परिणमित हो रहा है, उसके साथ मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो जीव ऐसा निर्णय करता है, वही पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर निजस्वरूप में उपयोग को जोड़ता है और उसे ही स्वरूप में चरणरूप चारित्र होता है। इस प्रकार चारित्र के लिए प्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक 194, मगसर 2486, पृष्ठ 5)

(315)

प्रश्न—ऐसा समझने पर तो कोई जीव व्रत और त्याग करेगा ही नहीं?

उत्तर—कौन त्याग करता है और किसका त्याग करता है? परवस्तु का तो ग्रहण-त्याग कोई जीव कर नहीं सकता, मात्र अपने विकार का ही त्याग करना है।

(आत्मधर्म, अंक 54, चैत्र 2474, पृष्ठ 87)

(316)

प्रश्न—विकार का त्याग कौन कर सकता है?

उत्तर—जिसको विकार से भिन्न स्वभाव की प्रतीति हुई हो, वही जीव विकार का त्याग कर सकता है। राग से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग का त्याग कैसे करेगा? सम्यग्दर्शन द्वारा राग से भिन्न स्वभाव की श्रद्धा करने के पश्चात् ही राग का यथार्थरूप से त्याग हो सकता है। जो जीव अपने शुद्धस्वभाव को तो जानता नहीं है और राग के साथ

एकत्व मानता है, वह जीव, राग का त्याग नहीं कर सकता; इसलिए इसे समझने के बाद ही सच्चा त्याग हो सकता है। सच्चा त्याग तो सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। मिथ्यादृष्टि को तो किसका त्याग करें और किसको ग्रहण करें – इसका भान ही नहीं है, अत: उसे त्याग कैसा ?। *(आत्मधर्म, अंक 54, चैत्र 2474, पृष्ठ 87)*

(317)

प्रश्न—पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करनेवाला जीव कैसा होता है ?

उत्तर—वह जीव अपने आत्मा को कृतनिश्चय, निष्क्रिय तथा निर्भोग देखता है। उसे स्व-पर के स्वरूप सम्बन्धी सन्देह दूर हो गया है। परद्रव्य की किसी भी क्रिया को वह आत्मा की नहीं मानता तथा अपने आत्मा को, परद्रव्य मे प्रवृत्तिरूप क्रिया से रहित—निष्क्रिय देखता है; परद्रव्य के उपभोग रहित निर्भोग देखता है। ऐसे अपने स्वरूप को देखता हुआ वह जीव, सन्देह तथा व्यग्रता रहित होता हुआ निजस्वरूप में एकाग्र होता है। निजस्वरूप की धुन का धुनी होकर उसमें स्थिर होता है। इस प्रकार वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को ही चारित्र होता है। *(आत्मधर्म, अंक 194, मगसर 2486, पृष्ठ 5)*

(318)

प्रश्न—मोक्षमार्ग की साधक मुनिदशा किसे होती है ?

उत्तर—उपरोक्तानुसार वस्तुस्वरूप का निश्चय करके उसमें जो एकाग्र होता है, उसी को श्रामण्य होता है। *(आत्मधर्म, अंक 194, मगसर 2486, पृष्ठ 5)*

(319)

प्रश्न—श्रामण्य का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर—श्रामण्य का दूसरा नाम है मोक्षमार्ग। जहाँ मोक्षमार्ग है, वहीं श्रामण्य है। जिसे मोक्षमार्ग नहीं है, उसे श्रामण्य भी नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक 194, मगसर 2486, पृष्ठ 5)*

(320)

प्रश्न—मुनिराज तो महाव्रतादि पालते हैं, उन्हें आस्रवभाव क्यों कहा है ? वे तो चारित्र हैं ?

उत्तर—धवला भाग 1 और 12 में आता है कि मुनि पञ्च महाव्रत को 'भुक्ति' अर्थात् भोगते हैं, परन्तु पञ्च महाव्रत को करते हैं अथवा पालते हैं—ऐसा नहीं कहा। जैसे जगत् के जीव अशुभराग को भोगते हैं, वैसे ही मुनि भी शुभराग को भोगते हैं। समयसारादि अध्यात्मशास्त्रों में तो ऐसा लेख आता ही है, परन्तु व्यवहार के ग्रन्थ धवला में भी, मुनि पञ्च महाव्रत के शुभराग को भोगते हैं - ऐसा कहा है। कम्बल या गलीचा आदि पर छपा हुआ सिंह किसी को मार नहीं सकता, वह तो कथनमात्र ही सिंह है। उसी प्रकार अन्तर्जल्प-बाह्यजल्प बाह्यक्रियारूप चारित्र है, वह कथनमात्र चारित्र है, सच्चा चारित्र नहीं है; कारण कि वह आत्मद्रव्य के स्वभावरूप नहीं है, पुद्गलद्रव्य के स्वभावरूप होने से वह कर्म के उदय का कार्य है। भले ही अशुभ से बचने के लिए शुभ होता है, परन्तु है तो वह बन्ध का ही कारण, मोक्ष का कारण तो है नहीं।

(आत्मधर्म, अंक 409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 13/14/15)

(321)

प्रश्न—अभेद स्वरूप आत्मा की अनुभूति हो जाने के बाद व्रतादि करने से क्या लाभ ?

उत्तर—शुद्धात्मा का अनुभव होने के बाद पञ्चम्-षष्ठम् गुणस्थानों में उस-उस प्रकार का राग भूमिकानुसार आये बिना नहीं रहता। वह शुभराग बन्ध का ही कारण है और हेय है—ऐसा ज्ञानी जानता है। शुद्धता की वृद्धि अनुसार कषाय घटती जाती होने के कारण व्रतादि का शुभराग आये बिना रहता ही नहीं—ऐसा ही स्वभाव है।

(आत्मधर्म, अंक 413, मार्च 1978, पृष्ठ 24)

(322)

प्रश्न—व्रत-तप आदि सब विकल्प हैं तो इन्हे करना या नहीं ?

उत्तर—करने, न करने की बात नहीं। सम्यग्दर्शन के बाद पाँचवें गुणस्थान में वे विकल्प आते हैं, वे शुभराग हैं, धर्म नहीं; ऐसा ज्ञानी जानते हैं। मिथ्यादृष्टि को ऐसे विकल्प आने पर शुभराग से पुण्य बँधता है, परन्तु वह उस राग से धर्म मानता है, उसे अपना स्वरूप मानता है; अत: मिथ्यात्व भी बँधता हैं। शुभ छोड़कर अशुभ में जाने की बात नहीं है, परन्तु

शुभराग अपना स्वरूप नहीं—ऐसा जानकर शुद्धता प्रगट करने की बात है।

(आत्मधर्म, अंक 401, मार्च 1977, पृष्ठ 23-24)

(323)

प्रश्न—सच्चा समताभाव किसे होता है ?

उत्तर—स्व-पर तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप समझे नहीं और वस्तु को पराधीन माने, उसे सच्चा समताभाव नहीं हो सकता। वस्तुस्वरूप को पराधीन मानने की मान्यता में ही अनन्त विषमभाव पड़ा है। भले बाहर से क्रोधी न दिखायी पड़े और मन्दकषाय रखता हो, तथापि जहाँ वस्तुस्वरूप का भान नहीं है, वहाँ समता का अंश भी नहीं होता। आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनादर ही महान विषमभाव है। प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नहीं। मेरा स्वभाव तो मात्र सबको जानने का है; इस प्रकार वस्तु स्वातन्त्र्य को जानकर अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना ही सच्चा समभाव है। *(वीतराग-विज्ञान (हिन्दी), नवम्बर 1983, पृष्ठ 25-26)*

(324)

प्रश्न—इस धर्म में कहीं त्याग या ग्रहण करने की बात तो आयी ही नहीं ?

उत्तर—इसमें ही यथार्थ ग्रहण-त्याग की बात आ जाती है। ग्रहण या त्याग किसी बाह्यवस्तु का तो हो नहीं सकता, वह तो अन्तर में ही होता है। बाह्यवस्तु को ग्रहण-त्याग कर सकने की मान्यता तो अधर्म है। भले ही ऐसी मान्यतावाला जीव, हरितकाय का त्यागी हो और भगवान के नाम का जप करता हो, तथापि वह अधर्मी है। मैं परवस्तु का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ अथवा राग और मन्दकषाय से मुझे धर्म होगा—ऐसी विपरीत मान्यता का त्याग और जड़ एवं विकार से भिन्न अन्तर में अपना स्वभाव पूर्ण ज्ञायकमूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता का ग्रहण ही धर्म है। श्रद्धा में पूर्ण-स्वभाव का ग्रहण और अपूर्णता का त्याग धर्म है। *(आत्मधर्म, अंक 55, वैशाख 2474, पृष्ठ 118)*

(325)

प्रश्न—त्याग, वह जैनधर्म है या नहीं ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनपूर्वक जितने अंश में वीतरागभाव प्रगट हुआ, उतने अंश में कषाय का त्याग हुआ। सम्यग्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म हैं और मिथ्यात्व व कषाय का त्याग नास्तिरूप धर्म है। सम्यग्दर्शनरहित त्याग धर्म नहीं है, यदि मन्दकषाय हो तो पुण्यबन्ध है।

(आत्मधर्म, अंक 51, पोष 2474, पृष्ठ 44)

(326)

प्रश्न—धर्म और अधर्म का आधार किस पर है ?

उत्तर—एक तरफ संयोग और दूसरी तरफ स्वभाव—दोनों एक ही समय हैं। वहाँ दृष्टि किस पर पड़ी है—इस पर धर्म-अधर्म का आधार है। संयोग पर दृष्टि है तो अधर्म होता है और स्वभाव पर दृष्टि है तो धर्म होता है।

(आत्मधर्म, अंक 105, अषाढ़ 2478, पृष्ठ 177)

(327)

प्रश्न—धर्म का आचरण क्या है ?

उत्तर—स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ना और पर के साथ सम्बन्ध तोड़ना अर्थात् जैसा अपना स्वभाव है, वैसा जानकर श्रद्धा -ज्ञान में स्वीकार करना दर्शन व ज्ञान का आचरण है, तत्पश्चात् उसी स्वभाव में उपयोग की एकाग्रता करना चारित्र का आचरण है। इसी आचरण से धर्म होता है, अन्य कोई धर्म का आचरण नहीं है।

(वीतराग-विज्ञान (हिन्दी), जनवरी 1984, पृष्ठ 19)

(328)

प्रश्न—सामायिक कितने प्रकार की है ? उनमें से चतुर्थ गुणस्थान में कौन-कौन सी है ?

उत्तर—सामायिक चार प्रकार की है। ज्ञान सामायिक, दर्शन सामायिक, देशविरत सामायिक और सर्वविरत सामायिक। अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव का आदर करना और विकार का आदर नहीं करना ज्ञान-दर्शनरूप सामायिक है। पहले मिथ्यात्व के कारण ऐसा मानता था कि 'पुण्य भला और पाप बुरा' 'अमुक से लाभ और अमुक से हानि', तब श्रद्धा और ज्ञान में विषमभाव था। अब कोई भी परपदार्थ मुझे लाभ-हानिकारक नहीं, पुण्य-पाप दोनों

ही मेरे स्वरूप नहीं—ऐसी स्वभावाश्रित सम्यक् श्रद्धा होने पर, ज्ञान -दर्शन में समभाव प्रगट हुआ। दया-भाव हो या हिंसा-भाव हो, वह मेरा स्वरूप नहीं है; त्रिकाली चैतन्यभाव - वह मैं हूँ—ऐसी स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना, वह श्रद्धा-ज्ञानरूप सामायिक है। यह सामायिक आरम्भ-परिग्रह में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि के भी होती है और सदा विद्यमान है, मात्र दो घड़ी की नहीं। तत्पश्चात् स्वभाव की लीनतारूप भाव प्रगट हो और रागादि मिटें, तब देशविरतिरूप सामायिक (श्रावक को) होती है और बहुत स्वरूप लीनता प्रगट होने पर सर्वसंग परित्यागी मुनिदशा प्रगट होती है, वह सर्वविरतिरूप सामायिक है।

(आत्मधर्म, अंक 55, वैशाख 2474, पृष्ठ 115)

(329)

प्रश्न—क्या अकेला चारित्र ही ध्यान है अथवा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान भी ध्यान के प्रकार हैं ?

उत्तर—शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा करना, वह भी परमात्मस्वभाव का ही ध्यान है। सम्यग्दर्शन भी स्वरूप की ही एकाग्रता है और सम्यग्ज्ञान भी ध्यान ही है और सम्यक्चारित्र भी ध्यान है। ये तीनों स्वाश्रय की एकाग्रतारूप ध्यान के ही प्रकार हैं और पराश्रय की एकाग्रता वह मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। ध्यान की ही मुख्यता से यह शास्त्र में वर्णन है। परमात्मस्वभाव के ध्यान से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान भी चैतन्य की एकाग्रतारूप ध्यान से ही होता है और सम्यक्चारित्र भी उस ध्यान से ही होता है परन्तु किसी विकल्प की प्रवृत्ति से अथवा जड़ की क्रिया से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र नहीं होते। राग की एकाग्रता छोड़कर स्वरूप की एकाग्रता करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। अकेले ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करते ही रागादि की चिन्ता टूट जाती है, वही 'एकाग्र चिन्तानिरोध' रूप ध्यान है और वही मोक्षमार्ग है।

(आत्मधर्म, अंक 78, चैत्र 2476, पृष्ठ 109)

(330)

प्रश्न—ध्यान पर्याय को द्रव्य से कथंचित् भिन्न क्यों कहा है ?

उत्तर—समयसार गाथा 320 में जयसेनाचार्य ने ध्यान को कथंचित् भिन्न कहा है।

उसका अर्थ 'पर' की अपेक्षा से ध्यान पर्याय वह स्वयं की है, इसलिए अभिन्न है और शाश्वत् ध्रुव द्रव्य की अपेक्षा से ध्यान पर्याय विनाशीक होने से भिन्न हैं।

वास्तव में तो द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न हैं। *(आत्मधर्म, अंक 391, मई 1976, पृष्ठ 27)*

(331)

प्रश्न—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत—ऐसे धर्मध्यान के चार प्रकार हैं, उनमें कितने सविकल्प हैं और कितने निर्विकल्प हैं ?

उत्तर—परमार्थ से तो चारों ही प्रकार के धर्मध्यान निर्विकल्प है, क्योंकि जब विकल्प छूटकर उपयोग स्व में स्थिर हो, तभी वास्तविक धर्मध्यान कहलाता है। पहले पिण्डस्थ अर्थात् देह में स्थित शुद्ध आत्मा; पदस्थ अर्थात् शब्द के वाच्यरूप शुद्ध आत्मा; रूपस्थ अर्थात् अरिहन्त सर्वज्ञदेव तथा रूपातीत अर्थात् देहातीत सिद्ध परमात्मा—इन चार प्रकार के स्वरूप का अनेक प्रकार से चिन्तवन, दूसरे विकल्प में से छूटकर मन को एकाग्र करने के अवसर पर आवे, उसे व्यवहार से धर्मध्यान कहा जाता है।

इस भाँति चार प्रकार के सविकल्प चिन्तवन को व्यवहार से धर्मध्यान कहा, परमार्थ धर्मध्यान तो निर्विकल्प है। परमार्थ धर्मध्यान वीतराग है और वही मोक्ष का साधक है। *(आत्मधर्म, अंक 261, जुलाई 1965, पृष्ठ 26-27)*

(332)

प्रश्न—'परमात्मप्रकाश' में परमात्मा के ध्यान करने को धर्म-ध्यान कहा है—वह कैसे ?

उत्तर—परमात्मा का ध्यान करने को कहकर अपने ही आत्मा का ध्यान करने को कहा है, अपने से भिन्न परमात्मा का नहीं। परमात्मा के समान ही अपना स्वभाव परिपूर्ण रागादि रहित है, उसको पहिचानकर उसका हो ध्यान करना—यही परमार्थ से परमात्मा का ध्यान है। इसके अतिरिक्त अरिहन्त और सिद्ध का लक्ष्य करना सच्चा धर्मध्यान नहीं है, किन्तु राग है और परमार्थ से राग तो आर्तध्यान है; अत: उससे कभी भी धर्मध्यान नहीं हो सकता। *(आत्मधर्म, अंक 77, फाल्गुन 2476, पृष्ठ 96)*

(333)

प्रश्न—स्थिरता (चारित्र) को निकट का उपाय क्यों कहा है ?

उत्तर—क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी मोक्ष का उपाय है, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्थिरता मोक्ष का साक्षात् उपाय है; इसी कारण स्थिरता को मोक्ष का निकट का उपाय कहा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् भी स्वरूप में स्थिरता के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। *(वीतराग-विज्ञान (हिन्दी), अप्रैल 1984, पृष्ठ 27)*

(334)

प्रश्न—स्वामीकार्तिकेय मुनिराज कहते हैं कि जिनवचन की भावना के लिए इन भावनाओं की रचना की है—इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—पहले 'जिनवचन क्या है'—यह निर्णय करना चाहिए। जिनवचन में कहे गये द्रव्य-गुण-पर्याय—इन तीनों का स्वरूप जैसा है, वैसा समझकर और प्रतीति करके धर्मी जीव इन भावनाओं को भाता है; उसमें उसको वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी आनन्द का अंश प्रगट है।

बारह भावनाओं का चिन्तन ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि का कारण है। बारह भावनायें भानेवाले की योग्यता कितनी ! कि जिसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ भान हो, वही वास्तव में बारह भावनायें भा सकता है। सम्यग्दर्शन के बिना ये बारह भावनायें यथार्थ नहीं होती।

जिनवचन की भावना के अर्थ ये भावानाएँ रची हैं अर्थात् जिनवचनानुसार वस्तुस्वरूप का भान जिसे हुआ हो, उसे ही ये भावनाएँ होती हैं। जिनवचन से विरुद्ध कहनेवाले कुदेव, कुगुरु कुशास्त्र को जो मानता हो; उसको बारह भावनाओं का चिन्तवन सच्चा नहीं होता। *(आत्मधर्म, अंक 105, अषाढ़ 2478, पृष्ठ 176)*

(335)

प्रश्न—संसारभावना का अर्थ क्या संसार की भावना करना है ?

उत्तर—नहीं; संसारभावना में संसार की भावना या रुचि नहीं है; रुचि और भावना तो स्वभाव की ही है। धर्मी जीव अपने स्वभाव की दृष्टि रखकर, संसार का स्वरूप

चिन्तवन करके, वैराग्य की वृद्धि करता है, इसका नाम संसारभावना है। अन्तर्तत्त्व के भान बिना द्वादश-भावना यथार्थ नहीं होती। *(आत्मधर्म, अंक 105, अषाढ़ 2478, पृष्ठ 175)*

(336)

प्रश्न—मोक्ष का कारण समभाव है। वह समभाव करें तो मोक्ष होगा न?

उत्तर—समभाव अर्थात् वीतरागता। यह वीतरागता द्रव्य को पकड़े तब हो। द्रव्य के आश्रय बिना वीतरागता नहीं होती। समभाव का कारण वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा है, उसका आश्रय करने और पर का आश्रय छोड़ने से मोक्ष होता है। यह अति संक्षिप्त कथन है। *(आत्मधर्म, अंक 445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 31)*

(337)

प्रश्न—त्याग, जैनधर्म है कि नहीं?

उत्तर—सम्यग्दर्शनपूर्वक जितने अंश में वीतरागभाव प्रगट हो, उतने अंश में कषाय का जो त्याग होता है, उसे धर्म कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म है और उसी समय मिथ्यात्व और कषाय का त्याग, वह नास्तिरूप धर्म है। किसी भी दशा में सम्यक्त्व रहित त्याग से धर्म नहीं होता, यदि मन्दकषाय हो तो पुण्य होता है।

(आत्मधर्म, अंक 51, पोष 2474, पृष्ठ 44)

(338)

प्रश्न—आत्मा की क्षमा कैसे होती है?

उत्तर—अनन्त गुणमय-ज्ञानानन्दमय आत्मा का स्वरूप पहचानने से आत्मा की क्षमा होती है। आत्मा में कोई विभाव नहीं—वह तो क्षमा का सागर, शान्ति का सागर है। यद्यपि अनन्त काल में अनन्त भाव हुए, निकृष्ट से निकृष्ट भाव भी हुए, तथापि आत्मा तो क्षमा का भण्डार है। उसे पहचानने से ही सच्ची क्षमा होती है।

(आत्मधर्म, अंक 450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 28)

(339)

प्रश्न—अहिंसा को परमधर्म कहा है, उसका अर्थ क्या?

उत्तर—परजीवों की दया का भाव तो राग है और राग से स्व की हिंसा होती है तथा राग से लाभ मानने में चैतन्य प्रभु का अनादर है। जिस अहिंसा को परमधर्म कहा है; वह तो आत्मा की पर्याय में रागादि की उत्पत्ति ही न होवे—वह है, वही वीतरागी अहिंसा धर्म है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, गाथा 44 में कहा कि आत्मा में रागादि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा और उनकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है। ऐसी बात पात्र जीव के बिना किसे रुचे ?

(आत्मधर्म, अंक 425, मार्च 1979, पृष्ठ 30-31)

भव से छुटकारे की अपूर्व बातें हैं...

आहा! चैतन्यप्रभु समीप विराजता है, उस पर नजर नहीं और पर्याय पर नजर-दृष्टि रखने से चैतन्यप्रभु प्रगट नहीं होता। भले पर्याय में जानपना बहुत खिला है और व्यवहारश्रद्धा आदि पर्याय में हुई है, परन्तु उसे पर्याय की दृष्टि रखने से चैतन्यप्रभु के दर्शन नहीं होते। यह तो पर्याय की दृष्टि से मर जाये, तब दृष्टि हो-ऐसी बात है! ज्ञान की पर्याय में शास्त्रज्ञान का विकास हुआ है, उसका भी लक्ष्य छोड़ दे! यह ज्ञान, वह आत्मा का ज्ञान नहीं। परसत्तावलम्बी ज्ञान में जिसे उत्साह आता है, वह ज्ञेय निमग्न है; उसे ज्ञानस्वरूप में मग्नता नहीं आती। जिसे क्षयोपशम का अभिमान है, वह सब ज्ञेयनिमग्न है, ज्ञाननिमग्न नहीं। यह तो भव से छुटकारे की अपूर्व बातें हैं। प्रभु! ज्ञायकभाव में दृष्टि को स्थिर कर! द्रव्य में अनन्त सामर्थ्य भरी है, वहाँ दृष्टि को स्थिर कर! निगोद से लेकर केवलज्ञान और सिद्धदशा तक की किसी पर्याय में शुद्धदृष्टि का विषय नहीं। शुद्धदृष्टि का विषय अखण्ड द्रव्यस्वभाव है। वहाँ तेरी दृष्टि को स्थिर कर-झुका! दृष्टि को द्रव्य में ही स्थिर करने से आगे बढ़ा जाता है।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[8]

मोक्षमार्ग

(340)

प्रश्न—मोक्षमार्ग तो दो प्रकार का है न?

उत्तर—मोक्षमार्ग दो प्रकार का है - एक व्यवहार और दूसरा निश्चय। निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार परम्परा है। अथवा सविकल्प-निर्विकल्प के भेद से निश्चयमोक्षमार्ग भी दो प्रकार का है। मैं अनन्त ज्ञानस्वरूप हूँ, एक हूँ, अखड हूँ, ध्रुव हूँ —ऐसा चिन्तवन सविकल्प निश्चयमोक्षमार्ग है और उसे साधक कहा है तथा सविकल्प चिन्तवन छूटकर निर्विकल्प आत्म-अनुभव होना, निश्चयमोक्षमार्ग है और वह साध्य है।

'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में कहा है कि प्रथम 'मैं शुद्ध हूँ' आदि चिन्तवन से आत्मा में अहंपना धारण करता है, तत्पश्चात् वह विकल्प भी छूटकर निर्विकल्प होता है। इस रीति से सविकल्प चिन्तवन को—सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग को साधक कहा और निर्विकल्प ध्यान को—निर्विकल्प मोक्षमार्ग को साध्य कहा है।

जैसे देव-गुरु-शास्त्र की रागमिश्रित श्रद्धा को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है, किन्तु वह सम्यक्तव है नहीं—है तो वह राग, परन्तु सम्यक्त्व का आरोप करके उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कह दिया है। वैसे ही यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग का आरोप करके सविकल्प चिन्तवन को सविकल्प मोक्षमार्ग कहा है। स्व के आश्रय का विकल्प है, इसलिए उसे साधक कहा है। यहाँ विकल्प है तो बन्ध का ही कारण, तथापि निश्चय का आरोप करके उसे साधक कहा है। 'मैं शुद्ध हूँ' आदि निश्चय के सविकल्प चिन्तवन को निश्चयनय का पक्ष कहा है न! उसी प्रकार यहाँ भी आरोपित कथन किया गया है।

(आत्मधर्म, अंक 398, दिसम्बर 1976, पृष्ठ 18)

(341)

प्रश्न—क्या द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है ?

उत्तर—शास्त्रज्ञान, द्रव्यलिङ्ग है; नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा तथा छह जीवनिकाय का चारित्र भी द्रव्यलिङ्ग है; शरीर का नगनपना भी द्रव्यलिङ्ग है; शास्त्र का विकल्प और पञ्च महाव्रतादि का विकल्प भी द्रव्यलिङ्ग है। इस द्रव्यलिङ्ग में सन्त रुके नहीं और भावलिङ्गरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करके मोक्षमार्ग और मोक्ष को प्राप्त किया। यदि द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का कारण होता तो उसे छोड़कर सन्तजन अन्दर आत्मा के आश्रय में क्यों जाते ? जिस श्रद्धा-ज्ञान को चैतन्यप्रभु का आश्रय नहीं है, वह श्रद्धा-ज्ञान द्रव्यलिङ्ग है, शरीर-आश्रित है; परद्रव्य है, स्वद्रव्य नहीं।

(आत्मधर्म, अंक 410, दिसम्बर 1977, पृष्ठ 25-26)

(342)

प्रश्न—बन्ध का कारण परद्रव्य और मोक्ष का कारण स्वद्रव्य है न ?

उत्तर—बन्ध का कारण परद्रव्य नहीं है, क्योंकि परद्रव्य तो सदा विद्यमान है। यदि वह बन्ध का कारण हो तो निर्बन्ध दशा कभी प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तव में परद्रव्य के प्रति स्वामित्व भाव ही बन्ध-कारण है। स्वद्रव्य भी अनादि से ही है, तथापि मोक्ष आजतक नहीं हुआ; अत: स्वद्रव्य में स्वामित्व भाव होना, मोक्ष का कारण है। स्वद्रव्य में स्वामित्व हो जाने पर यद्यपि परद्रव्य विद्यमान है, तथापि वह बन्ध का कारण है नहीं, उससे बन्ध नहीं होता। अत: सिद्ध हुआ कि स्वद्रव्य में स्वामित्व मोक्ष का और परद्रव्य में स्वामित्व बन्ध का कारण है।

(आत्मधर्म, अंक 413, मार्च 1978, पृष्ठ 26)

(343)

प्रश्न—मोक्ष का कारण परमपारिणामिकभाव है या क्षायिकभाव ?

उत्तर—वास्तव में तो परमपारिणामिकभाव ही मोक्ष कारण है, किन्तु पर्याय से कथन करना हो तो क्षायिक, उपशम, क्षयोपशम को भी मोक्ष का कारण कहा जाता है।

(आत्मधर्म, अंक 431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 15)

(344)

प्रश्न—मार्ग की यथार्थ विधि का क्रम क्या है ?

उत्तर—आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है, उसमें अनन्त गुणस्वभाव हैं, उसकी रुचि हुए बिना उपयोग पर में से पलटकर स्व में आ सकता नहीं। पापभावों की रुचि में जो जीव पड़ा है, उसकी तो यहाँ चर्चा ही नहीं है; यहाँ तो पुण्य की रुचिवाला बाह्य त्याग करे, तप-शील-संयम पालन करे, द्रव्यलिङ्ग यथाविधि धारण करे; तथापि जहाँ तक पर की रुचि अन्तर में पड़ी है, वहाँ तक उपयोग पर की ओर से पलटकर स्व-स्वभाव की ओर नहीं आ सकता। इसलिए पर की रुचि की दिशा बदलने पर ही उपयोग पर से हटकर स्व में आ सकता है। मार्ग की यथार्थ विधि का यही क्रम है।

(आत्मधर्म, अंक 418, अगस्त 1978, पृष्ठ 28)

(345)

प्रश्न—प्रथम अशुभराग टाले और शुभराग करे, तो पश्चात् शुद्धभाव हो—ऐसा क्रम है न ?

उत्तर—नहीं, भाई ! यह क्रम ही नहीं है। प्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, पश्चात् एकदम शुभराग टल नहीं सकता, इसलिए पहले अशुभराग टलकर शुभराग आता है—यह साधक के क्रम की बात है। *(आत्मधर्म, अंक 421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 27)*

(346)

प्रश्न—मध्यस्थता का क्या अर्थ है ? क्या परद्रव्य के समक्ष देखने से मध्यस्थता हो सकती है ?

उत्तर—परद्रव्य के सामने देखते रहने से मध्यस्थता नहीं होती। स्वद्रव्य में लीनता करने पर, समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थता हो जाती है। स्वद्रव्य में लीन रहना, वह अस्ति और परद्रव्य से मध्यस्थता होना, वह नास्ति है।

'मैं समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थ होता हूँ'— ऐसा कहा है। इसमें देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नवतत्त्व का ज्ञान, पञ्च महाव्रतरूप व्यवहाररत्नत्रय का आश्रय - सभी

निकाल दिया है। व्यवहाररत्नत्रय भी परद्रव्य के अवलम्बन से है, इसलिए उसके प्रति भी मैं मध्यस्थ हूँ, अर्थात् उस व्यवहाररत्नत्रय का अवलम्बन छोड़कर, अभेद आत्मा का ही आश्रय करता हूँ। शास्त्र में जहाँ व्यवहाररत्नत्रय को निश्चय का कारण कहा हो, उसे उपचार का कथन जानना चाहिए। यहाँ व्यवहाररत्नत्रय को हेय कहकर उसका आश्रय छुड़ाया है, क्योंकि वास्तव में व्यवहाररत्नत्रय, निश्चय-रत्नत्रय का कारण नहीं है। निश्चयरत्नत्रय का (शुद्धोपयोग का) कारण तो द्रव्यानुसारी परिणति ही है। व्यवहाररत्नत्रय तो शुभोपयोगरूप है, जबकि निश्चयरत्नत्रय शुद्धोपयोगरूप है।

(आत्मधर्म, अंक 94, श्रावणा 2477, पृष्ठ 204)

(347)

प्रश्न—'राग-द्वेष तो धर्म नहीं, अधर्म है'—ऐसा आप कहते हो; अत: जहाँ राग-द्वेष हो, वहाँ धर्म का अंश भी नहीं होना चाहिए?

उत्तर—राग-द्वेष स्वयं धर्म नहीं है, यह बात बराबर है, किन्तु अल्प राग-द्वेष होने पर भी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म हो सकता है। निचलीदशा में सम्यग्ज्ञान के साथ अल्प राग-द्वेष भी होता है, किन्तु ज्ञानी जानता है कि वह अधर्म है। जितना राग-द्वेष रहित स्वसंवेदन हुआ उतना ही धर्म है। राग को धर्म माने, तब तो श्रद्धा-ज्ञान भी मिथ्या ही हैं, परन्तु रागरहित ज्ञानस्वभाव को जानकर उसकी श्रद्धा हुई हो और राग सर्वथा टला न हो तो इससे कहीं श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या नहीं हो जाते। उसी प्रकार वहाँ राग-द्वेषरूप अधर्म है, इसलिए सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान में कोई कमी हो जाती हो—ऐसा भी नहीं है। राग-द्वेष विद्यमान होने पर भी क्षायिक श्रद्धा हो सकती है, कारण यह है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनन्त गुण हैं, वे सर्वथा अभेद नहीं है। पूर्ण की श्रद्धा होने के बाद पूर्णदशा प्रगट होने में समय लगता है, एक साथ नहीं हो जाते परन्तु पूर्णता प्रगट होने का अपना स्वभाव है—यह बात जब प्रतीति में आ जावे, तब अल्प काल में पूर्णता प्रगट हुए बिना रहेगी।

(आत्मधर्म, अंक 96, असोज 2477, पृष्ठ 259)

(348)

प्रश्न—धर्म प्राप्त करने के लिए प्रथम क्या निर्णय करे?

उत्तर—त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से ही धर्म होता है—ऐसा प्रथम निर्णय करना चाहिए, जिससे परलक्ष्यी भाव की अनुमोदना न हो। प्रथम श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् होते हैं और बाद में सम्यक्चारित्र होता है; तथापि क्या करें ? लोग बाह्य क्रियाकाण्ड में चढ़ गए हैं, इसलिए उन्हें कठिन लगता है। आत्मा स्वभाव से तो प्रभु है, क्षण में पलट जायेगा, एक क्षण की भूल है, वह एक क्षण में टल भी सकती है।

(आत्मधर्म, अंक 449, मार्च 1981, पृष्ठ 21)

(349)

प्रश्न—परवस्तु से आत्मा को लाभ-हानि नहीं है। आत्मा के अकल्याण का कारण राग है—ऐसा आप कहते हैं। क्या उस राग से भी अधिक अकल्याण का कारण कोई अन्य भी है ?

उत्तर—कोई भी परवस्तु अथवा देव-गुरु-शास्त्र आदि इस जीव को कल्याण-अकल्याण का कारण नहीं है। मात्र अपनी पर्याय में सच्ची समझ और स्थिरता ही कल्याण का कारण है तथा विपरीत समझ और रागादि ही अकल्याण का कारण है।

यद्यपि राग इस जीव को अकल्याण का ही कारण है; तथापि रागभाव से जितना अकल्याण होता है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुना अकल्याण 'राग से आत्मा को लाभ होता है' अथवा 'राग में धर्म है'—इस विपरीत मान्यता से होता है। ऐसी विपरीत मान्यतावाला जीव, त्यागी और पण्डित होने पर भी महासंसार में भटकता है।

(आत्मधर्म (हिन्दी), जून 1983, पृष्ठ 28)

(350)

प्रश्न—धर्म का प्रारम्भ किसके आश्रय से होता है ?

उत्तर—एक स्वद्रव्य का आश्रय करने से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, इसके विपरीत लाख परद्रव्य का आश्रय करे, तथापि धर्म का प्रारम्भ नहीं हो सकता।

पर्याय, द्रव्य की तरफ ढ़ले, द्रव्य का आश्रय ले—इसी प्रयोजन से समस्त वाँचन, विचार, मनन, श्रवण करना चाहिए, क्योंकि मूल अभिप्राय तो द्रव्य का आश्रय लेना ही है।

(आत्मधर्म, अंक 430, अगस्त 1979, पृष्ठ 24)

(351)

प्रश्न—जीव का मूल प्रयोजन क्या है और उसके कितने प्रकार हैं ?

उत्तर—जीव का मूल प्रयोजन वीतरागभाव है। उस वीतरागभाव के दो प्रकार हैं—(1) दृष्टि में वीतरागता और (2) चारित्र में वीतरागता। प्रथम दृष्टि में वीतरागता होती है। वह कब होती है ?—

मेरे अभेद चैतन्यस्वभाव में राग नहीं; पर्याय में राग होता है, वह सम्यग्दर्शन का - वीतरागी दृष्टि का कारण नहीं। यदि उस राग के साथ एकता की जाए तो मिथ्यात्व का कारण है और उस राग का आश्रय छोड़कर स्वभाव की एकता की जाए तो सम्यक्त्व का कारण है। इस प्रकार जानकर, अभेद स्वभाव की मुख्यता करने पर वीतरागी दृष्टि प्रगट होती है और तब राग का निषेध स्वयं हो जाता है। व्यवहार का आश्रय मानना, वह मिथ्यात्व है और स्वभाव के आश्रय से व्यवहार के आश्रय का लोप करना, वह सम्यग्दर्शन है। (इसके पश्चात् ही वीतरागी चारित्र प्रगट होता है)।

(आत्मधर्म, अंक 47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 239-240)

(352)

प्रश्न—'**द्रव्यानुसारि चरणं, चरणानुसारि द्रव्यं**' अर्थात् द्रव्यानुसारी चरण और चरणानुसारी द्रव्य—इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर—छठे गुणस्थान में जो शुद्धता होती है, वह द्रव्य के ही आश्रय से होती है परन्तु यहाँ राग की मन्दता कितने अंशों में है, उसके ज्ञान से शुद्धता कितनी है—यह देखा जाता है। आश्रय का अर्थ यह नहीं है कि राग के आश्रय से धर्म होता है। शुद्धता जितने प्रमाण में होती है, उतने ही प्रमाण में राग की मन्दता होती है और राग की मन्दता जितनी होती है, उसी प्रमाण में शुद्धता भी अपने अर्थात् शुद्धता के कारण से होती है। इसी को 'द्रव्य अनुसारी चरण तथा चरण अनुसारी द्रव्य होता है'—ऐसा कहा जाता है। ऐसा प्रवचनसार के ज्ञेयतत्वप्रज्ञापन के अन्त में श्लोक 12 में कहा गया है।

(आत्मधर्म, अंक 404, जून 1977, पृष्ठ 22)

(353)

प्रश्न—परद्रव्य के जानने की तरफ परणति जाए, अर्थात् उपयोग बाह्य में भटके, उस समय वीतरागता बनी रहती है अथवा नहीं ?

उत्तर—स्वाश्रय से जितनी वीतराग परणति हुई है, उतनी वीतरागता तो परज्ञेय की तरफ लक्ष्य जाने के समय भी टिकी रहती है, परन्तु साधक को परज्ञेय की तरफ उपयोग के समय पूर्ण वीतरागता नहीं है, अर्थात् राग और विकल्प है, क्योंकि परज्ञेय की ओर उपयोग हो और उस समय सम्पूर्ण वीतरागता हो—ऐसा नहीं बन सकता, वहाँ राग का अवश्य सद्भाव है परन्तु उस भूमिका में जितनी वीतरागता हो चुकी है, उतनी तो हर समय टिकी ही रहती है। जैसे चतुर्थ गुणस्थान में परलक्ष्यी उपयोग के समय भी अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष का तो अभाव ही है; उसी प्रकार छठे गुणस्थान में परलक्ष्य के समय भी तीन कषायों का अभाव होने से तत्सम्बन्धी राग-द्वेष भी नहीं है, अर्थात् इतनी वीतरागता तो हर समय विद्यमान ही रहती है।

केवली भगवान पर को भी जानते हैं, परन्तु उन्हें अपना उपयोग पर में लगाना नहीं पड़ता। उनका उपयोग तो स्व में ही लीन है। *(आत्मधर्म, अंक 261, जुलाई 1965, पृष्ठ 26)*

(354)

प्रश्न—श्रद्धान के दोष और चारित्र के दोष में क्या अन्तर है ?

उत्तर—श्रद्धान के दोष और चारित्र के दोष में महान् अन्तर है। सम्यग्दृष्टि दो भाई युद्ध करें, जीवों को हिंसा हो, तथापि इस शरीर की क्रिया का और राग का कर्ता उनमें से एक भी नहीं, दोनों ज्ञाता ही हैं और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी, एकेन्द्रियजीव का भी घात करे नहीं, तथापि वह काया और कषाय में एकत्वबुद्धिवाला होने से कर्ता है, षट्काय का घातक है।

अहाहा! चारित्र के दोष की अल्पता कितनी कि दो भाई लड़ें तो भी मोक्ष जावें और श्रद्धान के दोष की महानता इतनी कि विपरीत परिणमन के फल में नर्क-निगोद जावें। मूल आत्मदर्शन बिना चाहे जितनी साधुपने की क्रिया करे, किन्तु सभी व्यर्थ है। छह माह के उपवास करे, त्याग करे, फिर भी आत्मज्ञान बिना वह सब शून्य है, रण में पोक समान है।

भाई ! प्रभु का मार्ग अत्यन्त निराला अन्तर का है, इसके समझने में बहुत प्रयत्न चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक 440, जून 1980, पृष्ठ 32-33)

(355)

प्रश्न— श्रद्धा के दोष और चारित्र के दोष के फलों में क्या अन्तर है ?

उत्तर— जिनेन्द्र कथित वस्तुस्वरूप की श्रद्धा से जो भ्रष्ट है, उसकी मुक्ति नहीं होती; चारित्र भ्रष्ट है, उसकी मुक्ति हो जाती है। इसका कारण यह है कि उसे जो चारित्र सम्बन्धी दोष है, उसका उसे बराबर ध्यान है, अत: वह उसका अभाव करके मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो जीव भगवान के द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप की श्रद्धा से भ्रष्ट है, उसकी मुक्ति नहीं होती। चारित्रदोष के सद्भाव में भी किसी सम्यग्दृष्टि को तीर्थङ्करगोत्र का बन्ध प्रतिसमय हो रहा है, यह सम्यग्दृष्टि निकट भविष्य में ही चारित्र का दोष टालकर मोक्षलक्ष्मी का स्वामी होगा। *(आत्मधर्म, अंक 446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 29)*

(356)

प्रश्न— जिनशासन और जैनधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर— जिस श्रुतज्ञान की वीतरागी पर्याय में आत्मा अबद्धस्पष्ट -स्वरूप अनुभव में आवे, उस पर्याय को जिनशासन कहते हैं। जिसमें विकार, अपूर्णता या भेद आवे; उस पर्याय को जिनशासन नहीं कहते। पाँच भावस्वरूप होने पर भी एकरूप आत्मा है, वह जिसके अनुभव में आवे, उसको वीतरागी जैनधर्म कहते हैं। वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, उसमें वीतरागी द्रव्य का आश्रय है, तथापि कर्तापना उस वीतरागी द्रव्य का नहीं है। वीतरागी पर्याय को वीतरागी द्रव्य का आश्रय आया; इसलिए उस पर्याय को पराधीन मत मान लेना। वह वीतरागी पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र कर्तारूप में होकर प्रगट हुई है। अपनी धर्म पर्याय है, उसका कर्ता भी द्रव्य - ध्रुववस्तु उपचार से है। आहाहा ! ऐसी बातें वीतराग की हैं। ये तो अन्दर से आती हैं, भगवान के पास से आती हैं, अनन्त केवलियों की पुकार है। *(आत्मधर्म, अंक 441, जुलाई 1980, पृष्ठ 31-32)*

[9]

ज्ञानी ज्ञावक की अन्तर्बाह्य दशा

(357)

प्रश्न—साधक की अन्तरङ्ग दशा कैसी होती है ?

उत्तर—साधक को एक विकल्प-जिससे तीर्थंकर नामकर्म जैसे जगत को आश्चर्यकारी पुण्य बँधे, तो उस विकल्प के पीछे रहे हुए पवित्र साधकभाव की महिमा की तो क्या बात! ऐसे पवित्रता और पुण्य दोनों की सन्धि, तथापि पवित्रता का भोग धर्मी के अन्तर में समाहित होता है और पुण्य का भोग धर्मी के अन्तर से बाह्य है, उसका भोग धर्मी के अनुभव में नहीं है। वाह! देखो तो नूतन वर्ष की अपूर्व बात!! आहा! साधकभाव... जिसके एक अंश की भी ऐसी अचिन्त्य महिमा है कि तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य जिसे पहुँच नहीं सकता। तीर्थंकर प्रकृति तो पवित्रता के अंश के साथ साधक को रहे हुए विकल्परूप विभाव का फल है, जबकि साधक भाव तो स्वभाव का फल है, दोनों की जाति ही भिन्न है।

(आत्मधर्म, अंक 254, मागसर 2491, पृष्ठ 4-5)

(358)

प्रश्न—ज्ञानी को राग तो होता है, फिर भी उसे वैरागी क्यों कहते हैं ?

उत्तर—प्रथम तो ज्ञानी को परमार्थ से राग होता है ही नहीं; क्योंकि राग के समय ज्ञानी जानता है कि मैं तो ज्ञान हूँ, मेरा आत्मा ज्ञानमय है; रागमय नहीं है, राग मेरे ज्ञान से भिन्न है। इसके अतिरिक्त ज्ञानी को उस राग की रुचि नहीं है। राग मुझे हितकर है—ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। स्वभावसन्मुख-दृष्टि उस समय भी छूटी नहीं है और राग में एकत्वबुद्धि नहीं है; इसलिए ज्ञानी वास्तव में वैरागी ही है।

अज्ञानी तो अकेले राग को ही देखता है; परन्तु उसी समय ज्ञानी का ज्ञान उस राग से भिन्न पड़कर अन्तरस्वभाव में एकाकारपने परिणम रहा है, उसे अज्ञानी नहीं पहचानता।

(आत्मधर्म, अंक 124, महा 2480, पृष्ठ 76)

(359)

प्रश्न—क्या आत्मा की पहचान होते ही वीतराग हो जाता है ?

उत्तर—श्रद्धा अपेक्षा तो वीतराग है। ज्ञानी को अस्थिरता के कारण राग-द्वेष होता है, वह यद्यपि उसके ही पुरुषार्थ का दोष है; तथापि ज्ञानी उस राग को और पुरुषार्थ के दोष को अपने स्वभाव में नहीं मानता। ज्ञानी को तो रागरहित ज्ञानस्वभाव में ही एकत्वबुद्धि है, राग में नहीं।

स्वभाव में एकत्वबुद्धि के कारण वास्तव में राग टूटता ही जाता है और स्वभाव की एकता बढ़ती जाती है; इसलिए ज्ञानी को परमार्थ से राग होता है, वह अपने स्वभाव की एकता ही होती है। जो राग होता है, वह अपने स्वभाव की एकता में न आकर मात्र ज्ञेयरूप ही रह जाता है। राग के समय भी स्वभाव की ही अधिकता के कारण ज्ञानी को एक स्वभाव ही होता है, राग नहीं होता—ऐसी धर्मी जीव की दशा है।

(आत्मधर्म, अंक 55, वैशाख 2474, पृष्ठ 117-118)

(360)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी जीव को तुरन्त ही मुनि पद क्यों नहीं होता ?

उत्तर—आत्मार्थी हठ नहीं करते अर्थात् तुरन्त ही कार्य हो जाने की आकुलता नहीं करते। स्वभाव में हठ काम नहीं आती। मार्ग तो सहज है; हठ से, उतावली से, अधैर्य से मार्ग उपलब्ध नहीं होता। सहज मार्ग पर पहुँचने के लिए धैर्य और विवेक अपेक्षित है। ऋषभदेव भगवान जैसे महान पुरुष को 83 लाख पूर्व तक चारित्रदशा -मुनिदशा नहीं हुई और भरत चक्रवर्ती जैसे को भी 77 लाख पूर्व राज्यपद और 6 लाख पूर्व चक्रीपद रहा।

यह जानते थे कि अन्तरङ्ग में डुबकी लगानेरूप एकाग्रता के चारित्र का पुरुषार्थ अभी नहीं है, इसलिए हठ नहीं करते थे। कुछ जीवों को ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र नहीं लिया तो किस काम का ? किन्तु भाई ! अन्दर स्वभाव में हठ काम नहीं आता, सहज पुरुषार्थ से अन्तर-रमणता होती है। यह बात समझने जैसी है।

(आत्मधर्म, अंक 420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 25-26)

(361)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन होने के बाद साधु-सन्यासी बनना पड़ता है न ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन प्रथम करे, पश्चात् साधु कैसे होते हैं—इसकी खबर पड़े। सम्यग्दर्शन के बाद अन्तरङ्ग में आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है, अतीन्द्रिय आनन्द आने लगता है। जैसे समुद्र में पानी की भरती आती है, उसीप्रकार मुनि दशा में अन्दर आनन्द की भरती आती है। उसी का नाम मुनिदशा है। *(आत्मधर्म, अंक 412, फरवरी 1978, पृष्ठ 28)*

(362)

प्रश्न—(सम्यग्दृष्टि सप्तभय रहित होता है,) किन्तु मुनि तो कहते हैं कि हम भव से डरते हैं—इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—यह तो चर्तुगति के भव का लगा है अर्थात् भव के कारणरूप भाव से डरकर भवरहित भगवान की ओर अन्तर्मुख जाना चाहते हैं; इसलिए ऐसा कहते हैं। वास्तव में उन्हें बाह्य सामग्री का भय नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक 411, जनवरी 1978, पृष्ठ 22)*

(363)

प्रश्न—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के तो भय होता दिखायी पड़ता है और वह उसका उपाय भी करता है न?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि अन्तर में तो निर्भय ही है, बाह्य में भयप्रकृति में जुड़ान होने से अस्थिरता का किञ्चित् भय दृष्टिगोचर होता है, तथापि वह अन्तरस्वरूप में तो निर्भय ही है, अत: सप्तभय से रहित निर्भय है। *(आत्मधर्म, अंक 411, जनवरी 1978, पृष्ठ 23)*

(364)

प्रश्न—सीताजी और अंजनाजी वन में छोड़ते समय भय से रुदन करती थीं न?

उत्तर—यह तो पति का आधार छूटने पर अस्थिरता के कारण किञ्चित् बाह्य में रुदन दिखायी दिया था, तो भी अन्दर में अपना आधार निजचैतन्यस्वभाव ही है—ऐसा जानकर रुदन आदि भय के भाव की कर्ता नहीं थीं; अपितु निर्भय और ज्ञाता ही थीं। प्लेग आदि किसी भयानक रोग का गाँव में प्रसङ्ग हो तो किञ्चित् अस्थिरता व भय के कारण सम्यग्दृष्टि गाँव छोड़कर ग्रामेतर जानें आदि का उपाय भी करता है परन्तु वह अन्दर में स्वभावदृष्टि के जोर की मुख्यता से निर्भय है तथा साथ ही ज्ञान है, वह पर्याय के राग के कण-कण को जैसा है, वैसा जानता है। इसी को अनेकान्त का सच्चा ज्ञान कहते हैं।

(आत्मधर्म, अंक 411, जनवरी 1978, पृष्ठ 23)

(365)

प्रश्न—ज्ञानी भी तो युद्ध में शत्रु आदि मारते देखा जाता है ?

उत्तर—राम बलभद्र हैं, लक्ष्मण नारायण हैं और रावण प्रतिनारायण है। रावण को लक्ष्मण मारते हैं। तत्पश्चात् रावण का दाह-संस्कार करने साथ जाते हैं। वहाँ रावण की पटरानी मन्दोदरी से कहते हैं कि हे माता! हम लोग बलभद्र-नारायण हैं, क्यों करें ? दूसरा कोई उपाय नहीं था, होनहार हुए बिना रहती नहीं हैं। माता! हमें क्षमा करना। राग-द्वेष का प्रवृत्ति तो हुई, किन्तु अन्दर में उसका खेद है। यह हमारा काम नहीं, हम तो अन्दर में रमनेवाले राम हैं। *(आत्मधर्म, अंक 411, जनवरी 1978, पृष्ठ 25-26)*

(366)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि युद्ध में लड़ने के लिए क्यों जाता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि युद्ध के प्रसङ्ग को और तत्सम्बन्धी द्वेष के अंश को परज्ञेयरूप से जानता है, परन्तु उसका कर्ता नहीं है; अत: निर्भय है।

(आत्मधर्म, अंक 411, जनवरी 1978, पृष्ठ 23)

(367)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि को भोग भोगते हुए भी कर्मबन्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि को साता-असातारूप जितनी विषय-सामग्री है, वह सब अनिष्टरूप लगती है। जैसे किसी को अशुभकार्य के उदय से रोग, शोक, दरिद्रता आदि होवे तो वह उनसे छुटकारा पाने का अथक प्रयत्न करता है; तथापि अशुभोदय के कारण छुटकारा मिलता नहीं; भोगना ही पड़ता है।

उसी तरह सम्यग्दृष्टि ने पूर्व में साता-असातारूप कर्म बाँधा है और उसके उदय में अनेक प्रकार की विषय-सामग्री होती है; उन सबको सम्यग्दृष्टि दु:खरूप अनुभव करता है, उन्हें छोड़ने का विशेष प्रयत्न भी करता है, किन्तु जब तक क्षपकश्रेणी चढ़े नहीं, तब तक उनका छूटना अशक्य होने से परवश होकर भोगता है, तथापि अन्तरङ्ग में अत्यन्त विरक्ति होती है। यही कारण है कि भोगसामग्री को भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टि को कर्मबन्ध नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक 411, जनवरी 1978, पृष्ठ 24)

(368)

प्रश्न—ज्ञानी के भोग को भी निर्जरा का कारण बतलाने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—वहाँ भी वीतरागी दृष्टि कराने का ही प्रयोजन है, भोग के राग का पोषण कराने का नहीं। भोग के समय भी ज्ञानी की वीतरागी दृष्टि कैसी अबन्ध होती है, उस समय भी स्वभाव की श्रद्धा कैसी होती है—यह पहिचान कराने का प्रयोजन है।

(आत्मधर्म, अंक 47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 240)

(369)

प्रश्न—भगवान तो परद्रव्य हैं, क्या सम्यक्त्वी भी पर की स्तुति करता है?

उत्तर—भाई! तुमने अभी वीतराग परमात्मा के गुणों की महिमा जान नहीं पायी, इसी कारण ऐसी प्रश्न तुम्हें उठा है। सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति स्तुति का जैसा भाव ज्ञानी को उल्लसित होता है, वैसा अज्ञानी को कदापि नहीं होता। भले ही भगवान हैं तो परद्रव्य; परन्तु अपनी इष्ट-साध्य ऐसी जो वीतरागता और सर्वज्ञता जहाँ भगवान में देखता है, वहाँ उन गुणों के प्रति बहुमान से धर्मी का हृदय उल्लसित हो जाता है।

वीतरागता का जिसे प्रेम है, वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को देखते ही भक्ति में निमग्न हो जाता है। भले ही भक्ति के समय शुभराग है, परन्तु उसमें बहुमान तो वीतराग स्वभाव का ही प्रवाहित हो रहा है। इसी का नाम वीतराग की भक्ति है।

(आत्मधर्म, अंक 257, मार्च 1965, पृष्ठ 23)

(370)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि परद्रव्य से भिन्न और राग को दु:खरूप जानता है; तथापि उसको लड़ाई, व्यापार, विवाहादि का तीव्रराग क्यों होता है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन होने पर भी अभी अस्थिरता का राग है। परद्रव्य की क्रिया तो परद्रव्य के कारण होती है। अशुभराग आता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी का राग नहीं होता, अन्दर तो शुभाशुभराग से विरक्त है। *(आत्मधर्म, अंक 445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 30)*

(371)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि को अशुभराग में अगले भवसम्बन्धी आयु बँधती है क्या?

उत्तर—सम्यगदृष्टि को अशुभराग आता तो है, परन्तु अशुभ के काल में आयु का बन्ध नहीं होता, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को वैमानिक देव में जाना है, इसलिए शुभराग के काल में ही आयुष्य बँधती है। *(आत्मधर्म, अंक 445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 30)*

(372)

प्रश्न—भरतजी ने बाहुबलीजी के ऊपर क्रोध से चक्र छोड़ा, तब भी क्या उनके अन्दर उत्तमक्षमा थी ?

उत्तर—हाँ, भरतजी ने यद्यपि क्रोधावेश में बाहुबलीजी के ऊपर चक्रप्रहार किया था, तथापि उस समय भी भरतजी के अन्दर उत्तमक्षमा विद्यमान थी, क्योंकि उनके अन्दर अनन्तानुबन्ध करनेवाले मिथ्यात्व का अभाव था। इसके विपरीत बाह्य से द्रव्यलिङ्गधारी मुनि हो और कोई वैरी आदि आकर शरीर के खण्ड-खण्ड करे, तथापि बाह्य से क्रोध न करे, तो भी उसके अन्दर में अनन्तानुबन्ध करनेवाले मिथ्यात्व का सद्भाव होने से बाह्य में क्षमा धारण करते हुए भी उत्तमक्षमा नहीं कही जा सकती।

(आत्मधर्म, अंक 432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 27)

(373)

प्रश्न—राजा-महाराजा सरीखे के एक ही रानी और धर्मी सम्यग्दृष्टि के 96 हजार रानियाँ ? फिर भी उसको बन्धन नहीं ?

उत्तर—भाई ! बाहर के पदार्थ बहुत हों तो अधिक बन्ध के कारण और अल्प हों तो अल्प बन्ध के कारण—ऐसा है नहीं। किसी का अधिक परमाणुओं से निर्मित स्थूल शरीर हो तो बन्ध विशेष और कृश शरीर हो तो बन्धन अल्प होता हो—ऐसा नहीं है। परद्रव्यों की अधिकता और अल्पना होना कहीं बन्ध और अबन्ध का कारण नहीं है। बन्ध का कारण तो परद्रव्यों में एकत्वबुद्धि-स्वामित्वबुद्धि का होना ही है, संयोगों की अल्प-बहुत्वता बन्ध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि के 96 हजार रानियाँ, नवनिधान, चौदह रत्नादि वैभव होने पर भी वह चक्रवर्ती राजा धर्मी होने के कारण उन सबको अपना नहीं मानता; अतः वे परद्रव्य उसको बन्ध का कारण नहीं होते।

इसके विपरीत एक रानीवाला राजा हो अथवा रानियों का त्यागी द्रव्यलिङ्गी मुनि हो, तथापि परद्रव्यों में स्वामित्व स्थापित करनेवाला सदैव मिथ्यात्वरूपी महापाप का बन्धक

होता ही है। अन्दर में राग में एकत्वबुद्धि पड़ी है, वही बन्ध का कारण है। संयोगों का अल्पाधिक आगमन तो उनके अपने कारण से है; आत्मा उनका कर्ता नहीं है। पूर्व पुण्य के कारण अनुकूल बहुत संयोगों की प्राप्ति होना बन्ध का कारण नहीं है। परद्रव्यों का संयोग विशेष होने पर भी उनसे बन्ध होता नहीं है—ऐसा कहकर परद्रव्यों से बन्ध होने की शङ्का छुडाई है, कहीं स्वच्छन्दी होने के लिए ऐसा कथन नहीं किया गया है—यह विशेष ध्यान रखने की बात है। स्वच्छन्दता का पोषण तो जिनागम में कहीं है ही नहीं। यहाँ तो दृष्टि के विषय की विशेषता बतलाई है। अधिक संयोग हो तो हानि और संयोग छूट जायें तो धर्मलाभ हो जाये - ऐसा है ही नहीं। *(आत्मधर्म, अंक 432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 31-32)*

(374)

प्रश्न—क्या सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री और माता को भी समान मानता है?

उत्तर—स्वभावदृष्टि से देखने पर सभी जीव समान हैं। स्त्री का जीव मात्र स्त्रीपर्याय जितना ही नहीं है, किन्तु पूर्ण चैतन्य भगवान है और माता का जीव भी उसीप्रकार परिपूर्ण है। एकरूप स्वभावदृष्टि में कोई माता या स्त्री है ही नहीं। सिद्ध या निगोद, एकावतारी या अनन्त संसारी, स्त्री या माता - सभी जीव परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप एक समान हैं—ऐसी स्वभावदृष्टि में अनन्त वीतरागभाव आ जाता है।

(आत्मधर्म, अंक 55, वैशाख 2474, पृष्ठ 115-116)

(375)

प्रश्न—यदि सम्यगदृष्टि जीव जब स्त्री को भी चैतन्यपरमेश्वर मानता है, तो राग छोड़कर एकतरफ क्यों नहीं बैठ जाता?

उत्तर—स्वभावदृष्टि से तो सम्यग्दृष्टि एकतरफ ही बैठा है। एक तरफ बैठने की व्याख्या क्या? परद्रव्य में तो कोई आत्मा बैठता नहीं, अज्ञानी जीव विकार में ही अपनापन मानकर स्थित हुआ है; जबकि ज्ञानी जीव संयोग और विकार से अपने स्वभाव को भिन्न जानकर स्वभाव की एकता में स्थित है।

ज्ञानी की जो स्त्री आदि सम्बन्धी राग होता है, उस राग से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करता है और राग का आदर नहीं करता; इसलिए ज्ञानी जीव वास्तव में अपने स्वभाव में ही बैठा है। *(आत्मधर्म, अंक 55, वैशाख 2474, पृष्ठ 116)*

(376)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान में शुभाशुभ दोनों भाव हेय हैं, तो क्या उसे अशुभ को छोड़कर शुभ करने का विकल्प नहीं आता?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि शुद्धनिश्चयनय से मैं मोह-राग-द्वेष रहित शुद्ध हूँ। उसे ऐसा विकल्प कभी नहीं आता कि जब शास्त्र में शुभ और अशुभ दोनों को एक समान कहा है तो भले ही अशुभ आ जावे—क्या हानि है? सम्यग्दृष्टि अशुभ से बचने के लिए वाँचन, श्रवण मनन, भक्ति आदि बराबर करता है। प्रयत्नपूर्वक भी अशुभ छोड़कर शुभ करो-ऐसा शास्त्र में उपदेश वाक्य भी आता है।

यद्यपि शुभ और अशुभ परमार्थ से समान ही हैं, तथापि अपनी भूमिकाप्रमाण अशुभ की अपेक्षा शुभ में रहने का विवेक होता है और उस प्रकार का विकल्प भी आता है। अरे भाई! सम्यग्दृष्टि को पाप भाव में स्वच्छन्दता नहीं होती।

(आत्मधर्म, अंक 414, अप्रैल 1978, पृष्ठ 23)

(377)

प्रश्न—ज्ञानी को अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव आता है—इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—ज्ञानी को जो शुभभाव आता है, वह अशुभ से बचने के लिए आता है—ऐसा जो कहने में आता है, वह तो लोगों को जरा सन्तोष हो जाये; इसलिए कहने में आता है। वास्तव में देखा जाय तो वह शुभराग उसके अपने आने के काल में ही आता है।

(आत्मधर्म, अंक 427, मई 1979, पृष्ठ 33)

(378)

प्रश्न—तो फिर प्रायश्चित क्यों करने में आता है?

उत्तर—यह सब कथनमात्र की बता है, कथन की पद्धति है। वास्तव में तो ऐसे विकल्प आने का काल था, अत: वही आया और वाणी भी ऐसी ही निकलनेवाली थी, अत: वही निकली। अधिक सूक्ष्म में जावें तो वास्तव में शुभविकल्प तथा प्रायश्चित की वाणी निकलना अथवा गुरुवाणी निकलना, यह सब पुद्गल का स्वाभाविक कार्य है—आत्मा का कार्य नहीं, आत्मा तो मात्र ज्ञानस्वभावी है। *(आत्मधर्म, अंक 427, मई 1979, पृष्ठ 33)*

(379)

प्रश्न—स्वानुभव में से विकल्प में आने के पश्चात् ज्ञाता-दृष्टा में कुछ फेर पड़ता है क्या?

उत्तर—स्वानुभव में से जब विकल्प में आता है, तब भी केवली की भाँति ज्ञाता-दृष्टा ही है। अनुभव में केवली के समान ज्ञाता-दृष्टा है और विकल्प में आ जाने पर भी ज्ञाता-दृष्टा ही है। विकल्प आता है, वह भी छूटा हुआ ही है। केवली पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा हैं और यह नीचेवाला अल्प ज्ञाता-दृष्टा है, परन्तु हैं तो दोनों ज्ञाता-दृष्टा ही।

(आत्मधर्म, अंक 427, मई 1979, पृष्ठ 33)

(380)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की दृष्टि शुभाशुभ के काल में भी ध्रुव पर ही रहती है या च्युत हो जाती है?

उत्तर—जिसको द्रव्यदृष्टि प्रकट हुई है - ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि सदा ध्रुवतल पर ही रहती है। स्वानुभूति के काल में—ध्यान में आनन्द के काल में, विकल्प छोड़कर अनुभव के काल में और शुभ-अशुभ में उपयोग हो तब भी, दृष्टि तो ध्रुवतल के ऊपर ही होती है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती 96 हजार स्वीवृन्द में खड़ा हो, तथापि उसकी दृष्टि तो अन्दर ध्रुवतल में ही रहती है, विकल्प पर नहीं। बाहुबली के साथ भरत का युद्ध हुआ, दोनों सम्यग्दृष्टि थे, दोनों का उपयोग उस समय युद्ध में था; तथापि उनकी दृष्टि उस समय ध्रुवतल से खिसकी नहीं थी, दृष्टि तो सहजपने ध्रुवतल के ऊपर ही थी। शुभाशुभ के उपयोगकाल में भी दृष्टि ध्रुव पर से हटती नहीं है। श्रेणिकराजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, कारागार में माथा फोड़कर मरे थे, तथापि उस काल में भी ध्रुवतल के ऊपर से उनकी दृष्टि छूटी नहीं थी। द्रव्यदृष्टि की महिमा अपार और अचिन्त्य है।

(आत्मधर्म (हिन्दी), अंक 446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 28)

(381)

प्रश्न—ज्ञानी को शुभराग आता है, तो क्या वह शुद्धात्मा को भूल जाता है?

उत्तर—मुमुक्षु जीव शुभराग में जुड़ान करता है, परन्तु शुद्धात्मा की शोधकवृत्ति का अभाव नहीं होता। मुमुक्षु जीव को दया-दान-पूजा-भक्ति आदि के शुभभाव आते अवश्य

हैं, परन्तु उसकी वृत्ति और झुकाव शुद्धात्मा की तरफ ही रहता है, शुभभाव में तल्लीनता नहीं होती। ज्ञानी के जिनस्वरूपी भगवान आत्मा की शोधकवृत्ति नहीं जाती, तथा शुद्धात्मा का ध्येय छोड़कर शुभराग का आग्रह नहीं रहता। शुभराग से लाभ होगा – ऐसा मानता नहीं, और पर्याय की अशुद्धता भी भूलता नहीं, स्वच्छन्द करता नहीं।

(आत्मधर्म, अंक 425, मार्च 1979, पृष्ठ 33)

(382)

प्रश्न—शुभराग को ज्ञानी हेय मानता है, तो फिर षोड़शकारण –भावनाओं को क्यों भाता है ?

उत्तर—ज्ञानी षोड़शकारणभावनाओं को भाता नहीं है, परन्तु उसे उस प्रकार का राग आ जाता है। वास्तव में ज्ञानी को भावना तो स्वरूप में स्थिर होने की ही होती है; किन्तु जब पुरुषार्थ हीनता से स्वरूप में ठहर नहीं पाता, तब हेयबुद्धि से शुभराग आ जाता है। विचारपूर्वक देखा जाए तो ज्ञानी उन भावाओं का जाननेवाला ही है; कर्ता नहीं।

(आत्मधर्म, अंक 425, मार्च 1979, पृष्ठ 29)

(383)

प्रश्न—ज्ञानी परवस्तु अथवा राग में फेरफार करने की बुद्धि नहीं रखता – यह तो ठीक, किन्तु अपनी निर्मल पर्याय तो करना चाहता है ?

उत्तर—ज्ञानी को अपनी निर्मल पर्याय के फेरने के ऊपर भी लक्ष्य नहीं है। द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होने पर पर्याय स्वयं निर्मलपने फिर जाती है। धर्मी पर को, शरीर की क्रिया को फेरता नहीं, विकल्प को फेरता नहीं और जिस समय जो पर्याय होती है, उसे भी फेरने की बुद्धि नहीं, अर्थात् उसके तो पर्याय के ऊपर की दृष्टि ही छूट गई है। मात्र वस्तुस्वभाव के सन्मुख बुद्धि होने पर राग टलकर वीतरागरूप में पर्याय पलट जाती है। कुछ भी फेरफार नहीं करना है। वस्तुस्वभाव को जैसा का तैसा रखकर स्वयं स्वभावदृष्टि से निर्मलरूप में पलट जाता है। इसके अतिरिक्त पदार्थों में अथवा अपनी अवस्था में कुछ भी फेरफार करने की बुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है। *(आत्मधर्म, अंक 79, वैशाख 2476, पृष्ठ 124)*

(384)

प्रश्न—धर्मी साधकजीव राग का वेदक है या ज्ञाता है ?

उत्तर—साधकजीव का ज्ञान राग में जाता है, उस दु:ख को वेदता है तथा ज्ञान में रहता है, उस सुख को भी वेदता है। *(आत्मधर्म, अंक 446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 30-31)*

(385)

प्रश्न—ज्ञानी दु:ख का ज्ञायक है या वेदक है ?

उत्तर—ज्ञानी को दु:ख जानने में भी आता है और वेदन भी होता है। जैसे आनन्द का वेदन है; उसी प्रकार जितना दु:ख है, उतना दु:ख का भी वेदन है।

(आत्मधर्म, अंक 409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 21)

(386)

प्रश्न—क्या सम्यग्दृष्टि भी सर्वज्ञ की तरह आग को मात्र जानता ही है ?

उत्तर—जिस प्रकार सर्वज्ञ को लोकालोक ज्ञेय है, लोकालोक को सर्वज्ञ जानता है; उसी प्रकार जिसने सर्वज्ञस्वभावी को दृष्टि में लिया है—ऐसा सम्यग्दृष्टि, सर्वज्ञ के समान राग को जानता ही है। सर्वज्ञ को जानने में लोकालोक निमित्त है; उसी तरह सम्यग्दृष्टि को जानने में राग निमित्त है। सम्यग्दृष्टि राग को करता नहीं है, किन्तु लोकालोक के ज्ञाता सर्वज्ञ की तरह वह राग को जानता ही है। ऐसी वस्तुस्थिति है और ऐसे ही अन्दर से आती है और बैठती है। यह बात तीनकाल तीनलोक में बदल जाये—ऐसी नहीं है। अन्य किसी प्रकार से भी वस्तु की सिद्धि हो सकती नहीं। यह तो अन्दर से ही आयी हुई वस्तुस्थिति है।

(आत्मधर्म (हिन्दी), अगस्त 1979, पृष्ठ 25)

(387)

प्रश्न—ज्ञानी को तो दु:ख का वेदन होता ही नहीं है न ?

उत्तर—ज्ञानी को भी जितना राग है, उतना दु:ख है। ज्ञानी को जितना कषाय है, उतना दु:ख का वेदन भी है। शास्त्र में जो यह कहा है कि ज्ञानी को दु:ख का वेदन नहीं है, वह तो श्रद्धा के जोर की—बल की अपेक्षा से कहा है। एक तरफ तो ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में बन्ध है ही नहीं और फिर ऐसा भी कहते हैं कि चौदहवें गुणस्थान तक संसारी है। भाई ! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन शास्त्र में किया गया हो, उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक 446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 31)*

(388)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि के तीन कषाय विद्यमान हैं, उसे नरक में दु:ख विशेष है या स्वर्ग में?

उत्तर—वास्तव में तो स्वर्ग-नरक के संयोग का दु:ख नहीं है, किन्तु अपने परिणाम कषाय में जब जुड़ते हैं, तब उससे दु:ख होता है। नरक विशेष दु:ख का कारण हो —ऐसा नहीं है; किन्तु प्रतिकूलता में तीव्र जुड़ान होता है, उसका विशेष दु:ख है। जितना पर में लक्ष्य जाता है, उतना दु:ख है। वह दु:ख का परिणाम संयोग के कारण नहीं हुआ है, किन्तु अपने से ही हुआ है। *(आत्मधर्म, अंक 441, जुलाई 1980, पृष्ठ 31)*

(389)

प्रश्न—(चौथे गुणस्थान में) तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक् कहा है, चारित्र को नहीं कहा?

उत्तर—चारित्र की पर्याय: पाँचवें-छठे गुणस्थान से मुख्यतया मानी जाती है, चौथेवाले को स्वरूपाचरणचारित्र प्रकट हुआ है। *(आत्मधर्म, अंक 446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 24)*

(390)

प्रश्न—चौथे गुणस्थान में अनुभव भी होता है या अकेली श्रद्धा ही होती है?

उत्तर—चौथे गुणस्थान में आनन्द के अनुभवसहित श्रद्धान होता है।

(आत्मधर्म, अंक 446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 28)

(391)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प होता है, तभी आनन्द का अनुभव करता है, शेषकाल तो प्रमाद में ही होता है न?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि सदाकाल शुद्धता में ही वर्तता है। भले निर्विकल्प उपयोग न हो और राग में प्रवृत्ति करता हो, खाना-पीना -सोना अथवा पूजा-भक्ति-श्रवण आदि बाह्य उपयोग में - राग में वर्तता हो, तो भी उस समय शुद्धता में ही वर्त रहा है। अन्तर्दृष्टि तो स्वभाव में ही पड़ी है; इसलिए राग की प्रवृत्ति होने पर भी, उस राग को दृष्टि के जोर में गिना नहीं जाता; इसलिए सम्यग्दृष्टि सदाकाल अनुभूति में ही वर्तता है, शुद्धपनारूप ही वर्तता

है—ऐसा कहने में आता है। सम्यग्दृष्टि स्वरूप में जागृत हुआ है, वह तो निरन्तर जागृत ही है। श्रेणिक आदि नरक में हैं, वे भी शुद्धपने में ही वर्त रहे हैं, राग में नहीं। राग आता है, उसे जानते हैं; किन्तु उसमें वर्तते नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक 409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 21)*

(392)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में हो, तब स्व-प्रकाशक है क्या?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में हो, तब भी स्व-प्रकाशक है, परन्तु उपयोगरूप पर-प्रकाशक के काल में उपयोगरूप-स्व-प्रकाशक नहीं होता और जब उपयोगरूप स्व-प्रकाशक हो, तब उपयोगरूप-परप्रकाशक नहीं होता; किन्तु ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक ही है। *(आत्मधर्म, अंक 409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 16)*

(393)

प्रश्न—यदि राग से परद्रव्य में कोई फेरफार नहीं कर सकते तो ज्ञानी जीव, परद्रव्य में फेरफार करने का राग क्यो करता है?

उत्तर—राग से तो परद्रव्य में परिवर्तन—फेरफार हो सकता ही नहीं, फिर भी ज्ञानी को निर्बलता से राग आता है, तथापि उस राग का वह कर्ता नहीं होता, उसको ज्ञेय बनाकर ज्ञाता रहता है। *(आत्मधर्म, अंक 405, जुलाई 1977, पृष्ठ 22)*

(394)

प्रश्न—ज्ञानी सारे दिन शास्त्र-वाँचन, उपदेशादि करता हुआ, दिखायी देता है तो भी आप कहते हो कि ज्ञानी राग को नहीं करता-इससे क्या समझना चाहिए?

उत्तर—राग आता है अवश्य, किन्तु ज्ञानी तो उस राग का मात्र जाननेवाला है। आत्मा को जानता होने से स्व-प्रकाशक ज्ञान समय-समय पर होता है और उसी समय जो राग होता है, उसको भी जानता है, फिर भी उस राग का स्वामी नहीं होता। ज्ञानी राग को परज्ञेयरूप से जानता है। वास्तव में तो उस राग सम्बन्धी जो अपना ज्ञान है, उस ज्ञान को वह जानता है। ज्ञान में राग निमित्त है, किन्तु राग का ज्ञान अपने में अपने से हुआ है और वह अपना कार्य है तथा उस समय होनेवाला राग, वह कार्य नहीं है—ऐसा ज्ञानी जानता है।

(आत्मधर्म, अंक 404, जून 1977, पृष्ठ 21-22)

(395)

प्रश्न—ज्ञानी को राग होता दिखायी देता है, तथापि 'ज्ञानी को राग नहीं होता'—ऐसा कथन किस अपेक्षा से है?

उत्तर—ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष होता है। उसमें एकत्व-बुद्धि नहीं होती, इसलिए वह गिनती में नहीं है। ज्ञानी जीव, पर के कारण राग मानता नहीं; स्वभाव में से राग आता नहीं; जो राग होता है, उसमें एकता मानता नहीं; अपने स्वभाव को राग से भिन्न ही मानता है, अनुभवता है; इसलिए ज्ञानी के वास्तव में राग होता ही नहीं, उसके तो स्वभाव की एकता ही बढ़ती है। *(आत्मधर्म, अंक 55, वैशाख 2474, पृष्ठ 113)*

(396)

प्रश्न—ज्ञानी का ज्ञान स्व तथा पर दोनों को जानता है, तो भी उसका ज्ञानोपयोग स्व में स्थिर न रहकर पर की तरफ जाता है, यह दोष वास्तव में ज्ञान का है या नहीं?

उत्तर—पर में उपयोग के जाते समय ज्ञानी के ज्ञान की सम्यक्ता का अभाव होकर मिथ्यापना तो होता नहीं—इस अपेक्षा से ज्ञानी के ज्ञान में दोष नहीं है, परन्तु अभी ज्ञान ने केवलज्ञानरूप परिणमन नहीं किया है, वह दोष तो ज्ञान का ही है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव तो केवलज्ञानरूप होने का है; अत: जब तक ज्ञान केवलज्ञानरूप परिणमन न करे, तब तक वह सदोष है, सावरण है; मिथ्या न होने पर भी दोषी तो है। उपयोग भले स्व में हो, फिर भी पूर्ण केवलज्ञानरूप से परिणमन नहीं किया, वह दोष तो ज्ञान का ही है। ऐसा होने पर भी उस समय जो राग है, वह कहीं ज्ञानकृत नहीं है; राग तो चारित्र का दोष है।

(आत्मधर्म, अंक 261, जुलाई 1965, पृष्ठ 30)

(397)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि राग का कर्ता नहीं, सर्वज्ञ की तरह मात्र राग का ज्ञाता ही है, फिर भी सम्यग्दृष्टि की पर्याय में राग होता तो है न?

उत्तर—राग, वह सम्यग्दृष्टि की पर्याय ही नहीं। समयसार गाथा 12 में कहा है न? - उस समय जाना हुआ प्रयोजनवान है। सर्वज्ञ एक समय में एक साथ त्रिकाल को जानते हैं और नीचे साधक जीव उस-उस काल के राग को जानता है। जैसा-जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही राग निमित्त होता है। आगे-पीछे ज्ञान हो, यह बात ही नहीं—एक काल में ही है।

धर्मी जीव जानता है कि द्रव्यों में पर्यायें हो रही हैं, उन्हें सर्वज्ञ जान रहा है। उन्हें करे क्या ? तथा सम्यग्दर्शनादि में धर्म की पर्याय भी हो रही है, उसे करे क्या ? जो पर्याय स्वकाल में ही हो रही है, उसे करे क्या ? और उसे करने का विकल्प भी क्यों ? सर्वज्ञ तो प्रत्यक्ष देख रहा है और नीचे धर्मी जीव परोक्ष देख रहा है। मात्र प्रत्यक्ष -परोक्ष का ही अन्तर है। केवल दिशा बदलनी है, अन्य कुछ भी करने का नहीं है।

जो पर्याय होनेवाली है, उसे करना क्या और जो नहीं होनवाली है, उसे भी करना क्या ? ऐसा निश्चय करते ही कर्तृत्वबुद्धि छूटकर स्वभाव-सन्मुखता हो जाती है। सर्वज्ञदेव त्रिकाली को देखने-जाननेवाले हैं और मैं भी त्रिकाली का ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ - इस प्रकार त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का निश्चय करना, वही सम्यग्दर्शन है।

(आत्मधर्म, अंक 427, मई 1979, पृष्ठ 29)

(398)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मा का विचार उपयोग मे ंचल रहा हो, उसे ही शुद्धोपयोग कहते हैं न ?

उत्तर—नहीं; शुद्धात्मा का विचार चलना शुद्धोपयोग नहीं है, यह तो रागमिश्रित विचार है। शुद्धात्मा में एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हो, वह शुद्धोपयोग है। जिसमें ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता का भेद छूटकर मात्र अभेदरूप चैतन्यपिण्ड ही अनुभव में आवे, वह शुद्धोपयोग है। *(आत्मधर्म, अंक 418, अगस्त 1978, पृष्ठ 25)*

(399)

प्रश्न—क्या शुद्धि और अशुद्धि एक पर्याय में साथ ही साथ है ?

उत्तर—हाँ! साधक को शुद्धि और अशुद्धि एक ही पर्याय में साथ होने पर भी अशुद्धता का तो ज्ञान होता है, वह अपना है; अशुद्धता अपनी नहीं ॥44॥

(आत्मधर्म, अंक 409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 15)

(400)

प्रश्न—ज्ञानी को विभाव परदेश लगता है, तो उसका खेद होता है या ज्ञान होता है ?

उत्तर—खेद भी होता है और ज्ञान भी होता है।

(आत्मधर्म, अंक 449, मार्च 1981, पृष्ठ 23)

(401)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में रहकर राजपाट करते हुए भी समभाव कैसे रहता होगा?

उत्तर—त्रिकाली जीवतत्त्व की दृष्टि होने से ज्ञानी को पर्यायदृष्टि नहीं है, अर्थात् वह पर्याय जितना ही जीव को नहीं मानता; इसलिए उसे पर्यायबुद्धि का राग-द्वेष नहीं होता। स्वभावदृष्टिवाला जीव सिद्धपर्याय के समय भी, उसके पूरे स्वभाव को देखता है और निगोदपर्याय के समय भी पूरे स्वभाव को ही देखता है; इसलिए उसे समस्त पर्यायों पर समभाव रहता है; कदाचित् अल्प राग-द्वेष होने पर भी स्वभाव की एकता नहीं छूटने से वास्तव में उसे राग-द्वेष होता ही नहीं, उसे तो स्वभाव की एकता ही वर्तती है।

भाई! स्वभावबुद्धि का हकार और पर्यायबुद्धि का नकार-यही समभाव है। आत्मा वर्तमानभाव जितना नहीं, अपितु त्रिकाल अखण्ड ज्ञानमूर्ति है—ऐसी श्रद्धा ही द्रव्यबुद्धि का स्वीकार है और पर्यायबुद्धि का अस्वीकार है। त्रिकाली स्वभाव की बुद्धि से आत्मा को माननेवाला सम्यग्दृष्टि है और पर्यायबुद्धि से आत्मा को माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में राजपाट और हजारों रानियों का संयोग भी वर्तता हो और उस सम्बन्धी राग हो, तथापि उस समय भी अखण्ड स्वभाव की दृष्टि हटती नहीं, किन्तु स्वभाव की अधिकता ही रहती है, इस कारण उसे समभाव ही वर्तता है।

(आत्मधर्म, अंक 55, वैशाख 2474, पृष्ठ 114-115)

(402)

प्रश्न—यदि पर पदार्थ को ज्ञानी अपना नहीं मानते तो 'मेरी पुस्तक, मेरी वस्तु'—ऐसा क्यों बोलते हैं?

उत्तर—अरे भाई! भाषा में ऐसा ही बोला जाता है, तथापि अन्तर में पर को अपना नहीं मानते; यह कपट नहीं है। बोलने की क्रिया ही आत्मा की नहीं, वह तो जड़ है; उस समय ज्ञानी का अन्तरंग अभिप्राय क्या है, वह समझना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक 55, वैशाख 2474, पृष्ठ 118)

(403)

प्रश्न—भूतकाल के दु:खों का स्मरण किसलिए करना?

उत्तर—वैसे दुख पुन: न आवें; इसलिए उन्हें याद करके ज्ञानी अपने हृदय में वैराग्य करता है। मुनिराज भी भूतकाल के दु:खों को याद करके कहते हैं कि 'मैं भूतकाल के दु:खों को याद करता हूँ, तब कलेजे में घाव लग जाता है।' देखो! सम्यग्दृष्टि मुनि है, आनन्द का प्रचूर वेदन है, तथापि भूतकाल के दु:खों को याद करते हैं। किसलिए? कि वैसे दु:ख फिर से प्राप्त न हों; इसलिए उन्हें याद कर वैराग्य बढ़ाते हैं।

(आत्मधर्म, अंक 445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 26)

(404)

प्रश्न—यदि पूजा-भक्ति आदि शुभराग में धर्म नहीं है, तो श्रावक के लिए धर्म क्या है?

उत्तर—देह-मन-वाणी-राग से भिन्न आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करना तथा आत्मा का अनुभव करना, यही श्रावक का धर्म है। *(आत्मधर्म, अंक 413, मार्च 1978, पृष्ठ 27)*

(405)

प्रश्न—तब क्या श्रावक पूजा-भक्ति आदि कार्य न करे?

उत्तर—श्रावक को पूजा-भक्ति आदि का शुभराग आता है, आये बिना रहता नहीं; परन्तु वह धर्म नहीं है, शुभराग है और इससे भिन्न आत्मा का अनुभव करना धर्म है।

(आत्मधर्म, अंक 413, मार्च 1978, पृष्ठ 27)

(406)

प्रश्न—निश्चय के साथ होनेवाले उचित राग को क्रोध कहते हैं क्या?

उत्तर—नहीं; यहाँ समयसार, गाथा 69-70-71 में जिसको आत्मस्वभाव की रुचि नहीं है - अनादर है, उसके रागभाव को क्रोध कहा है, अर्थात् मिथ्यात्वसहित होनेवाले रागादिभाव को क्रोध कहा है। ज्ञानी में होनेवाले अस्थिरता के राग का तो ज्ञानी को ज्ञान होता है। ज्ञानरूप परिणमनेवाले ज्ञानी को आनन्दरूप आत्मा रुचता है—अनुभव में आता है, इसलिए उसे राग की रुचिरूप क्रोध होता नहीं; अत: क्रोध मालूम नहीं पड़ता। अज्ञानी को दु:खरूपभाव - रागभाव रुचता है और आनन्दरूपभाव रुचता नहीं, इसलिए उसको क्रोधादि का ही अनुभव होता है, आत्मा मालूम नहीं पड़ता। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसकी तो रुचि नहीं और पुण्य-परिणाम की रुचि है - यह आत्मा का अनादर है; अत: ऐसे अज्ञानी को अपने स्वरूप के प्रति क्रोध है—ऐसा समझना।

(आत्मधर्म, अंक 423, जनवरी 1979, पृष्ठ 27)

(407)

प्रश्न—ज्ञानी की परीक्षा अज्ञानी जीव किस विधि से करते हैं ? वे अज्ञानी कितने प्रकार के हैं ? तथा ज्ञानी की परीक्षा की सही विधि क्या है ?

उत्तर—ज्ञानी की गलत विधि से परीक्षा करनेवाले अज्ञानी तीन प्रकार के हैं और वे तीन प्रकार से परीक्षा करते हैं।

प्रथम नम्बर के अज्ञानी वे हैं, जो मात्र बाहर के वेष से परीक्षा करते हैं अर्थात् मात्र बाह्य वेष देखकर ही उनमें ज्ञानी होने की कल्पना कर लेते हैं। द्वितीय नम्बर के अज्ञानी वे हैं, जो बाहर की क्रिया देखकर परीक्षा करते हैं अर्थात् बाहर में चलना, फिरना, उठना बैठना, आहार, शयन आदि में सावधानी, शुद्धता आदि देखकर ही ज्ञानी मान लेते हैं। तृतीय नम्बर के अज्ञानी वे हैं, जो कषाय की मन्दता देखकर परीक्षा करते हैं अर्थात् प्रतिकूल संयोगों के मिलने पर जो क्रोधादिक नहीं करते, परिणामों में सरलता रखते हैं, बाह्यपरिग्रह का विशेष लोभ नहीं रखते, शरीर व भोजनादि के प्रति अधिक आसक्ति नहीं रखते, उन्हें ज्ञानी होना स्वीकार कर लेते हैं; परन्तु यह ज्ञानी के पहचानने की वास्तविक रीति नहीं है।

जो सच्चा जिज्ञासु है, वह तो अन्तर की तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करता है कि सामनेवाले जीव का श्रद्धा-ज्ञान कैसा है ? उसे चैतन्य भगवान की श्रद्धा है या नहीं ? राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव की प्रतीति है या नहीं ? राग होता है, उससे लाभ मानता है या उससे भिन्न रहता है ? उसकी रुचि का जोर किस तरफ काम करता है ? उसके वेदन में किसकी मुख्यता है ? इस प्रकार अन्दर की श्रद्धा और ज्ञान से ही ज्ञानी की पहचान सुपात्र जीव करता है।

(आत्मधर्म, अंक 197, फाल्गुन 2486, पृष्ठ 14)

(406)

प्रश्न—तत्त्वचर्चा-स्वाध्याय में रहनेवाले सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थानवर्त्ती पशु के शान्ति विशेष होती है क्या ?

उत्तर—पाँचवें गुणस्थानवाले पशु के दो कषाय चौकड़ी का अभाव होने से देवों की अपेक्षा शान्ति अधिक होती है। चौथे गुणस्थानवाला देव शुभ में हो तो भी शान्ति कम और पाँचवें वाला पशु या मनुष्य अशुभ में हो तो भी उसे शान्ति अधिक होती है।

(आत्मधर्म, अंक 428, जून 1979, पृष्ठ 26)

[10]

द्रव्य-गुण-पर्याय

(409)

प्रश्न—धर्म करने में द्रव्य गुण-पर्याय को समझने की क्या आवश्यकता है? दान-व्रत-तप करने से धर्म तो होता ही है न?

उत्तर—दान-व्रत-तप करे और शुभराग से लाभ माने- धर्म माने तो मिथ्यात्व का महान् पाप बँधता है। व्रतादि के परिणाम तो रागरूप हैं, बन्धरूप हैं और धर्म तो वीतराग परिणाम है। आत्मा आनन्दस्वरूप महाप्रभु है, उसे द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप से पहिचाने तो राग से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वभावरूप आत्मा में एकाग्रता हो और धर्म हो।

(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, पृष्ठ 28)

(410)

प्रश्न—द्रव्य और गुण में तथा एक गुण का दूसरे गुण में भी क्या कोई अभाव है? यदि है तो कौन-सा और उसके समझने से क्या लाभ है?

उत्तर—द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह द्रव्य नहीं। गुण और द्रव्य के बीच में तथा एक गुण और दूसरे गुण के बीच में अतद्भाव है। अपने द्रव्य में भी गुण में और द्रव्य में अतद्भाव है। आहाहा! यहाँ तक बात ली है तो फिर दूसरे बाहर के पदार्थ कि जिनके प्रदेश भी पृथक् ही हैं, वे तो सर्वथा भिन्न हैं ही, तब एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का क्या कर सकता है? आहाहा! प्रभु! तू अकेला ही है। अकेले में भी सत्ता को और द्रव्य को तद्-अभाव है। ज्ञान है, वह आत्मा नहीं; आनन्द है, वह आत्मा नहीं और आत्मा है, वह आनन्द नहीं, (ज्ञान नहीं); इसप्रकार दो के बीच तद्-अभाव है। प्रवचनसारजी में द्रव्य की स्वतन्त्रता के अनेक बोल आये हैं। जिस प्रकार सत्य है; उसी प्रकार ज्ञान में आवे, तभी

पर्याय अन्दर झुक सकती है, अन्यथा पर्याय अन्दर में नहीं झुक सकती और अन्दर त्रिकाली स्वभाव में पर लक्ष्य गये बिना आनन्दानुभूति नहीं हो सकती।

(आत्मधर्म, अंक-433, नवम्बर 1979, पृष्ठ 29)

(411)

प्रश्न—द्रव्य को गुण स्पर्श नहीं करता और गुण को द्रव्य स्पर्श नहीं करता—ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—गुणभेद की दृष्टि छुड़ाकर अभेद वस्तु की दृष्टि कराना ही इस कथन का प्रयोजन है। *(आत्मधर्म, अंक-432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 32)*

(412)

प्रश्न—द्रव्य और गुणों में कथञ्चित् अभेद किस प्रकार से है ?

उत्तर—निश्चयस्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जिस प्रकार हिमालय और विन्ध्याचल में भिन्नपना है अथवा एक ही क्षेत्र में स्थित जल और दूध में जिस प्रकार भिन्न प्रदेशपना है, वैसा भिन्नपना द्रव्य और गुणों में नहीं मानते, साथ ही साथ एकान्त से द्रव्य और गुणों का एकपना भी नहीं मानते। अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकार द्रव्य और गुणों में प्रदेशों की अपेक्षा से अभिन्नत्व है, उसी प्रकार संज्ञा, संख्या, लक्षणादि की अपेक्षा से भी अभिन्नत्व है, एकत्व है—ऐसा नहीं मानते; अर्थात् एकान्त से द्रव्य और गुणों को न तो सर्वथा एकत्व मानते हैं और न सर्वथा भिन्नत्व ही। अपेक्षा के बिना एकत्व और अन्यत्व में से एक भी नहीं मानते; हाँ; भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दोनों स्वभावों को मानते हैं। प्रदेशों की एकता से एकत्व है और संख्या, संज्ञादि की अपेक्षा से द्रव्य और गुणों में अन्यत्व है—ऐसा आचार्य मानते हैं। यही श्री जयसेनाचार्य-पञ्चास्तिकाय टीका गाथा 45 में है ॥ 4 ॥

(आत्मधर्म, अंक-423, जनवरी 1979, टाईटल पृष्ठ 3)

(413)

प्रश्न—कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है तो जीव संसारी कैसे ?

उत्तर—कोई द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता अर्थात् ? कोई भी द्रव्य अपने

त्रिकाली स्वभाव को नहीं छोड़ता। वर्तमान दशा में विकारी दशा होती है, बन्ध अवस्था होती है, तो भी द्रव्य अपने त्रिकाली स्वभाव को छोड़ता नहीं है। बन्ध की अवस्था हो, मोक्षमार्ग की अवस्था हो, अथवा मोक्ष हो परन्तु फिर भी वस्तु तो जैसी की तैसी पर्याय के पीछे तीनों काल मौजूद पड़ी है। *(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 20*

(414)

प्रश्न—द्रव्य में से पर्याय उत्पन्न होती है, पर्याय व्यय होकर द्रव्य में मिलती है; तब द्रव्य ध्रुव टंकोत्कीर्ण तो नहीं रहा ?

उत्तर—पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न होती है और पर्याय व्यय होकर द्रव्य में मिलती है, यह पर्यायार्थिकनय से कहा है। द्रव्यार्थिकनय का द्रव्य तो ध्रुव टंकोत्कीर्ण कूटस्थ है।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 28)

(415)

प्रश्न—द्रव्य से पर्याय भिन्न है तो पर्याय कहाँ से आती है ?

उत्तर—पर्याय आती तो द्रव्य में से है, कहीं अधर से नहीं आती किन्तु जब पर्याय को सत्‌रूप से स्वतन्त्र सिद्ध करना हो, तब पर्याय, पर्याय से ही है। द्रव्य से पर्याय हो तो द्रव्य एकरूप रहता है और पर्याय अनेकरूप होती है। उसे द्रव्य जैसी एकरूप ही होना चाहिए, किन्तु वैसी होती नहीं। द्रव्य सत् है; वैसे पर्याय भी सत् है, स्वतन्त्र है, इस अपेक्षा से द्रव्य से पर्याय को भिन्न कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 28)*

(416)

प्रश्न—द्रव्य और पर्याय दो धर्म को पृथक बताने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—दो धर्म भिन्न हैं, उनकी प्रसिद्धि करने का प्रयोजन है। पर्याय एक समय की है और उसके पीछे ध्रुव दल तो त्रिकाल ज्यों का त्यों रहता है, इसको ज्ञेय बनाना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 28-29)*

(417)

प्रश्न—आत्मा के पर्यायधर्म को स्वीकार न किया जाये तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि आत्मा के पर्यायधर्म को माने-जाने, तो 'पर के आश्रय से अपनी पर्याय होती है'—ऐसी मिथ्या मान्यता छूट जाए और अपने द्रव्य के आश्रय से ही अपनी पर्याय होती है—ऐसी मान्यता हो जाए; ऐसा हो जाने पर परद्रव्य से मुझे लाभ-हानि होती है—ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं रहे। जिसने पर से अपनी पर्याय में लाभ-हानि होना माना, उसने आत्मा के पर्यायधर्म को वास्तव में जाना ही नहीं है। पर्यायधर्म अपना है, किसी अन्यवस्तु के कारण अपना पर्यायधर्म नहीं होता। यदि दूसरा पदार्थ आत्मा की पर्याय को करे, तो आत्मा के पर्यायधर्म ने क्या किया ? यदि निमित्त से पर्याय का होना माना जाये, तो आत्मा का पर्यायधर्म ही नहीं रहता। अपनी अनादि-अनन्त पर्यायें अपने से ही होती हैं—इस प्रकार यदि अपने पर्यायधर्म को न जाने तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक-94, श्रावण 2477, टाईटल पृष्ठ 4)

(418)

प्रश्न—किसी अपेक्षा से द्रव्य भी परिणामी है या नहीं ?

उत्तर—द्रव्य तो अपरिणामी है, बन्ध-मोक्ष के परिणाम को द्रव्य नहीं करता है, परन्तु पर्यायदृष्टि से कथन करना हो तो पर्याय ध्रुव में से आती है और ध्रुव में ही जाती है; इसलिए पर्याय अपेक्षा से द्रव्य परिणमन करता है। द्रव्य, द्रव्यदृष्टि से निष्क्रिय है; पर्यायदृष्टि-अपेक्षा से सक्रिय है। *(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 21)*

(419)

प्रश्न—द्रव्य और पर्याय को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—त्रिकाली द्रव्य और प्रकट पर्याय दोनों भिन्न-भिन्न धर्म अस्तिरूप हैं। उन दोनों धर्मों का परस्पर भिन्न अस्तित्व सिद्ध करना ही प्रयोजन है।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 29)

(420)

प्रश्न—ज्ञानगुण में जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं, उतने अविभाग-प्रतिच्छेद सभी गुणों में हैं क्या ?

उत्तर—हाँ; जितने अविभाग-प्रतिच्छेद एक ज्ञानगुण में हैं, उतने ही श्रद्धा-चारित्र-वीर्यादि सभी गुणों में हैं। जिसका भाग करने पर दूसरा भाग न हो सके—ऐसे अविभाग-प्रतिच्छेद एक गुण में अनन्त हैं; यह अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद केवलज्ञान होने पर पूर्ण प्रगट होने पर भी ज्ञानगुण में से घटते नहीं—ऐसा ही स्वभाव है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुण कुछ जानते नहीं हैं, इसलिए उन गुणों के अविभाग-प्रतिच्छेद कुछ कम होते होंगे—ऐसा नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-410, दिसम्बर 1977, पृष्ठ 27)

(421)

प्रश्न—परिणामी निश्चय से अपने परिणाम का कर्ता है तथापि पूर्व पर्याय का व्यय-कर्ता है - यह कथन किस प्रकार है ?

उत्तर—वास्तव में तो उत्पाद की पर्याय का कर्ता-उत्पाद ही है, किन्तु अभेद करके उपचार से परिणामी को कर्ता कहा गया है। परन्तु द्रव्य तो परिणमता ही नहीं, वह तो निष्क्रिय है; पलटने वाली तो पर्याय है। व्यय को उत्पाद का कर्ता कहना भी व्यवहार ही है। षट्कारक का परिणाम ध्रुव और व्यय की अपेक्षा रहित स्वयं सिद्ध उत्पाद होता है।

(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 22)

(422)

प्रश्न—शास्त्र में पर्याय को अभूतार्थ क्यों कहा है ? क्या उसकी सत्ता नहीं है ?

उत्तर—त्रिकाली स्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ कहा और पर्याय को अभूतार्थ कहा अर्थात् पर्याय नहीं—ऐसा कहा। वहाँ पर्याय को गौण करके ही 'नहीं है' ऐसा कहा, परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि पर्याय सर्वथा है नहीं। इसी भाँति सम्यग्दृष्टि को राग नहीं, दु:ख नहीं—ऐसा कहा, परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि वर्तमान पर्याय में राग-दु:ख सर्वथा ही नहीं। पर्याय में जितना राग है, उतना दु:ख भी अवश्य है। जहाँ शास्त्र में ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि के राग या दु:ख नहीं है, सो वह तो दृष्टि की प्रधानता से कहा; किन्तु पर्याय में जितना आनन्द है, उतना भी ज्ञान जानता हैं और जितना राग है, उतना दु:ख भी साधक को है; ऐसा ज्ञान जानता है। यदि वर्तमान पर्याय में होनेवाले राग और दु:ख को

ज्ञान न जाने, तब तो धारणज्ञान में भी भूल है। सम्यग्दृष्टि के दृष्टि का जोर बताने के लिए ऐसा भी कहा कि वह निरास्रव है, किन्तु यदि आस्रव सर्वथा न हो, तब तो मुक्ति हो जानी चाहिए।

कर्ता-कर्म अधिकार में ऐसा कहा कि सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है, उसका कर्ता पुद्गल कर्म है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है; तथा प्रवचनसार में ऐसा कहा कि ज्ञानी के जो राग होता है, उसका कर्ता आत्मा है, राग का अधिष्ठाता आत्मा है। फिर भी एकान्त माने कि ज्ञानी राग का - दु:ख का कर्ता-भोक्ता नहीं है तो वह जीव नय विवक्षा को नहीं समझने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

एक पर्याय जितना अपने को मानना भी मिथ्यात्व है। तो फिर राग को अपना मानना, शरीर को अपना मानना, माता-पिता धनादि को अपना मानना तो महान मिथ्यात्व है। अहाहा! इसे (अज्ञानी को) बहुत बदलना पड़ेगा। अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताओं को छोड़कर ही आत्मसन्मुख जा सकोगे। *(आत्मधर्म, अंक-410, दिसम्बर 1977, पृष्ठ 24-25)*

(423)

प्रश्न—शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों के पिण्ड को द्रव्य कहा है न?

उत्तर—वह तो निश्चयाभासी जीव, पर्याय को सर्वथा मानता ही नहीं है, उस अपेक्षा से उसे समझाने के लिए शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का पिण्ड, सो द्रव्य है—ऐसा कहा है, परन्तु इससे द्रव्य में शुद्ध-अशुद्धपर्यायें वर्तमानरूप से पड़ी हैं, ऐसा कहने का तात्पर्य नहीं है। द्रव्य तो शक्तिरूप से अकेला पारिणामिकभावरूप ही है; जो पर्याय को सर्वथा नहीं मानता, उससे कहते हैं कि भविष्य की पर्यायें द्रव्य में शक्तिरूप हैं और भूत की पर्यायें योग्यतारूप हैं। पर्यायें सर्वथा हैं ही नहीं- ऐसा नहीं है; इतना जानने के लिए कहा है।

(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 25)

(424)

प्रश्न—दो नयों को जानना कहा है न?

उत्तर—जानना तो ज्ञान का स्वभाव है; जानने के लिए तो सभी नय कहे हैं, परन्तु

धर्मरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए तो एकरूप त्रिकाली ध्रुव शुद्ध चैतन्य सामान्यद्रव्य है, वही आश्रय करने योग्य है। जानने के विषय में आदरणीयपना मान लेने से दृष्टि की विपरीतता होती है। *(आत्मधर्म, अंक-386, दिसम्बर 1975, पृष्ठ 32)*

(425)

प्रश्न—पर्याय को नहीं मानने से तो एकान्त हो जाता है ?

उत्तर—'पर्याय है ही नहीं'—ऐसा नहीं है। श्रद्धा करती है, जानती है, स्थिरता करती है, वह पर्याय ही है परन्तु पर्याय का आश्रय करना, वह विपरीतता है। चैतन्य सामान्य का आश्रय करने के लिए पर्याय को गौण करके निषेध किया जाता है, परन्तु उससे पर्याय, पर्यायरूप में सर्वथा है ही नहीं—ऐसा नहीं है।

एकरूप ध्रुव सामान्यद्रव्य, वह परम शुद्ध निश्चयनय का विषय है। उसमें निर्मल पर्याय को मिलाकर देखना, वह मेचकपना होने से अशुद्धनय का विषय है, मलिनता है, सोपाधिक है, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

एक देखिये जानिए, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और॥

एकरूप ध्रुव चैतन्य ही एक सम्यग्दर्शन का विषय है।

— शरीरादि नोकर्म को तथा द्रव्यकर्म को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब राग को स्वतत्त्व कहा जाता है;

— राग को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब निर्मल पर्याय को स्वतत्त्व कहा जाता है;

— निर्मल पर्याय को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब त्रिकाली द्रव्य को स्वतत्त्व कहा जाता है;

— राग या निर्मल पर्याय की अपेक्षा से बाह्यतत्त्व तथा स्वतत्त्व दोनों कहे जाते हैं, परन्तु त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को तो सर्वथा प्रकार से स्वतत्त्व ही कहा जाता है और वह एक ही दृष्टि का विषय होने से उपादेय है। *(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 24)*

(426)

प्रश्न—पर्याय द्रव्य से भिन्न है या अभिन्न ? और किस प्रकार ?

उत्तर—द्रव्य है, वह पर्याय से भिन्न है क्योंकि ध्रुव में तो पर्याय नहीं और पर्याय में ध्रुव आता नहीं अर्थात् ध्रुव, पर्याय को स्पर्श करता नहीं, परन्तु पर से भिन्न करने के लिए ऐसा कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्य द्रव्य और विशेष पर्याय, यह दो धर्म एकरूप हो जाते हैं। यह दोनों धर्म अर्थात् सामान्यधर्म और विशेषधर्म एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। *(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 20)*

(427)

प्रश्न—समयसार, गाथा 11 में पर्याय को अभूतार्थ कहा। क्या वह सर्वथा है ही नहीं ? तथा गाथा 15 में पर्याय को मुख्य कहकर उसे जैनशासन कहा। कृपया इसका रहस्य समझाइएगा ?

उत्तर—समयसार गाथा 11 में पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहा है, वहाँ तो पर्याय का आश्रय छुड़ाने के लिए पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहा है—असत्यार्थ कहा है, किन्तु पर्याय सर्वथा है ही नहीं - ऐसा मत समझना। गौण करने में पर्याय के अस्तित्व का अस्वीकार नहीं है। तथा गाथा 15 में तो जिसमें अबद्धस्वरूप आत्मा अनुभव में आया, वह पर्याय मुख्य ही है—वह पर्याय जैनशासन है। आहाहा! मेरा जो द्रव्य विकाररहित वीतरागी तत्त्व है, उसका लक्ष्य करने पर, पर्याय में वीतरागता आती है। यह वेदन की पर्याय मुख्य ही है। द्रव्य तो वेदन में आता नहीं, पर्याय ही वेदन में आती है और वह वेदन की पर्याय मुझे मुख्य है; उसे गौण कर देगा तो नहीं चलेगा, नाथ! पूर्णानन्द का नाथ जहाँ जाना और अनुभव में आया, वह गौण नहीं हो सकता।

भाई! वह तो तुझे द्रव्य का लक्ष्य-आश्रय कराने के लिए पर्याय को गौण किया था, परन्तु वेदन तो पर्याय में मुख्य है ही। भले ही द्रव्य का आश्रय कराने के लिए परिणाम को गौण किया था, किन्तु क्या वह परिणाम कहीं चला जावेगा ? नहीं, नहीं; जो परिणाम अस्तिरूप वेदन में आवे, वह कहाँ जावेगा ? आहा हा! यह आत्मा तो पुकार करता है कि

वीतरागस्वरूप जो मेरा द्रव्य है, उसका लक्ष्य करने पर मुझे वीतरागता वेदन में आती है और यह वेदन मुझे मुख्य है। *(आत्मधर्म, अंक-, जुलाई 1980, पृष्ठ 32)*

(428)

प्रश्न—वस्तु के द्रव्यस्वभाव में अशुद्धता नहीं है तो पर्याय में अशुद्धता कहाँ से आती है ?

उत्तर—वस्तु 'द्रव्य' और 'पर्याय' ऐसे दो स्वभाववाली है। उनमें से द्रव्यस्वभाव में अशुद्धता नहीं है, किन्तु पर्याय का स्वभाव 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' ऐसे दो प्रकार का है—अर्थात् पर्याय की अशुद्धता द्रव्यस्वभाव में से आयी हुई नहीं है; वह तो तत्समय की पर्याय का ही भाव है, द्वितीय समय में उस पर्याय का व्यय होने पर वह अशुद्धता भी मिट जाती है।

पर्याय की शुद्धता और अशुद्धता के सम्बन्ध में नियम यह है कि जब पर्याय द्रव्याश्रय से परिणमन करती है, तब शुद्ध और जब पराश्रय से परिणमन करती है, तब अशुद्ध होती है परन्तु वह अशुद्धता न तो पर में से आयी है और द्रव्यस्वभाव में से ही आई है। *(आत्मधर्म, अंक-254, अक्टूबर 1965, पृष्ठ 31)*

(429)

प्रश्न—पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है और पर्याय को पर्याय का अपना ही वेदन है तो ध्रुव का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ध्रुवद्रव्य वह तो मूल वस्तु है। ध्रुव का लक्ष्य करने पर ही पर्याय में आनन्द का वेदन आता है, इसीलिए ध्रुव मूल वस्तु है। *(आत्मधर्म, अंक-432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 33)*

(430)

प्रश्न—पर्याय को दूसरे द्रव्य का सहारा नहीं है, तो क्या अपने द्रव्य का भी सहारा नहीं है ?

उत्तर—पर्याय अपने षट्कारक से स्वतन्त्र है।

(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 15)

(431)

प्रश्न—पर्याय तो पामर है न ?

उत्तर—पर्याय पामर नहीं है, वह तो सम्पूर्ण द्रव्य को स्वीकारती है, उसे पामर कैसे कहें ? पर्याय में महासामर्थ्य है। सम्पूर्ण द्रव्य को स्पर्श किये बिना उसे स्वीकारती है। ज्ञान की एक पर्याय में इतनी शक्ति है कि छहों द्रव्यों को जान ले। इसकी शक्ति की अलौकिक बात हैं। *(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 15)*

(432)

प्रश्न—द्रव्य और पर्याय में से बल किसका अधिक है ?

उत्तर—द्रव्य का बल अधिक है। पर्याय तो एक समय जितनी ही है और द्रव्य तो त्रिकाली सामर्थ्य का पिण्ड है। *(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 15)*

(433)

प्रश्न—पर्याय स्वयं सम्पूर्ण वस्तु नहीं है, फिर भी वह सम्पूर्ण वस्तु को कैसे जान लेती है ?

उत्तर—एक मतिज्ञान की पर्याय में भी इतनी शक्ति है कि वह सम्पूर्ण आत्मा को जान ले। पर्याय स्वयं परिपूर्ण वस्तु नहीं है-यह बात तो ठीक है, फिर भी सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने की शक्ति उसमें है। केवलज्ञान पर्याय भले ही एक समय की है, परन्तु समस्त स्व-पर को जान लेने की अपार शक्ति उसमें है। पर्याय स्वयं परिपूर्ण वस्तु हो, तभी वह परिपूर्ण वस्तु को जान सके—ऐसा नहीं है। जैसे आत्मा छह द्रव्यरूप न होने पर भी छह द्रव्यों को जान लेता है, ऐसी उसकी शक्ति है; उसी प्रकार एक पर्याय यद्यपि सम्पूर्ण वस्तु नहीं है, फिर भी सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने की उसकी शक्ति है। जान लेने का कार्य तो केवल पर्याय में ही होता है, कहीं द्रव्य-गुण में नहीं होता।

(आत्मधर्म, अंक-261, जुलाई 1965, पृष्ठ 28)

(434)

प्रश्न—केवलज्ञानादिक क्षायिकभावों को नियमसार में परद्रव्य कहा है, केवलज्ञान

परद्रव्य है ?

उत्तर—केवलज्ञानादि क्षायिकभाव हैं और निजस्वभावभाव हैं परन्तु किसी अपेक्षावश उन क्षायिकभावों को भी परद्रव्य कहा गया है। उसका कारण यह है कि जिस प्रकार परद्रव्य में से अपनी पर्याय नहीं आती; उसी प्रकार क्षायिकभाव पर्याय में से भी नवीन पर्याय नहीं आती; अपने द्रव्य में से ही शुद्धपर्याय आती है। इसलिए पर्याय के ऊपर का लक्ष्य छुड़ाकर द्रव्यस्वभाव का लक्ष्य कराने के प्रयोजन से केवलज्ञानादि क्षायिकभावों को भी परद्रव्य कहा है।

पर्याय के ऊपर लक्ष्य करने से विकल्पोत्पत्ति होती है; इसलिए पर्याय से लक्ष्य हटाने के लिए उसे परद्रव्य कहा है। केवलज्ञानादि पर्यायें क्षणिक होने से उन्हें अभूतार्थ भी कहा गया है और त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को भूतार्थ कहा गया है। केवलज्ञानादि को पर्याय होने से व्यवहारजीव कहा है तथा त्रिकालीस्वभाव निश्चयजीव है। क्षायिकभाव को अपेक्षा से परद्रव्य कहा, परन्तु इससे पुद्गलादि परद्रव्यों की तरह केवलज्ञान आदि क्षायिकभाव, वह अजीव नहीं है, वह तो जीव का चैतन्यभाव है। केवलज्ञान तो कार्यपरमात्मा है। अत: (कथन की) अपेक्षा भलीभाँति समझना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-417, जुलाई 1978, पृष्ठ 31-32)

(435)

प्रश्न—क्या प्रत्येक पर्याय निरपेक्ष और स्वतन्त्र है ?

उत्तर—प्रत्येक पर्याय सत् है-स्वतन्त्र है, उसे पर की अपेक्षा नहीं है। राग का कर्ता तो आत्मा नहीं, किन्तु राग का ज्ञान कहना, यह भी व्यवहार है। तथा ज्ञानपरिणाम को आत्मा करता है—ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव में तो उस समय की ज्ञान - पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र हुई है। *(आत्मधर्म, अंक-425, जुलाई 1979, पृष्ठ 27)*

(436)

प्रश्न—कृपया थोड़ा और विस्तार से समझाइए, हम तो विस्तार रुचिवाले हैं।

उत्तर—सुनो! आत्मा कर्ता होकर पर्याय को करता है - ऐसा कहने में आता है,

किन्तु वास्तव में तो पर्याय स्वयं षट्कारक की क्रियारूप से स्वतन्त्र परिणमन करती है। जहाँ भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करने की बात आवे; वहाँ आश्रय करनेवाली पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्र कर्ता होकर लक्ष्य करती है। वीतरागी पर्याय का, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का लक्ष्य - आश्रय त्रिकाली द्रव्य है परन्तु वह लक्ष्यरूप पर्याय स्वयं षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण कर्ता होकर करती है—परिणमती है। पर्याय अहेतुक सत् है न! विकारीपर्याय भी पर की अपेक्षा बिना—परनिरपेक्ष अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्रतया परिणमन करती है—ऐसा पञ्चास्तिकाय गाथा 62 में कहा है।

आहाहा! पर्याय विकारी हो अथवा अविकारी, वह तो प्रतिसमय स्वयं षट्कारक की क्रिया से स्वतन्त्र ही परिणमन करती है, उत्पन्न होती है। आहाहा! स्वतन्त्रता की ऐसी बात जिसके श्रद्धान में बैठ जाए - जम जाए, उसके कर्मों का भुक्का उड़ जाता है, परन्तु जिसकी योग्यता हो, संसार का किनारा निकट आ गया हो, उसी को यह बात हृदयस्थ होती है। विरले ही ऐसी बात सुनने और समझनेवाले होते हैं—उनकी बहुलता नहीं होती।

(आत्मधर्म, अंक-424, फरवरी 1979, पृष्ठ 29-30)

(437)

प्रश्न—विकारीपर्याय को द्रव्य से भिन्न और शुद्धपर्याय को द्रव्य से अभिन्न क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—विकारीपर्याय, परद्रव्य की सन्मुखता करती है; इसलिए विकार को द्रव्य से भिन्न कहा और शुद्धपर्याय, स्वद्रव्य के सन्मुख होती है, अत: शुद्धपर्याय द्रव्य से अभिन्न कहा जाता है। उस अभिन्नता का अर्थ यह है कि द्रव्य की जितनी भी सामर्थ्य है—शक्ति है, वह ज्ञानपर्याय में आ जाती है, प्रतीति में आ जाती है; इसलिए शुद्धपर्याय को द्रव्य से अभिन्न कहा गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अनित्यपर्याय, नित्यद्रव्य के साथ एकमेक हो जाती है। द्रव्य और पर्याय दोनों का स्वरूप ही भिन्न होने से दोनों भिन्न हैं। पर्याय, द्रव्य का आश्रय करती है, इसलिए पर्याय शुद्ध होती है, किन्तु इससे द्रव्य-पर्याय का एकत्व हो जाता हो—ऐसा नहीं है। दोनों का स्वरूप भिन्न होने से पर्याय, द्रव्यरूप और द्रव्य, पर्यायरूप कभी भी होना अशक्य है।

पर्यायार्थिकनय से अशुद्धपर्याय द्रव्य से अभिन्न है; इसलिए द्रव्य भी अशुद्ध है – ऐसा कोई कहे तो यह बात सत्य नहीं है। पर्याय अशुद्ध होने पर भी त्रिकाली द्रव्य कभी भी अशुद्ध होता ही नहीं; त्रिकाली द्रव्य तो शुद्ध ही है। विकार तो पर के लक्ष्य से होनेवाला द्रव्य की एक समय की अवस्था का भेष है। अरे! सिद्धदशा भी एक समय की अवस्था का भेष है, वह भी त्रिकाली ध्रुव वस्तु नहीं है। यदि त्रिकाली द्रव्य से पर्याय अभिन्न ही हो तो विकारी और अविकारी पर्याय का अभाव होने पर, द्रव्य का भी अभाव (नाश) हो जाए। किन्तु द्रव्य तो पर्याय से कथञ्चित् भिन्न होने से त्रिकाल स्थायी है। समयसार के संवर अधिकार में तो विकार के प्रदेश को भी द्रव्य से भिन्न कहा है, क्रोधादि कषाय और ज्ञान के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा कहा है। *(आत्मधर्म, अंक-405, जुलाई 1977, पृष्ठ 24)*

(438)

प्रश्न—सुखानुभव तो पर्याय में होता है तो फिर आत्मद्रव्य की महिमा क्यों गायी जाती है?

उत्तर—अनुभव की शोभा वास्तव में आत्मद्रव्य के कारण ही है। आत्मद्रव्य कूटस्थ होने से यद्यपि अनुभव में नहीं आता तथा अनुभव तो पर्याय का ही होता है, तथापि जब तक पर्याय द्रव्य को स्वीकार नहीं करती, तब तक अनुभव होता नहीं। जहाँ पर्याय ने द्रव्य को स्वीकार किया, वहीं उसकी शोभा है और वह आत्मद्रव्य के कारण ही है।

(आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर 1978, पृष्ठ 24)

(439)

प्रश्न—दु:ख का वेदन तो पुद्गल का पर्याय है न?

उत्तर—किसने कहा कि पुद्गल का पर्याय है? वह तो जीव की ही पर्याय है, दु:ख का वेदन जीव की पर्याय में होता है। यह तो जीव में से निकल जाता है और जीव का स्वभाव नहीं तथा पुद्गल के लक्ष्य से होता है; इसलिए द्रव्यदृष्टि कराने के प्रयोजन से उसको पुद्गल की पर्याय कहा गया है। किन्तु दु:ख का वेदन तो जीव की पर्याय में ही होता है, पुद्गल में नहीं। *(आत्मधर्म, अंक-410, दिसम्बर 1977, पृष्ठ 27)*

(440)

प्रश्न—पर्याय, द्रव्य को तन्मय होकर जानती है अथवा अन्तमय रहकर जानती है ?

उत्तर—पर्याय अतन्मय रहकर द्रव्य को जानती है। पर्याय द्रव्य में तन्मय होती है, यह तो जब पर्याय द्रव्य के सन्मुख होती है, तब तन्मय हुई—ऐसा कहने में आता है। अज्ञानदशा में राग के सन्मुख पर्याय थी, इसलिए उस समय उसे राग से तन्मय कहा जाता है; और जब पर्याय, द्रव्य के सन्मुख हुई तो उसे द्रव्य में तन्मय कहा जाता है। किन्तु तन्मय का अर्थ पर्याय, द्रव्य में मिलकर एकरूप हो जाती है, ऐसा नहीं है; पर्याय तो पर्याय में रहकर द्रव्य को जानती है। पर्याय, पर्याय से है और द्रव्य, द्रव्य से है। परद्रव्य से भिन्नता सिद्ध करनी हो, तब ऐसा कहते हैं कि पर्याय से द्रव्य भिन्न नहीं है, किन्तु जब वस्तु के दो धर्म सिद्ध करने हों तो पर्याय से द्रव्य भिन्न है—ऐसा समझना। जब जिस अपेक्षा से कहने का जो आशय हो, उसे यथायोग्य समझना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-396, अक्टूबर 1976, पृष्ठ 20)

(441)

प्रश्न—पर्याय को परद्रव्य की अपेक्षा नहीं है, यह तो ठीक है, परन्तु क्या पर्याय को स्वद्रव्य की अपेक्षा भी नहीं है ?

उत्तर—छहों द्रव्य की पर्यायें जिस समय होनी हैं, वे पर्यायें षट्कारक की क्रिया से स्वतन्त्रतया अपने जन्म-क्षण में होती हैं। उन्हें अन्य द्रव्य की तो अपेक्षा बिल्कुल नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में पर्याय का तो जन्म-क्षण है, उसी जन्म-क्षण में क्रमबद्धपर्याय होती है। ऐसी स्वतन्त्रता की बात जगत की प्रतीति में आना कठिन है।

(आत्मधर्म, अंक-425, मार्च 1975, पृष्ठ 31)

(442)

प्रश्न—द्रव्य में पर्याय नहीं है तो फिर पर्याय को गौण क्यों कराया जाता है ?

उत्तर—द्रव्य में पर्याय नहीं है; जो वर्तमान प्रकट पर्याय है, वह पर्याय, पर्याय में है। सर्वथा पर्याय है ही नहीं—ऐसा नहीं है। पर्याय है, उसकी उपेक्षा करके, गौण करके 'नहीं' ऐसा कहकर, पर्याय का लक्ष्य छुड़ाकर; द्रव्य का लक्ष्य और दृष्टि कराने का प्रयोजन

है। इसलिए द्रव्य को मुख्य करके, भूतार्थ कहकर उसकी दृष्टि करायी है और पर्याय की उपेक्षा करके, गौण करके, पर्याय नहीं है, असत्यार्थ है—ऐसा कहकर उसका लक्ष्य छुड़ाया है। यदि पर्याय सर्वथा ही न होवे तो उसके गौण करने का प्रश्न ही कहाँ से हो?

इस प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर ही पूर्णद्रव्य कहलाता है वह प्रमाणज्ञान का विषय है। *(आत्मधर्म, अंक-418, अगस्त 1978, पृष्ठ 27)*

(443)

प्रश्न—शास्त्र में कहीं तो कथन आता है कि पर्याय का उत्पादक द्रव्य है और कहीं आता है कि पर्याय स्वयं सत् है, उसे द्रव्य की अपेक्षा नहीं—सो किस प्रकार है, समझाइए?

उत्तर—वास्तव में पर्याय, पर्याय से ही अर्थात् अपने से ही है। उसे पर की अपेक्षा तो है ही नहीं, और वास्तव में अपने द्रव्य की भी अपेक्षा पर्याय को नहीं है। जब पर्याय की उत्पत्ति सिद्ध करनी हो तो 'द्रव्य से पर्याय उत्पन्न हुई' ऐसा कहा जाता है, किन्तु जब पर्याय 'है' इस प्रकार उसकी अस्ति सिद्ध करनी हो, तब पर्याय है, वह अपने से सत्‌रूप है.. है.. और है, उसको द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं। अत: जहाँ जो अपेक्षा सिद्ध करनी हो, वहाँ वही अर्थ निकालना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 26)*

(444)

प्रश्न—पर्याय द्रव्य से भिन्न है तो 'अनुभूति है, वही आत्मा है'—ऐसा क्यों कहा जाता है?

उत्तर—अनुभूति की पर्याय में आत्मद्रव्य का ज्ञान आ जाता है, द्रव्य का सामर्थ्य पर्याय में आ जाता है। जितना द्रव्य का सामर्थ्य है, वह पर्याय में जानने में आ जाता है - इस अपेक्षा से अनुभूति की पर्याय है, वही आत्मा है - ऐसा कहा है। यदि ध्रुवद्रव्य, क्षणिक पर्याय में आ जावे तो द्रव्य का नाश हो जाए, अत: द्रव्य, पर्याय में आता नहीं, अपितु द्रव्य का ज्ञान, पर्याय में आ जाता है; इसलिए अनुभूति को आत्मा कहा है।

(आत्मधर्म, अंक-441, जुलाई 1980, पृष्ठ 31)

(445)

प्रश्न—प्रवचनसार में उत्पाद-व्यय-ध्रुव इन तीनों अंशों को पर्याय का भेद कहा है, उसमें ध्रुव अंश और त्रिकाली ध्रुव में क्या अन्तर है ?

उत्तर—ध्रुव अंश और त्रिकाली ध्रुव दोनों एक ही हैं। भेद की अपेक्षा त्रिकाली अंश कहा है, परन्तु वह अंश त्रिकाली ध्रुव ही है।*(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 20)*

(446)

प्रश्न—पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र हैं, पर्याय द्रव्य को नहीं स्पर्शती तो भी उस पर्याय को द्रव्य सन्मुख होना चाहिए—ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र है, पर्याय द्रव्य को नहीं स्पर्शती, तो भी पर्याय की स्वतन्त्रता देखनेवाले का लक्ष्य द्रव्य पर ही होता है।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 19)

(447)

प्रश्न—पर्याय स्वतन्त्र होते हुए भी उसका लक्ष्य द्रव्य पर क्यों होता है ?

उत्तर—द्रव्य पर लक्ष्य हो, तभी पर्याय की स्वतन्त्रता की यथार्थ श्रद्धा हो सकती है, पर की ओर लक्ष्य होने से नहीं। और पर्याय की स्वतन्त्रता के निर्णय का प्रयोजन भी द्रव्य-सन्मुख होने से ही सिद्ध होता है। द्रव्य-सन्मुख होने के प्रयोजन से ही पर्याय की स्वतन्त्रता दिखती है। *(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 19)*

(448)

प्रश्न—व्यय होनेवाली पर्याय के संस्कार अगली उत्पाद होनेवाली पर्याय में आते हैं या नहीं ?

उत्तर—पर्याय तो व्यय होकर ध्रुव में मिल जाती है, अत: व्यय होनेवाली पर्याय, उत्पाद होनेवाली पर्याय में कोई संस्कार नहीं डालती। पूर्व का संस्कार उत्तर पर्याय में आता है—यह तो बौद्ध का मत है, यह खोटी मान्यता है। उत्पाद की पर्याय को व्यय की अपेक्षा नहीं है, वह स्वतन्त्र है। *(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 27)*

(449)

प्रश्न—तो फिर नयी पर्याय में (/ उत्पाद की पर्याय में) पूर्व का स्मरण आता है —वह कहाँ से आता है ?

उत्तर—उत्पाद की पर्याय में स्मरण आता है, वह उत्पाद की सामर्थ्य से आता है। व्यय की पर्याय में जो ज्ञान था, उससे भी अधिक ज्ञान उत्पाद की पर्याय में आ सकता है, परन्तु वह उसकी स्वयं की सामर्थ्य के कारण आता है।

जैसे रोटी के आटे को गूँथते हैं; वैसे ही इसे आत्मा को ज्ञान से गूँथना चाहिए, इसे भावभासन होना चाहिए। भगवान कहते हैं, इसलिए नहीं, परन्तु इसे स्वयं से भावभासित होना चाहिए कि मैं ऐसा महिमावन्त चैतन्य पदार्थ हूँ; उसके सन्मुख होने से ही संसार के दु:ख से छुटकारा होगा, ऐसा भासित होना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 27)

(450)

प्रश्न—ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन अकेले ज्ञानगुण की पर्याय लेती है या अनन्तगुणों की पर्यायें अवलम्बन लेती हैं ?

उत्तर—ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन अनन्तगुणों की पर्यायें लेती हैं। ज्ञान से तो बात की है, वैसे अवलम्बन तो सभी गुणों की पर्यायें ज्ञायक का लेती हैं।

(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 32)

(451)

प्रश्न—निज द्रव्य की अपेक्षा बिना पर्याय होती है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—ध्रुवद्रव्य तो त्रिकाल द्रव्य एकरूप ही है और पर्याय भिन्न-भिन्नरूप से होती है। वह पर्याय अपनी योग्यतानुसार स्वकाल में स्वतन्त्र रूप से होती है।

(आत्मधर्म, अंक-399, जनवरी 1977, पृष्ठ 14)

(452)

प्रश्न—यदि ध्रुव द्रव्य की अपेक्षा लेवें तो क्या बाधा है ?

उत्तर—ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेने से व्यवहार हो जाता है। पर्याय, पर्याय के स्वकाल से होती है—यह पर्याय का निश्चय है। *(आत्मधर्म, अंक-391, जनवरी 1976, पृष्ठ 14)*

(453)

प्रश्न—पर्याय व्यय होकर द्रव्य में ही समाविष्ट हो जाती है। यदि ऐसा है तो क्या अनन्त अशुद्ध पर्यायों के द्रव्य में समावेश हो जाने से द्रव्य को हानि नहीं पहुँचती ?

उत्तर—अशुद्धता तो प्रकट पर्याय में अर्थात् मात्र वर्तमान वर्तती हुई पर्याय में ही निमित्त के लक्ष्य से होती है। पर्याय व्यय होकर द्रव्य में समा जाने पर, पर्यायरूप से नहीं रहती, अपितु पारिणामिकभावरूप हो जाती है। द्रव्य में विकार पड़ा नहीं, इसलिए उसमें कभी भी हानि नहीं होती। *(आत्मधर्म, अंक-398, दिसम्बर 1976, पृष्ठ 15)*

(454)

प्रश्न—यदि पर्याय, द्रव्य का स्पर्श ही नहीं करती तो आनन्द किस प्रकार आता है ?

उत्तर—पर्याय द्वारा द्रव्य का स्पर्श न किये जाने पर भी सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान, पर्याय में आ जाता है, तथापि द्रव्य, पर्याय में नहीं आता। धर्मी और धर्म दो वस्तुएँ हैं, पर्याय व्यक्त है और ध्रुव वस्तु अव्यक्त है। यद्यपि वह व्यक्त और अव्यक्त दोनों धर्म एक ही वस्तु के हैं तो भी व्यक्त, अव्यक्त को स्पर्श नहीं करता; परन्तु पर्याय का लक्ष्य द्रव्य-सन्मुख है, इसलिए पर्याय आनन्दरूप परिणमन करती है। *(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 13)*

(455)

प्रश्न—दर्शनोपयोग में शुभ और अशुभ ऐसे भेद पड़ते हैं कि नहीं ?

उत्तर—नहीं; शुभ और अशुभ ऐसे भेद न तो दर्शनोपयोग में हैं और न ज्ञानोपयोग में हैं,यह तो चारित्र के आचरणरूप उपयोग के भेद हैं। चारित्र के आचरण में शुभ, अशुभ और अशुद्ध, ऐसे तीन प्रकार हैं; उन्हें शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध उपयोग कहा जाता है।

(आत्मधर्म, अंक-261, जुलाई 1965, पृष्ठ 29)

(456)

प्रश्न—क्या बिना गुण की कोई पर्याय होती है ?

उत्तर—हाँ - भव्यता वह पर्याय है, परन्तु उसका कोई गुण नहीं होता। गुण न होने पर भी भव्यत्व पर्याय होती है और सिद्धदशा होने पर वह पर्याय नहीं होती।

(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 22)

(457)

प्रश्न—पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है—ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर—पर्याय के ऊपर से लक्ष्य छोड़कर ध्रुवद्रव्य की तरफ ढ़लने का प्रयोजन है। पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है—ऐसा बताकर, उसके ऊपर का लक्ष्य छुड़ाकर ध्रुवद्रव्य की ओर लक्ष्य कराने का प्रयोजन है। पर्याय निश्चित है, ध्रुव है, अर्थात् पर्याय उस समय की सत् होने से आगे-पीछे हो सके -ऐसा नहीं है, इस प्रकार जाने तो दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, और द्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से वीतरागता उत्पन्न हो। वीतरागता ही मूल तात्पर्य है। अरे! जिसके जानने पर वीतरागता उत्पन्न हो, भला उसकी कीमत क्या ? वह तो अनमोल है। *(आत्मधर्म, अंक-430, अक्टूबर 1979, टाईटल 3)*

(458)

प्रश्न—पर्याय का बिगाड़ मिटकर, पर्याय में सुधार कैसे हो ?

उत्तर—पर्याय स्वयं ही पर का लक्ष्य करके बिगड़ी है, यदि वह स्वयं ही पर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव का लक्ष्य करे तो स्वयं से ही स्वयं सुधर जाय। स्व का लक्ष्य करना ही पर्याय का सुधार है। *(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 22)*

(459)

प्रश्न—आत्मा में अनन्तधर्म होने पर भी उसे ज्ञानमात्र ही क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—आत्मा की जो ज्ञप्तिक्रिया होती है, उसमें अनन्त धर्मों का समुदाय एक साथ ही परिणमन करता है। अकेला ज्ञान ही नहीं परिणमता, परन्तु उस ज्ञान के साथ ही आनन्द, श्रद्धा, जीवत्व आदि अनन्त गुणों का परिणमन भी होता है। एक ज्ञानगुण को भिन्न लक्ष्य में लेकर धर्मी नहीं परिणमता, किन्तु ज्ञान के साथ अनन्त धर्मों को अभेदपने लक्ष्य

में लेकर धर्मी जीव एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से परिणमन करता है।

(आत्मधर्म, अंक-203, भाद्रपद 2486, पृष्ठ 5)

(460)

प्रश्न—संसारदशा दुःखरूप है और मोक्षदशा सुखरूप है, तथापि इन दोनों में अन्तर नहीं है—ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—संसार और मोक्ष दोनों ही एकसमय की पर्याय हैं, इन दोनों पर्याय में त्रिकाली वस्तु की अपेक्षा से अन्तर नहीं है। यह बहुत गम्भीर बात है। क्षायिकादि चार भावों को परद्रव्य, परभाव कहकर हेय कहा है। व्यवहार के पक्षवालों को तो यह बात सुनना भी कठिन पड़ेगा। संसार और मोक्ष दोनों पर्यायें हैं अवश्य, किन्तु वे आश्रय करने योग्य नहीं हैं। आश्रय करने योग्य तो एक त्रिकाली द्रव्य ही है। नियमसार गाथा 50 में बहुत गम्भीर और सूक्ष्म बात की है। आचार्यदेव ने अपने लिए यह शास्त्र बनाया है, उसमें केवलज्ञानादि क्षायिकभावों को परभाव, परद्रव्य कहकर हेय कहा है। यह परमात्मा के घर की बातें हैं—परमसत्य हैं। अन्तर से समझने की लगन लगे और समझ में न आवे—ऐसा नहीं हो सकता, समझ में आवेगा ही। *(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1983, पृष्ठ 29-30)*

भव दुःख का अन्त कर!

आत्मा के अज्ञान से चारगति में भ्रमते जीव ने सबसे अधिक भव एकेन्द्रियादि तिर्यंच गति के किये हैं; तदुपरान्त मनुष्य, नरक और स्वर्ग के अवतार भी अनन्त बार किये हैं। उसमें भी मनुष्य की अपेक्षा नरक के; नरक की अपेक्षा स्वर्ग के अवतार असंख्यगुने किये हैं। असंख्य अवतार स्वर्ग के और नरक के करे, तब एक अवतार मनुष्य का मिले - ऐसी मनुष्य अवतार की दुर्लभता है और ऐसे दुर्लभ मनुष्य अवतार में भी जैनधर्म का वीतरागी उपदेश सुनने मिलना बहुत दुर्लभ है। ऐसा दुर्लभ अवतार और वीतरागी जैनधर्म का उपदेश तुझे अभी महाभाग्य से मिला है, तो अब तू शीघ्र जाग, चेतकर सावधान हो और आत्मा की पहिचान द्वारा सम्यग्ज्ञान प्रगट करके भव दुःख का अन्त कर!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[11]

निमित्त-उपादान

(461)

प्रश्न—एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं; इसलिए एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, तो शास्त्र में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कथन आते हैं, वे कहाँ गये ?

उत्तर—यह तो नैमित्तिकभाव अपने से परिणमता है, उस समय निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराने को कथन शास्त्र में आता है। निमित्त है, वह निमित्त में और नैमित्तिक है, वह नैमित्तिक में परिणमन करता है; एक वस्तु दूसरी वस्तु में कुछ नहीं ही करती, दोनों वस्तुएँ भिन्न ही हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु का करे भी कैसे ?

(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 15)

(462)

प्रश्न—जब निमित्त वास्तविक कारण नहीं है, तो फिर उसे कारण कहा ही क्यों जाता है ?

उत्तर—जिसे निमित्त कहा जाता है, उस पदार्थ में उस प्रकार की—निमित्तरूप होने की योग्यता है; इसलिए अन्य पदार्थों से उसे भिन्न पहिचानने के लिए उसकी 'निमित्तकारण' संज्ञा दी गयी है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह पर को भी जानता है और साथ ही पर में निमित्तपने की योग्यता है, उसे भी जानता है।

(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 251)

(463)

प्रश्न—उपादान को अनुकूल निमित्त है और निमित्त को अनुरूप उपादान है; फिर

भी एक दूसरे का कुछ करते नहीं, तो निमित्त का काम क्या है ?

उत्तर—घड़ा बनने में हलवाई निमित्त नहीं होता, परन्तु कुम्भकार होता है—ऐसा बतलाना प्रयोजन है। *(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 2)*

(464)

प्रश्न—घड़ा कुम्भकार तो नहीं बनाता, तो क्या मृतिका से भी नहीं बनता ?

उत्तर—घड़ा घड़े की पर्याय के षट्कारक से स्वतन्त्रतया बनता है, मिट्टी-द्रव्य से भी नहीं; मिट्टी-द्रव्य तो सदाकाल विद्यमान है। घड़ा, रामपात्र आदि पर्यायें नयी-नयी उत्पन्न होती हैं और वे पर्यायें अपने षट्कारक से स्वतन्त्र ही होती हैं।

(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, टाईटल पृष्ठ 3)

(465)

प्रश्न—चावल वर्षों तक रखा रहे परन्तु पानी के निमित्त बिना नहीं पकते, पानी आयेगा तब पकेंगे।

उत्तर—चावल जब पकेगा, तब अपने से ही अपनी योग्यता से ही पकेगा और उस काल में पानी निमित्तरूप से सहज ही होगा—ऐसा वस्तु स्वभाव है।

आहाहा! प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में अपनी योग्यतानुसार ही होती है। उस होने के काल में बाह्य वस्तु पर निमित्तपने का आरोप आता है। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय करे तो वह दूसरा द्रव्य ही कहाँ रहा। अनन्त द्रव्य अस्तिरूप हैं। उन सबको भिन्न-भिन्न अस्तिरूप मानने से ही श्रद्धा-ज्ञान सच्चे होंगे।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 24)

(466)

प्रश्न—आत्मा में होनेवाले शुभाशुभभावों का मूल उपादान कौन है ?

उत्तर—अशुद्ध उपादान से आत्मा स्वयं शुभाशुभभाव में व्यापक होकर कर्ता होने से स्वयं (आत्मा) उनका कर्ता है और जब शुद्ध उपादान से देखें तो पुण्य-पाप भाव आत्मा का स्वभाव-भाव न होने से और वह शुभाशुभभाव, पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से

पुद्गल का कार्य है। पुद्गल उसमें व्यापक होकर कर्ता होता है। जब स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है, तब ज्ञानी योग और उपयोग का (राग का) स्वामी होता न होने से उसका (राग का) कर्ता नहीं है, किन्तु ज्ञानी के ज्ञान में राग निमित्त होता है।

(आत्मधर्म, अंक-404, मार्च 1977, पृष्ठ 24)

(467)

प्रश्न—प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र और निरपेक्ष है, तो भी जब जीव को राग होता है, तभी परमाणु कर्मरूप से क्यों परिणमन करता है?

उत्तर—जीव को राग हुआ है, उससे परमाणु कर्मरूप से परिणमित नहीं हुए हैं, किन्तु परमाणुओं के कर्मरूप से परिणमित होने का वही स्वकाल होने से, जीव के राग की अपेक्षा बिना ही स्वतन्त्ररूपेण परमाणु कर्मरूप से परिणमन करते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहज है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की सहजता का अज्ञानी को भान न होने से ही उसे दो द्रव्यों मे कर्ता -कर्मपने का भ्रम होता है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन को पर की अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र ही परिणमन कर रहा है। *(आत्मधर्म, अंक-398, दिसम्बर 1976, पृष्ठ 13)*

(468)

प्रश्न—जीवद्रव्य दूसरे द्रव्यों द्वारा उपकृत होता है—ऐसा शास्त्रों में कथन आता है। कृपया अभिप्राय खुलासा कीजिए?

उत्तर—शास्त्रोल्लेख में व्यवहार के कथन में ऐसा आता है कि इस जीव का अन्य द्रव्य उपकार करते हैं। इसका अभिप्राय ऐसा है कि एक द्रव्य के कार्यकाल में दूसरे द्रव्य की पर्याय निमित्तमात्र -उपस्थिति मात्र धर्मास्तिकायवत् है—ऐसा ही इष्टोपदेश ग्रन्थ में कहा है तथा समयसार की गाथा तीसरी में भी कहा है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण-पर्यायों को स्पर्श करता है; किन्तु दूसरे किसी भी द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, चुम्बन नहीं करता। एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का तो अत्यन्त अभाव है, ऐसी वस्तुस्थिति में भला एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का क्या करे? कुछ भी नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-430, अगस्त 1979, पृष्ठ 25)

(469)

प्रश्न—द्रव्य ही उपादानकारण हो सकता है, पर्याय नहीं; यह मान्यता बराबर है या नहीं ?

उत्तर—पर्याय उपादानकारण न हो सके और मात्र द्रव्य ही उपादानकारण होवे—यह मान्यता बराबर नहीं है। द्रव्यार्थिकनय से उपादानकारण द्रव्य है—यह बात बराबर है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय, द्रव्य और गुण का ही परिणमन है और उससे इतना सूचित होता है कि यह पर्याय इस द्रव्य की है।

दृष्टान्त:—मिट्टी में घट बनने की योग्यता सदा है—ऐसा बतलाना द्रव्यार्थिकनय है, अर्थात् मिट्टी का घड़ा मिट्टी में से ही हो सकता है, अन्य द्रव्य में से नहीं हो सकता। इसके विपरीत जब पर्यायार्थिकनय से कथन किया जाये, अर्थात् जब पर्याय की योग्यता बतलाना हो, तब प्रत्येक समय की योग्यता उपादानकारण है और वह पर्याय स्वयं कार्य है।

यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो कारण-कार्य एक ही समय में होता है। (देखो - तत्त्वार्थसार, मोक्ष अधिकार, गाथा 35 तथा उसका अर्थ पृष्ठ 407 पर) इसका अर्थ ऐसा है कि प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में एक ही पर्याय होने की योग्यता है, किन्तु उसके पूर्व समय की अथवा उत्तर समय की पर्याय में वह योग्यता नहीं होती है। कथन पर्यायार्थिकनय से समझना। *(आत्मधर्म, अंक-51, पोष 2474, पृष्ठ 45)*

(470)

प्रश्न—धर्म का निमित्त किसको होता है ?

उत्तर—अज्ञानी जीव में तो धर्मभाव प्रगट ही नहीं हुआ है; इसलिए उसको तो धर्म का निमित्त कोई है ही नहीं, क्योंकि कार्य हुए बिना निमित्त किसका ? अज्ञानी के धर्मरूप कार्य अपने में हुआ नहीं है; अत: धर्म के निमित्त का भी उसको निषेध वर्तता है। ज्ञानी ने अन्तरस्वभाव के भान से अपने भाव में धर्म प्रकट किया है, इसलिए उसको ही धर्म के निमित्त होते हैं परन्तु उसकी दृष्टि में निमित्तों का निषेध वर्तता है और स्वभाव का आदर वर्तता है।

इस प्रकार निमित्त के कारण धर्म होता है—ऐसा जो मानता है, उसके तो धर्म के निमित्त ही नहीं होते और जिसको धर्म के निमित्त होते हैं—ऐसा ज्ञानी, निमित्त के कारण धर्म होता है, ऐसा मानता नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक-123, पोष 2480, पृष्ठ 51)*

(471)

प्रश्न—यह परमागम मन्दिर आदि किसी जीव के किये बिना स्वयं ही बन गए हैं तो जीव ने कुछ किया नहीं ?

उत्तर—पुद्गल ही अपने स्वकाल में परिणमन करके परमागम मन्दिर आदि रूप से हुए हैं, जीव ने उसमें कुछ भी किया नहीं है। जीव ने अपने में शुभभाव किया था, परन्तु उससे हुआ नहीं है। परमाणु ही स्वतन्त्ररूपेण कर्ता होकर परमागम मन्दिर आदि कार्यरूप हुए हैं। *(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 19)*

(472)

प्रश्न—क्या केवलज्ञानावरणीकर्म में इतनी शक्ति है कि केवलज्ञान को न होने दे ? अथवा केवलज्ञान को रोके रखे ?

उत्तर—कर्म तो आत्मा से भिन्न वस्तु है। केवलज्ञानावरणीकर्म केवलज्ञान को रोकता नहीं है। वहाँ तो कर्म-परमाणु के परिणमन की उत्कृष्ट शक्ति कितनी है, वह बताने के लिए - केवलज्ञानावरणीकर्म से केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता—ऐसा निमित्त से कथन किया है, परन्तु केवलज्ञान कहीं उस कर्म के कारण रोका नहीं जाता है। जब जीव अपनी शक्ति की हीनपरिणमनरूप योग्यता से परिणमन करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 26)*

(473)

प्रश्न—अज्ञानी को तो निमित्त वास्तव में ज्ञेय भी नहीं हैं; ऐसा आप कहते हैं—वह कैसे ?

उत्तर—ज्ञान बिना ज्ञेय किसका ? जैसे लोकालोक तो सदा से है, किन्तु जब केवलज्ञान प्रगट हुआ, तब लोकालोक ज्ञेय हुआ। केवलज्ञान होने से पहले लोकालोक

ज्ञेय नहीं था, परन्तु स्वाश्रय से केवलज्ञान प्रगट होने पर लोकालोक ज्ञेय हुआ। उसी प्रकार निचली दशा में भी यद्यपि रागादि और निमित्त वास्तव में ज्ञेय ही हैं, किन्तु सचमुच में उन्हें ज्ञान का ज्ञेय तब कहा जाये, जब कि 'मैं उन राग और निमित्तों से भिन्न हूँ'—इस प्रकार स्वसन्मुख होकर आत्मा का ज्ञान प्रगट करे तथा राग और निमित्त को परज्ञेयरूप से यथार्थ जाने।

रागादि और निमित्त, ज्ञान के कर्ता तो नहीं हैं, परन्तु वास्तव में अज्ञानी को वे ज्ञान के ज्ञेय भी नहीं है, क्योंकि वहाँ स्वाश्रितज्ञान विकसित ही नहीं हुआ; अत: वह ज्ञान, राग में ही एकाकार रहने से, उसमें राग को ज्ञेय करने की शक्ति प्रगट नहीं हुई। राग से भिन्न पड़े बिना राग को ज्ञेय करने की शक्ति ज्ञान में प्रगट नहीं होती। राग और निमित्त से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग को रागरूप और निमित्त को निमित्तरूप जानेगा कौन? जाननेवाला ज्ञान तो राग और निमित्त की रुचि में अटका पड़ा है। राग और निमित्त की रुचि टले बिना और आत्मा की तरफ की रुचि किये बिना निमित्त और व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जब स्वाश्रय से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञानस्वभाव को ही स्वज्ञेय किया, तब स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य विकसित हुई और निमित्तादि भी उसके व्यवहार से ज्ञेय हुए। *(आत्मधर्म, अंक-82, श्रावण 2476, पृष्ठ 206)*

(474)

प्रश्न—अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रथम जानने के लिए कहा है न?

उत्तर—उन अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय का लक्ष्य छोड़कर स्वयं को पहचाने तो भेदज्ञान हो और तभी उन अरहन्त को निमित्त कहा जाए।

(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 16)

(475)

प्रश्न—समयसार की प्रथम गाथा में कहा कि अनन्त सिद्धों को तेरी पर्याय में स्थापन करता हूँ। यहाँ प्रश्न होता है कि अनन्त सिद्ध तो हमारे लिए परद्रव्य हैं, हमारी पर्याय में अतद्भावरूप हैं—ऐसी स्थिति में उनका स्थापन किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—अनन्त सिद्ध पर्याय में भले अतद्भावरूप हों, परन्तु उन अनन्त सिद्धों की प्रतीति पर्याय में आ जाती है, इसलिए अनन्त सिद्धों का स्थापन करना कहा है। जिस तरह अध्यवसान का त्याग कराने के लिए बाह्यवस्तु का त्याग कराया जाता है; उसी तरह अपने सिद्धस्वभाव का पर्याय में स्थापन कराने के लिए अनन्त सिद्धों का स्थापन कराने में आया है। जैसे बाह्यवस्तु अध्यवसान का निमित्त है, वैसे ही अपने सिद्धस्वरूप का लक्ष्य कराने में अनन्त सिद्ध निमित्त हैं। *(आत्मधर्म, अंक-434, दिसम्बर 1979, पृष्ठ 29)*

द्रव्य-पर्याय की स्वतन्त्रता

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं, स्पर्श करता नहीं।

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।

परद्रव्य के सामने देखने से राग ही होता है।

अपने द्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद करके देखने पर तथा गुण-गुणी के भेद करके देखने से राग ही होता है, वीतरागता नहीं होती।

पंचम परमपारिणामिकभाव का आश्रय करने से ही धर्म—वीतरागता—होती है, यह उपरोक्त चार बोल का सार है; यह जैनदर्शन का मूल सिद्धान्त है।

आहाहा! यह बात भगवान के घर की और भगवान होने की है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, यह बात जँचे नहीं, तब तक कर्ताबुद्धि छूटती नहीं।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं और स्पर्श नहीं करता, वह दूसरे द्रव्य का करे क्या? यह बातें ढिंढ़ोरा पीटकर सिंहनाद से कही जाती है। वीतराग सर्वज्ञ के घर की यह बात दिव्यध्वनि में आयी हुई है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता या स्पर्शता नहीं है। यह महासिद्धान्त समयसार की गाथा तीन में कहा है। द्रव्य की स्वतन्त्रता की यह कम पुकार है? कुम्हार मिट्टी को छूता या स्पर्शता ही नहीं तो घड़े को क्या करे? मिट्टी ही स्वयं कर्ता होकर घड़े को करती है। यह तो भगवान ने कही हुई, अन्तर में से आयी हुई बात है।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[12]

निश्चय-व्यवहार

(476)

प्रश्न—समयसार की ग्यारहवीं गाथा को आप जैनदर्शन का प्राण कहते हो, उसमें तो व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है—झूठा कहा है। कृपया इस गाथा का स्पष्टीकरण कीजिए?

उत्तर—समयसार की ग्यारहवीं गाथा वास्तव में जैनदर्शन के प्राणरूप ही है। उसमें निश्चय-व्यवहारनय की बात की है, उसे यथातथ्य जानना चाहिए। राग, पर्याय, गुणभेद-यह सब व्यवहारनय के विषय हैं और त्रिकाली वस्तु में नहीं हैं; इसलिए ही व्यवहारनय को झूठा कहकर अभूतार्थ कहा है; अर्थात् पर्याय है ही नहीं—इस प्रकार उसका सीधा-सीधा अर्थ होता है, परन्तु उसका आशय ऐसा नहीं है। पर्याय है अवश्य, उसके अस्तित्व का अस्वीकार नहीं किया जा सकता परन्तु जो त्रिकाली वस्तु है, वह पर्याय नहीं है; इसलिए पर्याय की उपेक्षा करके, उसे गौण करके, त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक की दृष्टि करवायी जाती है क्योंकि त्रिकाली द्रव्य को मुख्य करके द्रव्य का अनुभव कराने का प्रयोजन है। ज्ञान, वह आत्मा—ऐसा भेद भी दृष्टि के विषय में नहीं आता।

अभेददृष्टा की दृष्टि में भेद दिखायी ही नहीं पड़ता, सत्यार्थदृष्टा को असत्यार्थ दिखायी नहीं पड़ता, नित्य देखनेवाले को अनित्य दृष्टिगोचर नहीं होता, भूतार्थ पर दृष्टि रखनेवाले को अभूतार्थ के दर्शन नहीं होते तथा एकाकार देखनेवाले को अनेकाकार दृष्टि में नहीं आता। इसी कारण से भेदरूप व्यवहार को अभूतार्थ कहा है और निश्चयनय की विषयभूत त्रिकाली ध्रुववस्तु ही भूतार्थ होने से उसका आश्रय कराया है।

अहो! यह आत्मतत्त्व तो गहन है, उसका निर्णय और अनुभव करने के लिए आचार्यों के अन्तरङ्ग अभिप्राय को पकड़ना होगा।

(आत्मधर्म, अंक-421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 25)

(477)

प्रश्न—समयसार की ग्यारवीं गाथा में शुद्धनय का अवलम्बन लेने को कहा, किन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है-पर्याय है; क्या उस अंश का अवलम्बन लेने से सम्यक्त्व होगा?

उत्तर—वास्तव में शुद्धनय का अवलम्बन लेना कब कहा जाय? अकेले अंश को पकड़कर उसके ही अवलम्बन में जो अटक गया, उसे तो शुद्धनय है ही नहीं। ज्ञान के अंश को अन्तर में लगाकर जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की, उसे ही शुद्धनय होता है और ऐसी अभेद दृष्टि हुई, तभी शुद्धनय का अवलम्बन लिया - ऐसा कहा जाता है, अर्थात् 'शुद्धनय का अवलम्बन—ऐसा कहने पर उसमें भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की बात है। परिणति अन्तर्मुख होने पर द्रव्य में अभेद हुई और जो अनुभव हुआ, उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन है, उसमें द्रव्य-पर्याय के भेद का अवलम्बन नहीं है। यद्यपि शुद्धनय स्वयं ज्ञान का अंश है, पर्याय है परन्तु वह शुद्धनय अन्तर के भूतार्थस्वभाव में अभेद हो गया है, अर्थात् वहाँ नय और नय का विषय अलग नहीं रहा। जब ज्ञानपर्याय अन्तर में झुककर, शुद्धद्रव्य के साथ अभेद हुई, तब ही शुद्धनय हुआ। यह शुद्धनय निर्विकल्प है। *(आत्मधर्म, अंक-119, भाद्रपद 2479, पृष्ठ 235)*

(478)

प्रश्न—शास्त्र में व्यवहार को भी प्रशंसनीय कहा है?

उत्तर—निश्चयनय शुद्धात्मा की भावनावाले जीव को अर्थात् साधक जीव को जब तक पूर्ण वीतरागता प्रकट न हो, तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ जो व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व का ज्ञान और पञ्च महाव्रत का आचरण है; उसको निश्चय का सहकारी जानकर प्रशंसनीय कहा है। उसे व्यवहार से मोक्षमार्ग भी कहा है, तथापि परमार्थ से तो वह बन्धमार्ग ही है; अत: निश्चय शुद्धात्मा की भावना के काल में वह व्यवहार प्रशंसा योग्य नहीं है। साधक जीव को पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक अर्थात् प्रथम अवस्था में व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-आचरण को प्रशंसनीय कहा है तो भी शुद्धात्मा की भावना के काल में प्रशंसा

योग्य नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक-399, जनवरी 1977, पृष्ठ 19)*

(479)

प्रश्न—निश्चय और व्यवहारनय का परस्पर में विरोध है या मैत्री ?

उत्तर—निश्चयनय और व्यवहारनय में है तो विरोध ही, किन्तु दोनों साथ रहते हैं – इस अपेक्षा से मैत्री भी कही जाती है। जैसा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन में विरोध है अर्थात् वे दोनों एक समय भी साथ-साथ नहीं रह सकते, वैसा विरोध इन दोनों नयों में नहीं है। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं, अत: मैत्री कही जाती है।

(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 23)

(480)

प्रश्न—आप व्यवहार को हेय कहते हैं, तो क्या व्यवहार है ही नहीं ?

उत्तर—व्यवहार है भले ही, परन्तु मोक्षमार्ग उसके आधार से नहीं है। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग मानना तो परद्रव्य से लाभ मानने जैसा है। जिस प्रकार परद्रव्य है, इसलिए स्वद्रव्य है—ऐसी मान्यता में स्व-पर की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है; उसी प्रकार रागरूप व्यवहार है, इसलिए निश्चय है—ऐसी मान्यता में स्वभाव और परभाव की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है। साधक को सुख के साथ किञ्चित् दु:ख भी है, दोनों धारायें (एक बढ़ती हुई और दूसरी घटती हुई) साथ ही वर्त्तती हैं; तो क्या वे दोनों परस्पर एक-दूसरे के कारण से हैं ? नहीं; दोनों साथ होने पर भी दु:ख है, इसलिए सुख है—ऐसा नहीं है; उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार साथ होने पर भी व्यवहार है, इसलिए निश्चय है—ऐसा नहीं है। व्यवहार के आश्रय से बन्धन है और निश्चय के आश्रय से मुक्ति है—ऐसे दोनों भिन्न-भिन्न स्वरूप से वर्तते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-206, मगसर 2487, पृष्ठ 13-14)*

(481)

प्रश्न—ज्ञानी तो व्यवहार को हेय मानता है, फिर भी ज्ञानी के व्यवहार का फल संसार क्यों ?

उत्तर—ज्ञानी का व्यवहार भी राग है और राग का फल संसार है। श्रावक को षट्

आवश्यक का और मुनि को पञ्च महाव्रत का विकल्प आता है; उसको निश्चय का सहचर जानकर जिनवाणी में बहुत वर्णन किया गया है, परन्तु इस राग का फल संसार है—ऐसा कहा है। जो जीव इस शुभराग से लाभ मानता है अथवा शुभराग करते-करते धर्म हो जाएगा—ऐसा मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है; अत: संसारभ्रमण करेगा ही।

(आत्मधर्म, अंक-421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 27)

(482)

प्रश्न—जिनवाणी में कथित व्यवहार का फल भी यदि संसार ही है, तो उसके कथन से क्या लाभ ?

उत्तर—निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ अपूर्णदशा के कारण राग की मन्दता में किस-किस प्रकार का मन्द राग होता है; चौथे, पाँचवें, छठे, गुणस्थानों की भूमिका में राग की क्या स्थिति होती है; पूजा, भक्ति, अणुव्रत, महाव्रतादि होते हैं; उनका व्यवहार बताने के लिए जिनागम में उनका कथन किया गया है परन्तु इस राग की मन्दता के व्यवहार का फल तो बन्धन और संसार है। *(आत्मधर्म, अंक-421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 26)*

(483)

प्रश्न—क्या व्यवहारनय सर्वथा निषिद्ध है ?

उत्तर—नहीं भाई! व्यवहारनय सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है, क्योंकि साधक जीव को जब तक अपूर्ण दशा वर्तती है, तब तक भूमिकानुसार, दया-दान-पूजा-भक्ति-यात्रा-व्रत-तपादि का शुभरागरूप व्यवहार आता है, आये बिना रहता नहीं और उसको उस-उस काल में उस-उस भूमिका में उसे जानना योग्य है, प्रयोजनवान है; निषेध करने योग्य नहीं। परन्तु इसका ऐसा अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह आदरणीय भी है। परन्तु उस-उस भूमिका प्रमाण उत्पन्न होनेवाले राग को जानना उचित है।

(आत्मधर्म, अंक-422, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 28)

(484)

प्रश्न—व्यवहार का निषेध करने से तो जीव अशुभ में चला जाएगा ?

उत्तर— अरे भाई ! जो शुभरागरूप व्यवहार में आया है, वह अशुभराग को छोड़ करके ही तो आया है। अब उसको स्व का- निश्चय का आश्रय कराने के लिए व्यवहार का निषेध कराते हैं। वहाँ अशुभ में जाने की बात ही कहाँ है।

(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 23)

(485)

प्रश्न— क्या व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का वास्तविक कारण नहीं है ?

उत्तर— हाँ, जो मोक्ष का कथनमात्र कारण है—ऐसा व्यवहाररत्नत्रय तो भवसागर में डूबे हुए जीवों ने पहले भव-भव में सुना है और किया भी है। दया-दान-भक्ति-व्रत-तपादि शुभराग का व्यवहार तो भव-सागर में डूबे हुए जीवों ने अनन्तबार श्रवण करके आचरण भी किया है, परन्तु वह व्यवहाररत्नत्रय तो कहने मात्र ही मोक्ष का कारण है; वास्तव में देखा जाय तो वह बन्ध का ही कारण है। जो राग दु:खरूप है, विषरूप है, वह अमृतरूप मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-पूजा, जिनमन्दिर-निर्माण, गजरथ निकालना आदि तो भव-भव में अनन्तबार किया है, शास्त्र का ग्यारह अङ्ग का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा और व्रत-तपादि का आचरण पहले अनन्तबार किया है, किन्तु अरे रे ! खेद है कि जो सर्वथा एक ज्ञानस्वरूप है—ऐसे परमात्मतत्त्व को जीव ने कभी सुना नहीं, आचरण किया नहीं, अत: भवार्णव से पार हुआ नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, पृष्ठ 32)

(486)

प्रश्न— व्यवहार का अति निषेध करना उचित नहीं है—ऐसा पञ्च संग्रह में कहा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर— भगवान का दर्शन, पूजन, भक्ति शास्त्रश्रवण, स्वाध्याय आदि व्यवहार होता है, उस व्यवहार का परिणाम आता है; यदि उसका निषेध करने जाएगा तो जिनदर्शन, श्रवणादि कुछ रहेगा ही नहीं। पर्याय में पञ्च महाव्रतादि के परिणाम का व्यवहार होता है अथवा नवदेव के दर्शन, भक्ति आदि का व्यवहार होता है, उसको माने ही नहीं तो वह मिथ्यादृष्टि है और उस व्यवहार से धर्म होता है—ऐसा माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। पर्याय

है और उस पर्याय में अनेक प्रकार के शुभराग का व्यवहार है, उसको माने ही नहीं तो मिथ्यादृष्टि है। तीर्थङ्कर भगवान के कल्याणकों में इन्द्रादि देव करोड़ों देवों की सेना सहित दर्शन-पूजन आदि के लिए आते हैं। भले ही वह व्यवहार हेय है, किन्तु वह भाव आता अवश्य है, आये बिना रहता नहीं। वह व्यवहार जानने योग्य है, उसे यथावत् न जाने तो मिथ्यादृष्टि है। एक ओर तो कहते हैं कि निर्मल क्षायिक पर्याय का भी लक्ष्य करे तो राग होता है, अत: उस निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहकर हेय कहा और दूसरी ओर कहते हैं कि शुभरागरूप व्यवहार आता है, होता है, उसको जाने ही नहीं—माने ही नहीं, तो मिथ्यादृष्टि है। देव-शास्त्र-गुरु जो व्यवहार के विषय हैं, उन्हें जानना तो चाहिए। भले ही वे आश्रय करने योग्य नहीं हैं, किन्तु जानने योग्य तो अवश्य हैं। व्यवहार है—ऐसा न जाने तो मिथ्यादृष्टि है। जैनधर्म अनेकान्त है। उसे बराबर समझना है, वह समझे तो एकान्त हो जाएगा। *(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 13-14)*

(487)

प्रश्न—आगम के व्यवहार और अध्यात्म के व्यवहार की परिभाषा बताइए ?

उत्तर—स्वरूप की दृष्टि होने पर जो शुद्ध परिणमन होता है, वह अध्यात्म का व्यवहार है और महाव्रत, त्रयगुप्ति आदि शुभराग आगम का व्यवहार है।

(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1977, पृष्ठ 21)

(488)

प्रश्न—आगम का निश्चय-व्यवहार क्या है और अध्यात्म का निश्चय-व्यवहार क्या है ?

उत्तर—अध्यात्म में शुद्धद्रव्य को निश्चय कहते हैं और शुद्धपरिणति को व्यवहार कहते हैं। जबकि आगम में शुद्धपरिणति को निश्चय कहते हैं और उसके साथ बर्तते हुए शुभपरिणाम को व्यवहार कहते हैं। *(आत्मधर्म, अंक-392, दिसम्बर 1976, पृष्ठ 13)*

(489)

प्रश्न—निश्चय है वह मुख्य है, या मुख्य है, वह निश्चय है ?

उत्तर—मुख्य है, वही निश्चय है। यदि निश्चय को मुख्य कहा जावे तो पर्याय भी निश्चय है, अत: वह भी मुख्य: हो जावेगी; किन्तु ऐसा नहीं है। मुख्य है, वही निश्चय है और गौण है, वह व्यवहार है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस विषय का विषद् स्पष्टीकरण किया गया है। श्रद्धा में त्रिकाली स्ववस्तु एक ही मुख्य है।

(आत्मधर्म, अंक-396, अक्टूबर 1976, पृष्ठ 21)

(490)

प्रश्न—पञ्च परावर्तन में जीव भटकता है, वह व्यवहार से है अथवा निश्चय से ?

उत्तर—पञ्च परावर्तन में अपने भावों से ही भटकता है, अत: निश्चय से है, परन्तु त्रिकाली ध्रुव स्वभाव की अपेक्षा पञ्च परावर्तन के भाव पर्याय में होने से पर्याय को व्यवहार कहा जाता है। पञ्च परावर्तन में जीव भटकता है, वह व्यवहार से भटकता है - ऐसा नहीं है; किन्तु निश्चय से ही भटकता है। प्रवचनसार में जीव के विकार भाव को निश्चय कहा गया है। *(आत्मधर्म, अंक-396, अक्टूबर 1976, पृष्ठ 22)*

(491)

प्रश्न—त्रिकाली निष्क्रिय चैतन्य ही परमार्थ जीव है। बन्ध और मोक्ष की पर्याय को करे, वह तो व्यवहार जीव है। तो बताइए कि कितने प्रकार के जीव हैं ?

उत्तर—दो प्रकार के जीव हैं। एक परमार्थ जीव और दूसरा व्यवहार जीव। परमार्थ जीव तो त्रिकाल निष्क्रिय मोक्षरूवरूप ही है, और पर्याय बन्ध-मोक्षरूप से परिणमन करती है, वह व्यवहार जीव है। *(आत्मधर्म, अंक-396, अक्टूबर 1976, पृष्ठ 18)*

(492)

प्रश्न—जिस घर जाना न हो, उसे जानने का क्या काम ? इसी प्रकार व्यवहार को छोड़नेयोग्य है तो उसे जानने का क्या काम है ?

उत्तर—जिस घर जाना न हो, उसे भी जानना चाहिए। वह घर अपना नहीं, परन्तु दूसरे का है, ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार पर्याय का आश्रय करना नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान भी नहीं करे तो एकान्त हो जाएगा, प्रमाण ज्ञान नहीं होगा। पर्याय का आश्रय

छोड़नेयोग्य होने पर भी उसका जैसा है वैसा ज्ञान तो करना पड़ेगा, तभी निश्चयनय का ज्ञान सच्चा होगा। *(आत्मधर्म, अंक-395, सितम्बर 1976, पृष्ठ 29)*

(493)

प्रश्न—जो व्यवहार, निश्चय को बतलाता है, उसका कुछ उपकार तो है न?

उत्तर—नहीं! व्यवहार, निश्चय तक नहीं पहुँचाता, उससे कुछ कार्य सिद्धि नहीं होती। व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करके समझना पड़ता है, और भेद से आत्मा समझना पड़ता है। इतना व्यवहार होता ही है, तब भी वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। एक ज्ञायक को ही लक्ष्य में लेना योग्य है।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 25)

(494)

प्रश्न—व्यवहार प्रतिक्रमणादि कब सफल कहे जावें?

उत्तर—जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते हैं कि, हमारे वीतरागी सन्तों ने शास्त्रों में द्रव्यश्रुतात्मक व्यवहार प्रतिक्रमण कहे हैं—उन्हें सुनकर, जानकर, सकल संयम की भावना करे, उसे व्यवहार प्रतिक्रमण का जानना सफल है—सार्थक है। प्रतिक्रमण आदि जितने प्रकार के व्यवहार शास्त्र में कहे हैं, वे सब व्यवहार बन्ध के कारण हैं; उन्हें छोड़कर अन्दर आनन्दस्वरूप में जाने पर ही व्यवहार का सफलपना कहा गया है। जितना भी क्रियाकाण्ड व्यवहार कहने में आता है, उसे छोड़कर शुद्धस्वरूप के अनुभव में निमग्न हो, तभी व्यवहार के जानपने की सफलता कही गयी है। जो शुद्धस्वरूप के सन्मुख तो होता नहीं और मात्र व्यवहार में ही लीन रहकर आत्मा के आनन्दस्वरूप में नहीं जाता तो उसका व्यवहार केवल संसार भ्रमण का ही कारण है। *(आत्मधर्म, अंक-438, अप्रैल 1980, पृष्ठ 41-42)*

(495)

प्रश्न—व्यवहार से निश्चय होता है—ऐसा यहाँ कहा कि नहीं?

उत्तर—व्यवहार से निश्चय होता है—ऐसा नहीं कहा; किन्तु व्यवहार को जानकर, उसका लक्ष्य छोड़कर निश्चय आनन्द स्वरूप आत्मा में जाये, वीतरागस्वरूप आत्मा में

जाये, उसको व्यवहार जानने का सफलपना कहा है। जो वीतरागस्वरूप आत्मा में ढ़लता है, उसी के व्यवहार को निमित्तपना कहा है, किन्तु जो व्यवहार में ही खड़ा रहे और निश्चयस्वरूप में जावे नहीं; उसके व्यवहार का सफलपना नहीं होता और उसके व्यवहार को व्यवहार भी नहीं कहते। *(आत्मधर्म, अंक-438, अप्रैल 1980, पृष्ठ 42)*

(496)

प्रश्न—लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण आदि करने से आत्मा शुद्ध हो जाता है, तो फिर पहले से ही शुद्धात्मा के अवलम्बन का खेद किस काम का?

उत्तर—शुद्धात्मा के भानरहित जो प्रतिक्रमाणदि हैं, वे दोष को घटाने-टालने में समर्थ नहीं है। कारण यह है कि जिसे आत्मा का अवलम्बन नहीं हुआ, उसे तो राग में एकताबुद्धि पड़ी है, उसके शुभराग के क्रियाकाण्ड मात्र दोषरूप ही हैं, दोष मिटाने में समर्थ नहीं है। अज्ञानी के प्रतिक्रमणादि तो पापरूप विषकुम्भ ही हैं और शुभरागरूप प्रतिक्रमणादि भी, आत्मा का अवलम्बन नहीं होने से, उसके लिए तो विषकुम्भ ही हैं।

ज्ञानी के प्रतिक्रमणादि को आत्मा का अवलम्बन होने से व्यवहारनय से ही अमृतकुम्भ कहा है। ज्ञानी जब स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता, तब अशुभ से बचने के लिए शुभराग आता है। आचारशास्त्रों मे जितनी भी शुभक्रियाकाण्ड की बात आती है, वह व्यवहारनय से ही अमृतकुम्भ कही गयी है, निश्चयनय से तो वह विषरूप ही है—बन्धरूप ही है। *(आत्मधर्म, अंक-439, मई 1980, पृष्ठ 28)*

(497)

प्रश्न—ज्ञानी का व्यवहार प्रतिक्रमण भी बन्ध का कारण है—ऐसा कहने का प्रयोजन क्या?

उत्तर—निश्चयदृष्टिवाले ज्ञानी का व्यवहार प्रतिक्रमण आदि भी बन्ध का कारण है—ऐसा कहकर व्यवहार का आलम्बन छुड़ाया है। जिनेन्द्र का स्मरण, भक्ति, स्वाध्याय, मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा-कराना, शास्त्र-रचना, व्रत, तप आदि अनेक प्रकार के शुभ आलम्बन में चित्त का भ्रमण होता होने से उनका आलम्बन भी छुड़ाकर शुद्धस्वरूप के

स्तम्भ से चित्त को बाँधने का प्रयोजन है—शुद्ध स्वरूप के आलम्बन कराने का प्रयोजन है। *(आत्मधर्म, अंक-439, मई 1980, पृष्ठ 28-29)*

(498)

प्रश्न—पञ्चास्तिकाय की गाथा 172 में कहा है कि भिन्न साधन-साध्यरूप व्यवहार को न माने तो मिथ्यादृष्टि है—इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर—साधक अवस्था में शुद्धता के अंश के साथ भूमिका-प्रमाण शुभराग भी आता है, उसका ज्ञान कराया है तथा उपचार से उस राग को व्यवहार साधन कहा है, किन्तु उस व्यवहार के आश्रय से निश्चय की प्राप्ति होती है—ऐसा उसका आशय नहीं है। चूँकि साधक को दोनों साधन एक साथ वर्तते हैं, अत: उनका ज्ञान कराने के लिए वह कथन है। साधक को ये दोनों एक साथ वर्तते हैं—ऐसा जो न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है—ऐसा समझना। फिर भी रागादि व्यवहार-साधन के अवलम्बन से निश्चय-साधन प्राप्त हो जायेगा—ऐसा समझना भूल है। *(आत्मधर्म, अंक-412, फरवरी 1978, पृष्ठ 29)*

(499)

प्रश्न—भगवान द्वारा कहे गये व्यवहार का पालन करते पर भी अभव्य को आत्मा का अवलम्बन नहीं होता, जबकि तिर्यंच सम्यग्दृष्टि को व्यवहार नहीं है, फिर भी आत्मा का अवलम्बन है—ऐसा क्यों है ?

उत्तर—हाँ! यहाँ खूबी तो यह है कि व्यवहार भी जैसा जिनेन्द्र भगवान ने देखा है और उनने कहा है, वैसे व्यवहार का पालन करने पर भी अभव्य आत्मा का आश्रय नहीं लेता, उसको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट नहीं होते। दूसरे के द्वारा कहे गये व्यवहार की बात नहीं, सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गए व्यवहार का भी निश्चय में निषेध होता है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 29-30)*

(500)

प्रश्न—निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध होता है, इसलिए निषेध्य है—ऐसा विचार करके व्यवहार को छोड़ दे और निश्चय हो नहीं तो ?

उत्तर—आत्मा में झुकता है तो व्यवहार हेय हो जाता है। 'हेय करूँ, हेय करूँ'—ऐसा करता है, यह तो विकल्प है। निश्चय में जाते ही व्यवहार हेय हो जाता है, निषेध सहज होता है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 29-30)*

(501)

प्रश्न—निश्चयनय कितने प्रकार का कहा जाता है ?

उत्तर—यथार्थ में तो त्रिकाली द्रव्य, यही निश्चय है। राग को जब व्यवहार कहना हो, तब निर्मल पर्याय को उससे भिन्न बताकर, उसको निश्चय कहा जाता है। कर्म को व्यवहार कहना हो, तब राग को निश्चय कहा जाता है। अनुभूति की पर्याय व्यवहार है, तो भी द्रव्य की ओर ढ़ली है; इससे उसको निश्चय कहकर अनुभूति को ही आत्मा कहा है। इस प्रकार अपेक्षा से निश्चयनय के अनेक प्रकार हो जाते हैं।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 29)

(502)

प्रश्न—मुक्ति और संसार में अन्तर नहीं है—ऐसा कौन पुरुष कहते हैं ? और किस नय से कहते हैं ?

उत्तर—शुद्धनिश्चयनय के बल से व्यवहारनय को हेय कहा है, उस हेयरूप व्यवहारनय के विषय में उदय आदि चार भाव आ जाते हैं। चौदह जीवस्थान और चौदह मार्गणास्थान और चौदह गुणस्थान भी आ जाते हैं। उन सबको शुद्धनिश्चयनय के बल से हेय गिनने में आया है। अरे! संसार और मोक्ष यह सब पर्यायें होने से त्रिकाली शुद्ध जीववस्तु में उनका अभाव होने से, उन्हें व्यवहार जीव गिनकर हेय कहा है। आहाहा! गजब बात की है। निमित्त को तो परस्वभाव गिनकर, परद्रव्य गिनकर हेय कहा गया है और राग को भी परस्वभाव गिनकर, परद्रव्य गिनकर हेय कहा गया है। परन्तु यहाँ नियमसार गाथा 50 में तो निर्मल पर्याय को भी परस्वभाव कहकर, परद्रव्य कहकर हेय कहा है। आहाहा! आचार्यदेव ने अन्तर के मूल मक्खन की बात प्रसिद्ध कर दी है। निर्मल पर्याय के ऊपर लक्ष्य जाने से विकल्प उठते हैं; इसलिए उसका लक्ष्य छुड़ाने के हेतु से उसे परस्वभाव और परद्रव्य कहकर हेय कहा है।

(आत्मधर्म, अंक-417, अप्रैल 1978, पृष्ठ 22)

(503)

प्रश्न—समयसार की टीका करने से मलिनता नाश होती है क्या ?

उत्तर—टीका करने के विकल्प से मलिनता नाश नहीं होती। हाँ, टीका के काल में दृष्टि के बल से अन्तर में एकाग्रता बढ़ती जाती है, उससे मलिनता नाश होती है। तब उपचार करके टीका से मलिनता नाश होती है—ऐसा व्यवहार से कहा है।

(आत्मधर्म, अंक-425, जनवरी 1980, पृष्ठ 30)

(504)

प्रश्न—निश्चय श्रुतकेवली किसे कहते हैं ?

उत्तर—दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा का अनुभव करता है, वह निश्चयश्रुतकेवली है। जिसमें से केवलज्ञान प्रकट होनेवाला है—ऐसे आत्मा को जिसने स्वानुभव से जाना, वह परमार्थ से श्रुतकेवली है। उसको अल्पकाल में केवलज्ञान अवश्य होनेवाला है, इसलिए उसे परमार्थ श्रुतकेवली कहा है। तथा इस आत्मा को जाननेवाली जो श्रुतज्ञान की पर्याय है, उसमें 'ज्ञान सो आत्मा' ऐसा भेद पड़ता है; अत: उस ज्ञान-पर्याय को व्यवहारश्रुतकेवली कहा। जो ज्ञानपर्याय सर्व को जानती है, वह स्व-पर की ज्ञायक ज्ञानपर्याय सर्वश्रुतज्ञान है—उसको व्यवहार-श्रुतकेवली कहते हैं।

(आत्मधर्म, अंक-421, नवम्बर 1978, पृष्ठ 25)

(505)

प्रश्न—आस्रव व्यवहार से ज्ञेय कब हो ?

उत्तर—आस्रवभाव अशुचिरूप है और आत्मा पवित्र है। आस्रव का अंश भी स्वभाव को रोकता है, इसलिए वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत है। आत्मस्वभाव तो स्व-पर का ज्ञाता है, अत: आत्मा चेतनस्वभाव है और आस्रव स्वयं कुछ नहीं जानते; इसलिए वे जड़स्वभाव है।

आस्रव तो अन्य के द्वारा ज्ञेय होने योग्य हैं। यहाँ 'आस्रव अन्य के द्वारा ज्ञेय होने योग्य हैं'—ऐसा कहकर आस्रवों को आत्मा का व्यवहार से ज्ञेयत्व सिद्ध किया है। वे

आस्रव वास्तव में व्यवहार से ज्ञेय कब हों ? जब आत्मा आस्रवों से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर, आस्रवों से विमुख होकर, स्वभाव की तरफ बढ़ें; तब उसकी स्व-पर प्रकाशक शक्ति प्रगट हो और तब वह आस्रवों से अपने को भिन्न जाने अर्थात् वे आस्रव परज्ञेय हो जायें, व्यवहार से ज्ञेय हो जायें। 'आस्रव वह मैं हूँ'—ऐसी पर्यायबुद्धि से स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति विकसित नहीं होती अर्थात् आस्रव व्यवहार से ज्ञेय नहीं होते।

आस्रवों से भिन्न पड़े बिना, आस्रवों को व्यवहार से ज्ञेय करेगा कौन ? जिसने परमार्थज्ञेयरूप से आत्मा को लक्ष्य में लिया है, वही आस्रवों को व्यवहार से ज्ञेयरूप जानता है। *(आत्मधर्म, अंक-82, श्रावण 2476, पृष्ठ 215)*

मूल वस्तु में अशुद्धता प्रवेश नहीं करती

द्रव्य जो मूल वस्तु है, उसमें अशुद्धता प्रविष्ट हो जाये तो द्रव्य के स्वभाव का नाश हो जाये। मूल वस्तु में कोई अशुद्धता प्रविष्ट नहीं होती, अशुद्धता ऊपर-ऊपर रहती है। जैसे स्फटिक निर्मल है, उसके अन्दर में लाल-पीला प्रविष्ट हो जाये तो स्फटिक ही नहीं रहता परन्तु लाल-पीला, ऊपर-ऊपर के प्रतिबिम्ब हैं। स्फटिक में प्रतिबिम्ब ऊपर-ऊपर रहते हैं परन्तु अन्दर प्रविष्ट नहीं होते। मूल में-तल में प्रतिबिम्ब नहीं जाता। इसी प्रकार द्रव्य स्वयं शुद्ध रहता है और पर्याय ऊपर-ऊपर रहकर उसमें सब मलिनता होती है। यह मलिनता अनादि के कर्म का संयोग और पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण होती है। उसमें मूल वस्तु में शुद्धता रहती है और पर्याय में अशुद्धता होती है। अनादि से वस्तु ऐसी है। जैसे पानी स्वभाव से निर्मल है, उसमें कीचड़ के निमित्त से मलिनता होती है तो भी मूल में से शुद्धता जाती नहीं है। समस्त मलिनता ऊपर-ऊपर होती है, मूल वस्तु है, उसमें अशुद्धता प्रविष्ट नहीं हुई है। इसी प्रकार दो भाग है कि द्रव्य, वह उसका मूल तल है और ऊपर-ऊपर पर्यायें हैं। ज्ञायकस्वभाव ऐसा है कि उसके मूल में अशुद्धता होती नहीं, परन्तु उसकी परिणति अशुद्धरूप होती है और उसे पलटा जा सकता है।

— पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन

[13]

प्रमाण-नय

(506)

प्रश्न—द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय किसको जानते हैं ?

उत्तर—त्रिकाली स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और वर्तमान पर्याय को देखनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है। जो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को जाने, अपना कहे, वह द्रव्यार्थिकनय है। उसमें त्रिकाली स्वभाव को जाननेवाला ज्ञान तो अन्तरङ्गनय (अर्थनय अथवा भावनय) है, और उसको कहनेवाला वचन बहिर्नय (वचनात्मकनय अर्थात् शब्दनय) कहा जाता है। जो ज्ञान वर्तमान पर्याय को जानता है, उस ज्ञान को या उसके कहनेवाले वचन को पर्यायार्थिकनय कहते हैं। उसमें पर्याय को जाननेवाला ज्ञान अन्तरङ्गनय है और उसको कहनेवाला वचन बहिर्नय है।

सिद्धदशा को जाननेवाला ज्ञान पर्यायार्थिकनय है, परन्तु सिद्धदशा प्रगट करने का उपाय पर्यायदृष्टि नहीं है। द्रव्यदृष्टि ही सिद्धदशा प्रगट करने का उपाय है; फिर भी जो सिद्धदशा प्रगट होती है, उसे जाननेवाला तो पर्यायार्थिकनय ही है।

(आत्मधर्म, अंक-51, पोष 2474, पृष्ठ 36-37)

(507)

प्रश्न—द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को मुख्य करके जानता है; यहाँ 'द्रव्य' का अर्थ क्या है ?

उत्तर—द्रव्य और पर्याय को मिलाकर द्रव्य कहा जाता है, वह नहीं अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड, वह द्रव्य—यह अपेक्षा यहाँ नहीं है। यहाँ तो वर्तमान अंश को गौण करके त्रिकाल द्रव्य शक्ति, वह द्रव्य है; सामान्य स्वभाव है और वर्तमान अंश विशेष है, पर्याय

है। इन दोनों को मिलाकर जो सम्पूर्ण द्रव्य है, वह प्रमाण का विषय है और उसमें से सामान्य स्वभाव द्रव्यार्थिकनय का विषय है तथा विशेष पर्यायार्थिकनय का विषय है।

द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में पर्याय गौण है अर्थात् इस नय की दृष्टि में सिद्धदशा प्रकट हुई—यह बात नहीं आती; त्रिकालशुद्ध ज्ञानस्वभाव ही द्रव्यदृष्टि का विषय है और उसके ही आश्रय से निर्मल पर्याय प्रकट होती है। द्रव्य का विश्वास करने से ही पर्याय में निर्मल कार्य होता है। *(आत्मधर्म, अंक-51, पोष 2474, पृष्ठ 37)*

(508)

प्रश्न—द्रव्यनय और द्रव्यार्थिकनय के विषय में क्या अन्तर है ?

उत्तर—द्रव्यनय का विषय तो एक ही धर्म है। समयसारादि में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ऐसे दो ही मुख्य नय लिए हैं; उनमें जो द्रव्यार्थिकनय है, उसका विषय अभेद द्रव्य है। द्रव्यनय तो वस्तु में भेद करके उसके एक धर्म को लक्ष्य में लेता है, जबकि द्रव्यार्थिकनय भेद किये बिना वर्तमान पर्याय को गौण करके अभेद द्रव्य को लक्ष्य में लेता है—इस प्रकार इन दोनों के विषय में बहुत अन्तर है। समयसार में कथित शुद्धनिश्चयनय का जो विषय है, वही द्रव्यनय का विषय नहीं है; उस निश्चयनय का विषय तो वर्तमान अंश को तथा भेद को गौण करके सम्पूर्ण अनन्त गुणों का पिण्ड है और यह द्रव्यनय तो अनन्त धर्मों में से एक को भेद करके विषय करता है।

(नय प्रज्ञापन, पृष्ठ 23-आत्मधर्म, अंक-94, श्रावण 2477, पृष्ठ 222-223)

(509)

प्रश्न—श्रुतज्ञान में ही नय क्यों होते हैं, अन्य ज्ञानों में क्यों नहीं होते ?

उत्तर—मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल—इन पाँच प्रकार के ज्ञानों अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष है तथा मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है। नय परोक्षज्ञान है। प्रत्यक्षज्ञान का अंश तो प्रत्यक्ष ही होता है, अत: उसमें नय नहीं होते। केवलज्ञान पूर्ण स्पष्ट प्रत्यक्ष है तथा अवधि, मन:पर्यय भी अपने-अपने विषय में प्रत्यक्ष हैं; अत: इन तीनों प्रत्यक्ष ज्ञानों में तो परोक्षरूप नय होते नहीं।

मतिज्ञान यद्यपि परोक्ष है; परन्तु उसका विषय अल्प है, वह मात्र वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है, सर्वक्षेत्र और सर्वकालवर्त्ती पदार्थों को वह ग्रहण नहीं करता; इसलिए उसमें नय नहीं पड़ते, क्योंकि जो पूरे पदार्थ के ज्ञानपूर्वक उसमें भाग करके जाने, उसे नय कहते हैं।

श्रुतज्ञान अपने विषयभूत समस्त क्षेत्र-कालवर्त्ती पदार्थों को परोक्षरूप से ग्रहण करता है, इसलिए उसमें ही नय पड़ते हैं। श्रुतज्ञान में भी जितना स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो गया है, उतना तो प्रमाण ही है और जितना परोक्षपना रह गया है, उसमें नय पड़ते हैं। श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष ही नहीं है, स्वसंवेदन में वह आंशिक प्रत्यक्ष भी है। ऐसे स्वसंवेदनपूर्वक ही सच्चे नय होते हैं। श्रुतज्ञान, केवलज्ञान की तरह सकलपदार्थों को भले न जाने, किन्तु अपने विषय के योग्य पदार्थों को सकल काल-क्षेत्रसहित पूरा ग्रहण करता है और उसमें एकदेशरूप नय होता है। *(आत्मधर्म : अंक 97, कार्तिक 2478, पृष्ठ 18)*

(510)

प्रश्न—श्रुतज्ञान त्रिकाली पदार्थ को परोक्ष जानता है, इसलिए उसमें ही नय होते हैं—ऐसा कहा है; क्या इसमें कोई रहस्य भी है ?

उत्तर—हाँ; रहस्य है और सूक्ष्म है। इसमें से ऐसा न्याय निकलता है कि द्रव्यार्थिकनय मुख्य है और पयार्यार्थिकनय गौण है। त्रिकालीपदार्थ का ज्ञान हो, तभी उसके अंश के ज्ञान को पर्यायार्थिक कहा जाता है। जब द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाली द्रव्य को जाना, तब उसके पर्यायरूप अंश को जाननेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है। त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख होकर उसको जाना, तभी उसके अंश के ज्ञान को व्यवहारनय कहा गया। त्रिकाली के ज्ञान बिना अंश का ज्ञानरूप व्यवहार नहीं होता। इस प्रकार यह बात निश्चित हुई कि निश्चय के बिना व्यवहार नहीं और द्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का ज्ञान नहीं। व्यवहारनय तो अंश को जानता है, किन्तु अंश किसका ? त्रिकाली पदार्थ का; अत: त्रिकाली पदार्थ के बिना उसके अंश का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। श्रुतज्ञान भी त्रिकाली द्रव्यस्वभाव भी तरफ लगे, तो ही उसमें नय होते हैं। त्रिकाली के ज्ञान बिना मात्र पर्याय को अथवा भेद को जाना जाये तो वहाँ पर्यायबुद्धि का एकान्त हो जाता है - मिथ्यात्व हो जाता है, उसमें नय नहीं

होते। आत्मा नित्य है, शुद्ध है—ऐसा जाननेवाला नय त्रिकाली पदार्थ के ज्ञान बिना नहीं होता। तथा शुद्धता, नित्यता आदि को जाने बिना अकेली अशुद्धता अथवा अनित्यता को जाना जाये तो भी एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है, वहाँ व्यवहारनय भी नहीं होता।

(आत्मधर्म : अंक 97, कार्तिक 2478, पृष्ठ 18)

(511)

प्रश्न—मति-श्रुतज्ञानी आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं—ऐसा कहा, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में तो मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है ?

उत्तर—प्रत्यक्ष जानना तो आत्मा का स्वभाव है। अनुभव में सम्यक्त्वी आत्मा को (अनुभव की अपेक्षा से) प्रत्यक्ष जानता है, जानने की अपेक्षा परोक्ष है।

(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 13)

(512)

प्रश्न—'प्रमाणज्ञान के लोभ से निश्चय में नहीं आ सकता' इस कथन का क्या आशय है ?

उत्तर—प्रमाणज्ञान के लोभ से निश्चय में नहीं आ सकता—इस कथन का तात्पर्य यह है कि अज्ञानी, पर्याय का और द्रव्य का ज्ञान करने जाता है, वहाँ अनादि के अभ्यास से पर्याय में अहंपने का जोर होने से द्रव्य का ज्ञान सच्चा नहीं होता। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'पर्याय है न! पर्याय है तो सही!' इस प्रकार पर्याय पर जोर देने से द्रव्य पर जोर नहीं दे सकता, इसलिए अन्तर्मुख नहीं हो पाता। पर्याय को नहीं मानूँगा, तो एकान्त हो जायेगा - ऐसा भय बना रहता है। इस प्रकार प्रमाणज्ञान के लोभ से पर्याय को गौण करके द्रव्यसन्मुख नहीं हो पाता।

द्रव्य, पर्याय का दाता नहीं है - ऐसा योगसार (प्राभृत) में आता है। यह कथन द्रव्यार्थिकनय का है और द्रव्य, पर्यायरूप से परिणमित होता है—यह कथन पार्यायार्थिकनय का है। वहाँ भी द्रव्यसामान्य तो सामान्यरूप ही रहा है, परन्तु द्रव्य का एक धर्म विशेषरूप से परिणमित होने का है; इसलिए द्रव्य परिणमित होता है - ऐसा कहा है।

समयसार, गाथा 50 से 55 में अनुभूति को आत्मा कहा है। वहाँ जितने विकल्प

उठते हैं, उनसे भिन्न और स्व से अभिन्न कहा है, इसलिए अनुभूति की निर्मल पर्याय को आत्मा कहा है। परन्तु जब यह बतलाना हो कि वह अनुभूति कैसे प्रगट होती है ?—तब त्रिकाली ध्रुवचैतन्य, वह 'स्व' है और उसका आश्रय करनेवाली पर्याय, वह 'पर' है, भिन्न है—ऐसा नियमसार की 50वीं गाथा में कहा है। उस अनुभूति की निर्मल पर्याय, ध्रुवद्रव्य का स्पर्श नहीं करती और ध्रुवद्रव्य, अनुभूति का स्पर्श नहीं करता। अहो! ये तो परम अध्यात्म में भरे हुए गम्भीर सूक्ष्म भाव हैं। जानन क्रिया और त्रिकाली ध्रुवद्रव्य एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते, तथापि जाननक्रिया का आधार आत्मद्रव्य है।

(आत्मधर्म, अंक-386, दिसम्बर 1975, पृष्ठ 32)

(513)

प्रश्न—सच्चा और सर्वांगीण होने पर भी प्रमाणज्ञान पूज्य नहीं, और निश्चयनय पूज्य है; इसका क्या कारण है ?

उत्तर—आत्मा द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप है; इस प्रकार प्रथम ज्ञान में ज्ञात करना चाहिए। भले ही यह भेद-कथन का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है, तथापि प्रथम यह जानना, वह ज्ञान का अङ्ग है; सम्यक् होने से पहले वह आता है। द्रव्य-गुण-पर्याय सहितवाला द्रव्य—सम्पूर्ण वस्तु—प्रमाणज्ञान का विषय है; प्रथम ज्ञान में उसको जानना चाहिए। प्रमाणज्ञान में द्रव्य-पर्याय दोनों आते हैं; अत: वह व्यवहारनय का विषय होने से पूज्य नहीं है। निश्चयनय का विषय एक त्रिकाली शुद्धात्मा है; इसलिए निश्चयनय को पूज्य कहा है। द्रव्य-गुण-पर्याय में वस्तु व्याप्त होने पर भी शुद्धनय एकरूप शुद्धात्मा को ही बतलाता है। वह कहता है कि एक प्रत्यक्ष प्रतिभासरूप सकल निरावरण नित्य निरञ्जन निज शुद्धात्मद्रव्य ही मैं हूँ। द्रव्य-गुण-पर्यायमय वस्तु होने पर भी, आश्रय करने के लिए तो मात्र शुद्धात्मा ही एक है—ऐसा शुद्धनय निर्णय कराता है।

(आत्मधर्म, अंक-422, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 26)

(514)

प्रश्न—प्रमाण ध्रुवद्रव्य से बड़ा है या छोटा ?

उत्तर—प्रमाण में व्यवहार का निषेध न होने से वह पूज्य नहीं है। ध्रुव आश्रय योग्य

होने से पूज्य हैं, अत: बड़ा है। मात्र त्रिकाली भगवान (ध्रुव) दृष्टि में आता है; इसलिए वह पूज्य व बड़ा है। *(आत्मधर्म, अंक-401, नवम्बर 1977, पृष्ठ 18)*

(515)

प्रश्न—स्व-पर प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है, वह किस प्रकार ? छद्मस्थ के तो कहीं स्व-पर का एक साथ उपयोग होता नहीं ?

उत्तर—प्रमाण को स्व-पर प्रकाशक कहा है, वहाँ स्व और पर दोनों में एक साथ उपयोग होने की बात नहीं है, किन्तु जिस ज्ञान ने स्व को स्व-रूप से और पर को पर-रूप से जाना है, वह सम्यग्ज्ञान प्रमाण है; इस प्रकार उसका स्व-पर प्रकाशकपना समझना। अवधि-मन:पर्यय का उपयोग तो पर में ही होता है, तथापि वे भी स्व को स्वपने और पर को परपने जानते हैं, इसलिए प्रमाण है। छद्मस्थ का उपयोग तो जब स्व में होता है, तब पर में नहीं होता और पर में होता है, तब स्व में नहीं होता, तथापि प्रमाणरूप सम्यग्ज्ञान तो ज्ञानी के सदैव वर्तता है। पर को जानने समय भी 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा आत्मभान मिटता नहीं और यही ज्ञान की प्रमाणता है। *(आत्मधर्म, अंक-261, जुलाई 1965, पृष्ठ 29)*

(516)

प्रश्न—नयों को इन्द्रजाल क्यों कहा है ?

उत्तर—नयों में अनेक प्रकार की अपेक्षाएँ आती हैं, उनके द्वारा वस्तु में विद्यमान कथञ्चित् परस्पर विरुद्ध धर्म बताये जाते हैं। जो स्याद्वाद से उनका सच्चा स्वरूप नहीं समझता, उसे इन्द्रजाल जैसी उलझन लगती है। जैसे - एक नय द्रव्य को नित्य कहता है, दूसरा नय उसे अनित्य कहता है; एक नय द्रव्य को एकरूप कहता है, दूसरा नय अनेकरूप कहता है; एक नय द्रव्य को सत्‌रूप कहता है, दूसरा नय असत्‌रूप कहता है; एक नय क्रिया से मुक्ति कहता है, दूसरा नय ज्ञान से मुक्ति कहता है; एक नय कर्म-नोकर्म को व्यवहार कहकर राग को निश्चय कहता है और एक नय उसी राग को व्यवहार कहकर निर्मल पर्याय को निश्चय कहता है तथा एक नय निर्मल पर्याय को व्यवहार कहकर त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को निश्चय कहता है। इस प्रकार नय वस्तु के अनेक धर्मों को अनेक अपेक्षाओं से बतलाते हैं। इन्हें जो यथार्थ न समझे, उसे इन्द्रजाल जैसी उलझन मालूम

होती है। वास्तव में तो नय वस्तु के स्वरूप का अनेकान्तपना बतलाकर सम्यक्-एकान्त ऐसे त्रिकाली ध्रुव सामान्यद्रव्य का आश्रय कराते हैं और यही नयों को जानने का मूल प्रयोजन है। *(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 25)*

(517)

प्रश्न—इतने सब नयों से आत्मा को जानने का क्या काम है ? मात्र 'आत्मा है'—ऐसा जान लेने से काम नहीं चल सकता क्या ?

उत्तर—भाई ! 'आत्मा है'—ऐसा तो लगभग सभी कहते हैं, परन्तु आत्मा में जैसे अनन्त धर्म हैं, वैसे ही धर्मों से उसे पहचाने, तो ही आत्मा को जाना कहा जाये। 'आत्मा है'—ऐसा कहे, किन्तु उसके अनन्त धर्म जिस रीति से हैं, उस रीति से न जाने तो उसने आत्मा को जान लिया—ऐसा नहीं कह सकते। *(आत्मधर्म, अंक-94, श्रावण 2477, पृष्ठ 220)*

(518)

प्रश्न—प्रवचनसार में विकार को शुद्धनय से जीव का कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—विकार को जीव ने स्वयं किया है, वह निज अपराध का ही कार्य है, वह विकार कर्म से—पुद्गल से उत्पन्न नहीं हुआ है—ऐसा बतलाने के लिए विकार को शुद्धनय से जीव का कहा है। *(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 24)*

(519)

प्रश्न—विकल्पनय में आत्मद्रव्य को बालक, कुमार और वृद्ध जैसे एक पुरुष की तरह सविकल्प कहा है। वहाँ विकल्प का अर्थ क्या समझना चाहिए ?

उत्तर—वहाँ विकल्प का अर्थ भेद है। जैसे एक पुरुष में बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेद पड़ते हैं; वैसे ही भेदनय से आत्मा गुण-पर्याय के भेदवाला है। वस्तु में अनन्तगुण हैं, उनमें परस्पर कथञ्चित् और क्रमसर होनेवाली उनकी पर्यायों में भी परस्पर भेद है। वस्तु में दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जो भेद हैं, उन्हें विकल्प कहा है। विकल्प अर्थात् राग नहीं, परन्तु विकल्प अर्थात् भेद। एक आत्मा ही एक समय में भेदवाला है। विकल्पनय से देखने पर आत्मा अनन्त गुण-पर्यायों के भेदरूप भासित होता है, ऐसा उसका एक धर्म है। *(आत्मधर्म, अंक-99, पौष 2478, पृष्ठ 50)*

(520)

प्रश्न—जिस प्रकार अस्तित्व धर्म वस्तु का अपना है, उसी प्रकार नास्तित्वधर्म भी क्या वस्तु का अपना ही है ?

उत्तर—जो आत्मद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है, वही आत्मद्रव्य पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है। पर से न होनापना भी वस्तु का ही एक अंश है। वस्तु में जहाँ भाव-अंश है, वहा ही अभाव-अंश भी है; जहाँ स्व से अस्तित्वरूप धर्म है, वहीं पर से नास्तित्वरूप धर्म भी साथ ही है; एक ही अंशी के दो अंश हैं।

नास्तित्वधर्म भी अपना ही अशं है। नास्तिधर्म स्वयं कहीं वस्तु में अभावरूप नहीं है, किन्तु सत् है। इस धर्म में 'पररूप से नहीं' ऐसी पर की अपेक्षा भले ही आवे, किन्तु वह नास्तित्वधर्म कहीं पर के आधार से अथवा पर का नहीं है, वह धर्म तो वस्तु का अपना ही है। वह भी स्वज्ञेय का अंश है, यदि उसे न माना जावे, तो सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति नहीं हो सकती। *(नयप्रज्ञापन, पृष्ठ 43 : आत्मधर्म, अंक-95, भाद्रपद 2477, पृष्ठ 233)*

(521)

प्रश्न—नयविवक्षा में बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धनिश्चयनय होता है; अशुद्धनिश्चय में शुद्धापयोग कैसे घटता है ?

उत्तर—वस्तु का एकदेश की परीक्षा, वह नय का लक्षण है और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध द्रव्य का अवलम्बन, वह उपयोग का लक्षण है; इसलिए अशुद्धनिश्चयनय में भी शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन होने से, शुद्ध ध्येय होने से, तथा शुद्ध साधक होने से शुद्धोपयोग परिणाम घटता है। अशुद्धनय भले ही बारहवें गुणस्थान तक हो, परन्तु साधक जीव के उपयोग का अवलम्बन त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभाव है, उसका ध्येय शुद्ध है, और वह शुद्ध का साधक है; इसलिए उसके, अशुद्धनय होने पर भी पर्याय में शुद्धोपयोग होता है।

(आत्मधर्म, अंक-387, जनवरी 1976, पृष्ठ 29)

(522)

प्रश्न—यदि शब्द का पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो वह शब्द पदार्थ का

वाचक कैसे हो सकता है ?

उत्तर—'प्रमाण अर्थात् ज्ञान का ज्ञेयपदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो भी वह ज्ञान पदार्थों को किसप्रकार जानता है ?'— यह बात भी उपर्युक्त शङ्का जैसी ही है। अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयपदार्थों का कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि ज्ञान ज्ञेय पदार्थों को जान लेता है; उसी प्रकार शब्द का पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तो भी शब्द, पदार्थ का वाचक है—इसमें क्या आपत्ति है ? *(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 236)*

(523)

प्रश्न—ज्ञान और ज्ञेयपदार्थों को तो जन्य-जनक लक्षणवाला सम्बन्ध है ?

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि वस्तु की शक्ति की अन्य पदार्थ द्वारा उत्पत्ति मानने में विरोध आता है अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु को उसीरूप से जानने की शक्ति को प्रमाण कहते हैं। जानने की यह शक्ति पदार्थों द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। यहाँ इस विषय में श्री जयधवल भाग 1, पृष्ठ 238 का एक श्लोक उद्घृत किया जाता है :—

''स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमितिगृह्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येत पार्यते॥''

सर्वप्रमाणों में स्वतः प्रमाणता स्वीकार करना चाहिए। (अर्थात प्रत्येक ज्ञान अपने से ही होता है—ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए), क्योंकि जो शक्ति पदार्थ में स्वतः विद्यमान न हो, वह शक्ति अन्य पदार्थों द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। ऊपर आये हुए जयधवल के भाग में वीरसेनाचार्यदेव ने जो श्लोक दिया है, उसकी दूसरी लाईन, समयसार शास्त्र की गाथा 116-120 की श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कृत टीका में आती है, वहाँ आपश्री ने निम्नानुसार बतलाया है—

'**न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येत पार्यते**' अर्थात् वस्तु में जो शक्ति स्वतः (स्वयं से ही) न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता और '**स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत।**' अर्थात् स्वयं परिणमित होनेवाले को तो पर परिणमित करानेवाले की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। तत्पश्चात्

गाथा 121 से 125 की टीका में भी अक्षरश: यही शब्द कहे हैं।

(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 236)

(524)

प्रश्न—शुद्धनय के पक्ष का अर्थ क्या है ?

उत्तर—शुद्धनय का पक्ष अर्थात् शुद्धात्मा की रुचि हो जाना। यद्यपि अभी अनुभव नहीं हुआ है, तथापि रुचि ऐसी हुई है कि वह अनुभव करे ही करे। किस जीव को रुचि तो नही परन्तु वह मान ले कि मुझे रुचि हो गई है तो उसके अनुभव का कोई नियम नहीं है। केवलीभगवान सम्यक्त्व-सन्मुख जीव को वास्तव में जानते हैं कि इस जीव की रुचि ऐसी है कि वह अनुभव करेगा ही। ऐसी रुचिवाले को वीर्य में ज्ञायक का जोर उछाले मारता है। *(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रैल 1981, पृष्ठ 27-28)*

(525)

प्रश्न—क्रियानय और ज्ञाननय की मैत्री का क्या अर्थ है ?

उत्तर—पण्डित जयचन्दजी ने ऐसा कहा है कि साधक जीव के शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही एक साथ रहती हैं—इसका नाम मैत्री है; जबकि पण्डित राजमल्लजी ने कलशटीका में ऐसा कहा है कि—अशुद्धता की निवृत्ति, वह मैत्री है—अशुद्धि रहे, वह मैत्री नहीं, अर्थात् शुद्धता हुई, वह द्रव्य के साथ मैत्री है।

(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 22)

(526)

प्रश्न—समयसार और नियमसार आदि में ऐसा कहा है कि भगवान शुद्धात्मा में कोई औदयिकभाव है ही नहीं, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में उसे (औदयिकभाव को) आत्मा का स्वतत्त्व कहा है—इन दोनों की अपेक्षा समझाइये ?

उत्तर—समयसारादि में द्रव्यदृष्टि का वर्णन है, दृष्टि के विषय में पर्याय गौण हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण के विषय का वर्णन है। औदयिकभावरूप से भी आत्मा स्वयं परिणमता है, आत्मा की ही वह पर्याय है; इसलिए उसे स्वतत्त्व कहा है। वह

औदयिकभाव आत्मा के स्वकाल से अस्तिरूप है और कर्म से नास्तिरूप है, अर्थात् कर्मोदय के कारण वह उदयभाव हुआ—ऐसा वास्तव में नहीं है। पर से तो आत्मा का नास्तित्व है अर्थात् आत्मा और पर के बीच नास्तित्वरूपी महान दुर्ग खड़ा है, इसलिए परद्रव्य आत्मा का कुछ कर सके—ऐसा नहीं बन सकता।

(आत्मधर्म, अंक-95, भाद्रपद 2477, पृष्ठ 235)

(527)

प्रश्न—पुरुष प्रमाण है या वचन प्रमाण है ?

उत्तर—पुरुष की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता है। पूर्ण पुरुष को पहिचानने के बाद उसके वचनों को प्रमाण जानकर, उसमें कहे गये वस्तुस्वरूप को धर्मीजीव समझ जाता है। यदि पुरुष की प्रमाणता न हो तो वाणी भी प्रमाणरूप नहीं होती और जिसको निमित्तरूप में प्रमाणभूत वाणी नहीं, उसको अपने नैमित्तिकभाव में भी ज्ञान की प्रमाणता नहीं। प्रमाणज्ञान में प्रमाणरूप वाणी ही निमित्त होती है अर्थात् सत् समझने में ज्ञानी की ही वाणी निमित्त होती है, अज्ञानी की नहीं। सर्वज्ञ पुरुष को पहचाने बिना उसके वचन की प्रमाणता समझ में नहीं आती और उसके बिना आत्मा की समझ नहीं होती। इसलिए सबसे पहले सर्वज्ञ व सर्वज्ञता का निर्णय अवश्य करना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-95, भाद्रपद 2477, पृष्ठ 244)

यही उसकी शोभा है...

भाई! तेरा कर्तव्य तो यह है। यदि तुझे हित करना हो तो; यदि तुझे भटकना बन्द करना हो तो छह माह अभ्यास कर! और तू देख कि तेरे हृदय सरोवर में जिसका प्रकाश पुद्गल से भिन्न है—ऐसा आत्मा तुझे प्राप्त होता है या नहीं? अवश्य प्राप्त होगा क्योंकि स्वयं की अप्राप्ति कहीं शोभा देती है? पूर्णानन्द चैतन्यवस्तु को देख, छह माह उसका अभ्यास कर और देख कि तुझे वह आत्मा प्राप्त होता है या नहीं। प्राप्त होगा ही! जिसे देखने के लिये नजर की नजर छोड़कर निधान को देखने छह माह अभ्यास किया तो उसकी प्राप्ति होगी ही! क्योंकि प्राप्त न हो, वह उसकी शोभा नहीं है; प्राप्त हो, यही उसकी शोभा है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[14]
कर्ता-कर्म

(528)

प्रश्न—हम प्रात: से सायं तक सारे दिन पर का कार्य करते हैं, और 'नहीं करना' ऐसा आप कहते हो—ऐसा क्यो ?

उत्तर—पर का न करना—ऐसा नहीं, परन्तु पर का कार्य कर सकते ही नहीं। न करने में तो—'पर का कर सकते हैं, किन्तु करेंगे नहीं'—ऐसा अर्थ निकलता है; परन्तु यहाँ तो आत्मा, शरीरादि परद्रव्य का कार्य किञ्चित्मात्र भी कर सकता ही नहीं, पर के करने की आत्मा में शक्ति ही नहीं—ऐसा कहने का आशय है।

'मैं सारे दिन पर का कार्य करता हूँ'—ऐसा मानना ही मिथ्यात्व का बड़ा पाप है। एक वस्तु अन्य वस्तु के बाहर ही लौटती है, और अन्य वस्तु से बाहर लौटती वस्तु अन्य का क्या करे ? पानी से बाहर लौटती अग्नि, पानी को स्पर्शे बिना गर्म किस प्रकार कर सकती है ?

शाक से बाहर लौटता चाकू शाक के खण्ड कैसे कर सकता है ? शाक के टुकड़े की पर्याय वस्तु से स्वयं से ही स्वयं होती है, उससे बाहर लौटती वस्तु उसे छूती ही नहीं, तो उसका क्या करे ? समयसार, गाथा-3 में कहा कि प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्याय को स्पर्श करती है—चुम्बन करती है, किन्तु अन्य वस्तु को स्पर्श ही नहीं करती, तो उसका करे ही क्या ? मात्र कर्तापने का अभिमान अज्ञानी करता है। प्रत्येक वस्तु में स्वयं अपने से ही स्वतन्त्रतया परिणमन करती है—ऐसा सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में ढ़िढोरा पीटा गया है; तथापि किसी एक द्रव्य को मैं पलट सकता हूँ, उसका कुछ कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता में अनन्ते पदार्थों को भी मैं पलट सकता हूँ—ऐसी अनन्त कर्त्तत्वबुद्धि होने से वह मोटा मिथ्यात्व है। *(आत्मधर्म, अंक-441, जुलाई 1980, पृष्ठ 28)*

(529)

प्रश्न—यदि एक दूसरे की सेवा आदि परमार्थ का काम करें तो कुछ किया कहा जाए? मात्र अपना-अपना ही करते हैं और दूसरे का कुछ भी न करें तो इसमें क्या? अपना पेट तो श्वान भी भर लेता है।

उत्तर—पर का कुछ करना परमार्थ है—यह बात ही खोटी है। लोगों को महान भ्रम घर कर गया है कि पर का काम करना, वह परमार्थ है। परमार्थ की ऐसी व्याख्या है ही नहीं। परमार्थ अर्थात् परम पदार्थ, (परम + अर्थ) परम पदार्थ या उत्कृष्ट पदार्थ ही परमार्थ है और वह अपना आत्मा ही है; अत: वही सच्चा परमार्थ है। अथवा परम पदार्थ अर्थात् मोक्ष, उसका उपाय करना अर्थात् आत्मा की सच्ची समझ करना, वह परमार्थ है। मैं पर की सेवा कर सकता हूँ—ऐसा मानना, वह परमार्थ नहीं है, बल्कि इस मान्यता में तो परमार्थ का हनन होता है, क्योंकि आत्मा पर का कार्य कर ही नहीं सकता।

(आत्मधर्म, अंक-74, मागसर 2476, पृष्ठ 34-35)

(530)

प्रश्न—इस धर्म से तो समाज का कोई लाभ होनेवाला है नहीं?

उत्तर—वस्तु का सत्य स्वरूप तो इसी प्रकार है। अरे! समाज के जीवों को सत्य से लाभ होगा या असत्य से? सभी को लाभ सत्य से ही होगा। जिस सत्य से एक को लाभ होगा, उसी से अनन्त को भी लाभ होगा। संसार के जीव सत्य स्वरूप की नासमझी से ही दु:खी हैं, यदि समझ लें तो दु:ख टले और सुख प्रगट हो। सत्य समझे बिना किसी को लाभ नहीं होता और सत्य से किसी को कभी हानि नहीं होती। जो भी हानि इस जीव को हुई है और होती है, वह अपने असत्य भाव (मिथ्या समझ) से ही है। सत्य समझने में तो लाभ का ही धन्धा है, उसमें हानि तो है ही नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-74, मागसर 2476, पृष्ठ 35)

(531)

प्रश्न—जीव निश्चय से तो पर का कुछ नहीं करता, किन्तु व्यवहार से करता है—यह अनेकान्त तो मानना चाहिए?

उत्तर—यह मान्यता खोटी है। ऐसा माननेवाले को निश्चय और व्यवहार का ज्ञान ही नहीं है। निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी नय से—आत्मा पर का कुछ भी नही कर सकता। पर की क्रिया स्वतन्त्रपने होती है—इसका ज्ञान करना और उस समय के निमित्त का ज्ञान कराने के लिए 'इसने यह किया'—ऐसा उपचार से मात्र कहना व्यवहार है। जीव व्यवहार पर से पर का कर सकता है—ऐसा मानना व्यवहारनय नहीं है, मिथ्यात्व है।

(आत्मधर्म, अंक-55, वैशाख 2474, पृष्ठ 176)

(532)

प्रश्न—परजीवों का जीवन-मरण उनके अपने कारण से होता है, मैं उनका कुछ नहीं कर सकता, मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ—ऐसी श्रद्धा रखने से तो जीव के परिणाम निष्ठुर हो नहीं जायेंगे ?

उत्तर—भाई ! वस्तु-स्वभाव के अनुसार श्रद्धा करने का फल तो वीतरागता है। चैतन्यस्वभाव की श्रद्धापूर्वक जो दयादि के परिणाम छोड़कर मात्र ज्ञाता रहेगा तो वीतराग हो जायेगा, फिर अज्ञानी भले ही उस निष्ठुर कहे। संसार में भी युवा पुत्र मर जाने पर पिता उसके साथ मर नहीं जाता, तो उसे निष्ठुर क्यों नहीं कहते ? यह निष्ठुरता नहीं है, यह तो उस प्रकार का विवेक है।

जगत के जीव भी विकार के लक्ष्य से निष्ठुर हो जाते हैं। घर में बीस वर्ष की युवा बहु विधवा हो जाये और साठ वर्ष का ससुर विषयों में लीन हो रहा हो; देखो तो नहीं ! उसके परिणाम कितने निष्ठुर हैं। अज्ञानी कषाय के लक्ष्य से निष्ठुर होते हैं, जबकि ज्ञानी जीव अपने चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य से अपने में एकाग्र होकर विकारीभावों से रहित होकर सिद्ध हो जाते हैं और वीतरागी कहे जाते हैं। जो जीव विकारीभाव करते हैं; वे पर के लिए नहीं करते, किन्तु स्वयं में उस जाति की कषाय होने से वह विकार होता है और जो उसे करने योग्य मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी जीव अपना वीतरागस्वभाव साधने के लिए पर की चिन्ता नहीं करते। यह निष्ठरता नहीं है, यह तो स्वभावदशा-रागदशा है।

(आत्मधर्म, अंक-55, वैशाख 2474, पृष्ठ 99)

(533)

प्रश्न—यदि वाणी का कर्ता आत्मा नहीं है तो 'मुनि को सत्य वचन बोलना चाहिए'—ऐसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—सम्यग्ज्ञानपूर्वक सत्य बोलने का भाव हो, तब जो वाणी निकलती है, वह सत्य ही होती है—ऐसे सुमेल बतलाने के लिए निमित्त से कहते हैं कि मुनि को सत्य बोलना चाहिए, उसमें ऐसा आशय है कि मुनिराज को आत्मस्वरूप में स्थिर रहकर वाणी की तरफ विकल्प ही नहीं होने देना चाहिए और यदि हो तो असत्य वचन की तरफ का अशुभराग तो नहीं ही होने देना चाहिए। इसका आशय ऐसा कदापि नहीं है कि आत्मा, जड़ वाणी का कर्ता है। *(आत्मधर्म, अंक-57, भाद्रपद 2474, पृष्ठ 154)*

(534)

प्रश्न—यदि मुनियों के वाणी का कर्त्तत्व नहीं है, तो वे उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर—अरे भाई! मुनिराज उपदेश देते ही नहीं, वे तो उपदेश को जानते हैं। भगवान कहते हैं, जिनवर कहते हैं—ऐसा शास्त्र में कथन आता है। किन्तु भगवान कहते ही नहीं, भगवान तो वाणी को जानते ही हैं, वास्तव में तो 'स्व' को ही जानते हैं। स्व-पर जानना सहज है, पर की अपेक्षा ही नहीं, जानने का स्वभाव ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं अपने निज-वैभव से कहूँगा। तुम प्रमाण करना।

अरे भगवान! वाणी तुम्हारी तो नहीं है न ? वाणी से ज्ञान भी नहीं होता। भाई! अहा हा! गजब बात है, अद्भुत बात है, वस्तु का स्वरूप ही अद्भुत है। निमित्त-नैमित्तिक के कथन एक सर्वज्ञ के मार्ग में ही हैं, अन्यत्र नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 33)

(535)

प्रश्न—शरीर की पर्याय जिस काल में जो होनी होगी, उसे कौन रोके ? उसमें डॉक्टर भी क्या करे ? यदि डॉक्टर रोग मिटा नहीं सकता तो उसे धन्धा छोड़ देना चाहिए ?

उत्तर—दृष्टि अन्तर्मुख रखनी चाहिए। राग आवे, लोभ आवे, किन्तु वजन उसके

ऊपर नहीं जाना चाहिए। वजन तो अन्दर का ही चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 31)

(536)

प्रश्न—दृष्टि इस तरफ रखकर धन्धा करे न ?

उत्तर—धन्धा करे क्या ? करना—ऐसा नहीं; राग और लोभ का भाव आवे, उसे मात्र जानना। *(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 31)*

(537)

प्रश्न—मानना कुछ और करना कुछ ?

उत्तर—होना होता है, वही होता है—ऐसा मानना।

(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 31)

(538)

प्रश्न — एक परमाणु दूसरे परमाणु को छूता नहीं, तो दूध की कड़ाही में एक बूँद विष मिला देने पर सारा दूध विषरूप हो जाता है—उसका कारण कौन ?

उत्तर—प्रत्येक परमाणु अपना कारण-कार्य है। दूध के परमाणु विषरूप स्वयं से परिणमित हुए हैं; विष के रजकण से नहीं। आहाहा ! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं—यह बात वीतराग की माने कौन ? *(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 30)*

(539)

प्रश्न—क्या जीव का अजीव के साथ कारणकार्यभाव सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर—नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य का परिणाम अपने से होता है, उसे दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता। जीव अपने परिणाम से उत्पन्न होता है, उसे अजीव के साथ कारणकार्य भाव सिद्ध नहीं होता। होंठ चलते हैं, वाणी निकलती है, उनका कर्ता जीव है—ऐसा सिद्ध नहीं होता। दाल, भात, शाक होता है, उसे जीव नहीं कर सकता। रोटी का टुकड़ा होता है, उसे जीव नहीं कर सकता। शरीर के अवयवों का हलन-चलन होता है, उसका कर्ता जीव है—ऐसा सिद्ध नहीं होता। हाँ, उन अजीव के सभी कार्यों का कर्ता पुद्गलद्रव्य है—

ऐसा सिद्ध होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! वीतराग कथित वस्तु को समझे तो संसार से निवृत्त हो जाए— ऐसी बात है। *(आत्मधर्म, अंक-438, अप्रेल 1980, पृष्ठ 41)*

(540)

प्रश्न—एक जीव दूसरे जीव को दु:खी नहीं कर सकता—यह ठीक है, परन्तु असाताकर्म का उदय तो दु:ख का कारण है न?

उत्तर—ऐसा भी नहीं है क्योंकि असाता कर्म का उदय तो बाह्य प्रतिकूल संयोग दें, परन्तु उस संयोग के काल में दु:ख की कल्पना तो जीव स्वयं मोहभाव से करे तो ही उसे दु:ख होता है; अत: असाता-कर्म के उदय से दु:ख नहीं होता, किन्तु मोहभाव से ही होता है। असाता के उदय के समय भी यदि स्वयं मोह से दु:ख की कल्पना न करे और आत्मा को पहचान कर उसके अनुभव में रहे तो दु:ख नहीं होता। बाह्य संयोगों को बदला नहीं जा सकता, परन्तु संयोग की ओर से दृष्टि हटाकर वेदन को बदला जा सकता है।

(आत्मधर्म, अंक-74, मागसर 2476, पृष्ठ 33)

(541)

प्रश्न—पर से अपना कार्य नहीं होता—ऐसा निर्णय करने से क्या लाभ?

उत्तर—पर से अपना कार्य होता ही नहीं, ऐसा निर्णय करते ही परावलम्बी श्रद्धा तो छूट ही जाती है, इतना तो लाभ है ही; तत्पश्चात् स्व-सन्मुख ढलना रहा, स्व के आश्रय का पुरुषार्थ करते ही सम्यग्दर्शन हो जाता है।

(आत्मधर्म, अंक-430, अगस्त 1979, टाईटल पृष्ठ 3)

(542)

प्रश्न—राग को जीव करता है, कर्म करता है, और जीव तथा कर्म इकट्ठे मिलकर करते हैं ऐसा कहने में आता है—तो इन तीनों में सही क्या समझना चाहिए?

उत्तर—'राग' यह जीव के अपराध से होता है, इसलिए जीव राग का कर्ता है। परन्तु जीवस्वभाव मे विकार होने का कोई गुण नहीं, इसलिए द्रव्यदृष्टि कराने के लिए राग का कर्ता कर्म है, कर्म व्यापक होकर राग को करता है, ऐसा कहने में आता है और प्रमाण

का ज्ञान कराना हो तो जीव और कर्म दोनों इकट्ठे मिलकर राग को करते हैं, ऐसा कहने में आता है। जैसे 'पुत्र' माता और पिता दोनों का कहा जाता है।

भगवान आत्मा ज्ञायक ज्योति है, वह विकार का कर्ता नहीं। विकार का कर्ता मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये चार प्रकार के कर्म और उनके 13 प्रकार के प्रत्यय हैं। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, वह विकार का कर्ता नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 26-27)

(543)

प्रश्न—कर्ता-कर्म अधिकार में विकार को पुद्गल के साथ व्याप्य-व्यापक कहा है?

उत्तर—स्वभावदृष्टि से देखें तो विकार का कारण स्वभाव है ही नहीं। इसलिए विकार का निमित्त जो कर्म है, उसके साथ विकार को व्याप्य-व्यापक कहने में आता है।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 27)

(544)

प्रश्न—ज्ञानी, शुद्ध द्रव्य-गुण शुद्ध और पर्याय शुद्ध इतना ही आत्मा मानता है क्या?

उत्तर—ज्ञानी श्रद्धा की अपेक्षा ऐसा मानता है, तथापि ज्ञान की अपेक्षा से देखने पर राग का कर्तारूप परिणमित होनेवाला जीव स्वयं है, ऐसा ज्ञानी जानता है।

स्फटिकमणि में जो लाल-पीली आदि परछायी पड़ती है, वह उसकी योग्यता से होती है; तो भी स्फटिक मणि के मूल स्वभाव से देखें तो यह रंग उपाधिरूप है, मूल स्वभाव नहीं। उसी प्रकार जीव में पर्यायदृष्टि से देखें तो विकार उसके पर्याय की योग्यतारूप धर्म है, परन्तु द्रव्यार्थिकनय से देखें तो, वह विकार उसका मूल स्वभाव नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 27)

(545)

प्रश्न—द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है और पर्याय में अशुद्धता है; वह कर्म के कारण नहीं होती, तब अशुद्धता कहाँ से आयी?

उत्तर—द्रव्य-गुण त्रिकाल शुद्ध ही है और पर्याय में विकार होता है, वह पर्याय की उस समय की योग्यता से क्षणिक विकार होता है, कर्म से विकार नहीं होता। कर्म के निमित्त का लक्ष्य करके उस समय की योग्यता से ही विकार होता है। पञ्चास्तिकाय की 62वीं गाथा में विकार को परकारक की अपेक्षा ही नहीं है, ऐसा कहा है, क्योंकि विकार भी उस समय का स्वतन्त्र परिणमन है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 32)*

(546)

प्रश्न—गोम्मटसार में कर्म के उदय से विकार होता है, ऐसा कहा है न?

उत्तर—विकारी अवस्था होती है, वह पर्याय की योग्यता के स्वकाल से होती है, कर्म के उदय के कारण नहीं होती परन्तु निमित्त के आधीन होकर विकार होता है, इस कारण वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कर्म के उदय से होता है—ऐसा कहा है। समयसार में भी विकार का कर्ता पुद्गलकर्म को कहा है। वहाँ दृष्टि का द्रव्य पर जोर वर्तता (रहता) है, यह बताने के लिए विकाररूप आत्मा नहीं होता, ऐसा बताकर, जो अल्प विकार है, उसका कर्ता पुद्गलकर्म है—ऐसा कहने में आता है। प्रवचनसार में विकार का कर्ता जीव है; ऐसा कहा है। वहाँ यह विकारी परिणमन कर्म का नहीं, किन्तु जीव का ही है—ऐसा बताया है। जहाँ जिस अपेक्षा से कहा हो, वहाँ वह अपेक्षा बराबर समझना चाहिए, तब ही वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा समझने में आ सकता है।

राग से भिन्न होकर शुद्ध आत्मा का ज्ञान करना सम्यग्दर्शन है। पूजा, भक्ति, यात्रा आदि तो अनन्तबार कीं, लेकिन आत्मा के सम्यग्ज्ञान बिना भव का अन्त नहीं आया। भव का अभाव करने के मौसम का यह समय है। नियमसार में दिव्यध्वनि को, सकल जगत के श्रवण के सौभाग्य का कारण कहा है न? ऐसी परम अध्यात्म की गम्भीर बातें तो हीरा-माणिक का हार है, इनका मूल्य क्या!! *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 32)*

(547)

प्रश्न—यदि कर्म आत्मा को विकार नहीं कराता है, तो आत्मा में होनेवाले विचार का कारण कौन है? सम्यग्दृष्टि जीव को तो विकार करने की भावना होती नहीं, तथापि उनको भी विकार तो होता है, इसलिए कर्म, आत्मा को विकार कराता है न?

उत्तर — कर्म, आत्मा को विकार कराता है, यह बात खोटी है। आत्मा को अपनी पर्याय के दोष से ही विकार होता है, कर्म विकार नहीं कराता, किन्तु उस समय पर्याय की वैसी ही योग्यता है। सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष करने की भावना नहीं है, तथापि राग-द्वेष होता है, उसका कारण चारित्रगुण की पर्याय की वैसी योग्यता है। राग-द्वेष की भावना नहीं है—यह तो श्रद्धागुण की पर्याय है और राग-द्वेष होते हैं, वह चारित्रगुण की पर्याय है। पुरुषार्थ की निर्बलता से राग-द्वेष होता है—ऐसा कहना वह भी निमित्त का कथन है। वास्तव में तो चारित्रगुण की ही उस समय की योग्यता के कारण ही राग-द्वेष होता है।

(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 251)

(548)

प्रश्न—विकार जब चारित्रगुण की पर्याय की योग्यता से ही होता है, तो फिर जब तक उसमें विकार होने की योग्यता रहेगी, तब तक विकार होता ही रहेगा—ऐसी दशा में विकार टालना जीव के अधीन नहीं रहा ?

उत्तर—एक-एक समय की स्वतन्त्र योग्यता है—ऐसा निर्णय किस ज्ञान ने किया ? त्रिकाली स्वभाव में ढ़ले बिना ज्ञान में प्रति समय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नहीं हो सकता। जब ज्ञान, त्रिकाली स्वभाव का लक्ष्य करके उस ओर झुका, तभी स्वभाव की प्रतीति के बल से पर्याय में से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती ही जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय में लम्बे समय तक राग-द्वेष बने रहने की योग्यता नहीं रहती - ऐसा ही सम्यक् निर्णय का बल है।

(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 251)

(549)

प्रश्न—भगवान आत्मा विकार का कारक है या अकारक ? विकार परद्रव्य से होता है क्या ? यदि नहीं, तो परद्रव्य से पराङ्मुख होने का उपदेश क्यों दिया जाता है ? पर्याय का निविकारी होना द्रव्य के आधीन है क्या ? कृपया सबका समाधान कीजिए ?

उत्तर—भगवान आत्मा निर्विकार अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है, वह विकार का कारण है ही नहीं। परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य करने से विकार होता है अवश्य, फिर भी परद्रव्य

से विकार नहीं होता। परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाने से पर्याय स्वतन्त्रतया अपने से विकाररूप परिणमन करती है। स्वद्रव्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दस्वरूप है, उससे पर्याय निर्विकार नहीं होती; किन्तु स्वद्रव्य का लक्ष्य करने पर पर्याय स्वयं अपने से स्वतन्त्रतया निर्विकार होती है। इसके विपरीत परद्रव्य का लक्ष्य करने से पर्याय स्वत: विकारी होती है।

अत: आत्मा अकेला स्वभाव से राग का अकारक ही है। यदि आत्मा राग का अकारक न हो तो परद्रव्य से हटने का—परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ने का उपदेश निरर्थक ठहरे; इसलिए परद्रव्य के लक्ष्य से ही विकार होता होने से परद्रव्य से पराङ्मुख होने का उपदेश है। विकार होने में परद्रव्य निमित्त है। वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा सूचित करता है कि आत्मा अकेला स्वभाव से विकार का अकारक ही है।

(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, टाईटल पृष्ठ 3 / पृष्ठ 29)

(550)

प्रश्न—आत्मा को क्रोधादिरूप अथवा ज्ञानरूप कौन करता है ? क्या कर्म का उदय अथवा प्रतिकूल संयोग उसे अज्ञानरूप नहीं करते ?

उत्तर—जिस प्रकार श्वेत शंख चाहे जितनी काली मिट्टी खावे, तथापि वह काली मिट्टी उसे श्वेत से कृष्ण नहीं कर सकती; उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा को चाहे जितना तीव्र कर्मोदय आवे अथवा प्रतिकूल संयोग उपस्थित हो, तो भी वे ज्ञानस्वरूप आत्मा को अज्ञानरूप नहीं कर सकते अथवा क्रोधादि कषायरूप नहीं परिणमा सकते। आत्मा जो क्रोधादि अज्ञानरूप परिणमता है, वह तो अपने ही अपराध से परिणमता है, परद्रव्य तो आत्मा को बिलकुल विकार नहीं करा सकता। देव-गुरु आदि परद्रव्य के कारण आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से होता है—ऐसा है नहीं; आत्मा तो स्वयं ही स्वयं से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है और तभी रत्नत्रयगुण प्रकट होता है। परद्रव्य, आत्मा को ज्ञानी या अज्ञानी बिलकुल कर ही नहीं सकता। आत्मा स्वयं ही अपने अपराध से क्रोधादिरूप और अपने गुण से ज्ञानरूप होता है।

(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, पृष्ठ 30/31)

(551)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन तथा केवलज्ञान होने का कारण कौन है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन होने में शुद्धात्मा की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है, नवतत्त्व के विकल्प भी सम्यग्दर्शन में कारण नहीं है। केवलज्ञान होने में शुद्धोपयोग कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। केवलज्ञान के लिए शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी को (रागादि को) साधन मानना—यह तो केवलज्ञान का अनादर है तथा मोक्ष के साधक शुद्धोपयोगी सन्तों का भी अनादर है। इस विपरीत मान्यता में महान अपराध है और यह मान्यता संसार का कारण है। अहो! शुद्धोपयोग तो केवलज्ञान का राजमार्ग है और शुभराग तो केवलज्ञान को रोकनेवाला है, लुटेरा है। राग को धर्म का साधन माननेवाला तो राजमार्ग का अपराधी है; वह 'रागमार्गी' नहीं है, वह तो 'राजमार्गी' है, अर्थात् 'संसारमार्गी' है—ऐसा जानना चाहिए। *(आत्मधर्म (हिन्दी), फरवरी 1981, पृष्ठ 26)*

(552)

प्रश्न—पर की पर्याय को नहीं करता—यह तो ठीक, तो क्या अपनी पर्याय को भी नहीं करता ?

उत्तर—अपनी पर्याय भी स्वकाल में होती ही है और होगी ही, फिर उसका करना क्या ? वास्तव में तो यह ज्ञाता-दृष्टा ही है। प्रत्यत्नपूर्वक मोक्ष को करो—ऐसा कथन आता है, 'कमर, कसकर मोह को जीतो'—ऐसा भाषा में आता है; परन्तु वास्तव में तो इसकी दृष्टि में द्रव्य ही आया है अर्थात् यह ज्ञाता-दृष्टा ही है। ज्ञाता-दृष्टा में अनन्त पुरुषार्थ है।

(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 16)

(553)

प्रश्न—जीव, अजीव के कार्य भले न कर सके, किन्तु अपने परिणाम तो चाहे जैसे कर सकता है या नहीं ?

उत्तर—जीव अपने परिणाम भी चाहे जैसे इच्छानुसार नहीं कर सकता; किन्तु जो परिणाम क्रमसर—जैसा होना है, वही होता है, आगे-पीछे मनचाहा नहीं हो सकता। जगत

में सब-कुछ व्यवस्थित, क्रमसर होता है, कहीं कुछ फेरफार सम्भव नहीं है। उतावला पुरुष फेरफार करना तो बहुत चाहता है, परन्तु फेरफार कुछ भी नहीं कर सकता। इन सब बातों का सार यही है कि भाई! तू ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि दे।

(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रेल 1981, पृष्ठ 28)

(554)

प्रश्न—क्या पर्याय का कारण स्वद्रव्य भी नहीं?

उत्तर—परद्रव्य से तो अपनी पर्याय होती ही नहीं; और अपने द्रव्य से पर्याय हुई—ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव में तो पर्याय, पर्याय की अर्थात् अपनी ही योग्यता से स्वकाल में होती है, यह निश्चय है।

सम्यग्दर्शन की पर्याय का उत्पाद हुआ, इसलिए मिथ्यात्व कर्म का नाश हुआ, ऐसा तो है ही नहीं, किन्तु वर्तमान पर्याय में सम्यक्त्व का उत्पाद हुआ, इस कारण से पूर्व पर्याय के मिथ्यात्व भाव का व्यय हुआ, ऐसा भी नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का उत्पाद स्वतन्त्र हुआ है और मिथ्यात्वभाव की पर्याय का व्यय भी स्वतन्त्र हुआ है।

केवलज्ञान, पर्याय का उत्पाद हुआ, वह केवलज्ञानवरणी कर्म के अभाव से हुआ, ऐसा तो है ही नहीं, किन्तु अपने द्रव्य के कारण से केवलज्ञान पर्याय का उत्पाद हुआ, ऐसा भी नहीं है। पर्याय का पर्याय के षट्कारक से स्वतन्त्र उत्पाद हुआ है। यहाँ तो पर्याय का दाता द्रव्य नहीं है—ऐसा कहना है।

पर्याय का लक्ष्य द्रव्य के ऊपर जाता है, वह उस पर्याय की स्वयं की सामर्थ्य से ही जाता है; द्रव्य के कारण से नहीं। सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष्य द्रव्य के ऊपर जाता है, वह उस पर्याय का ही सामर्थ्य है, यह द्वादशाङ्ग का दोहन है।

वास्तव में पर्याय, पर्याय के स्वकाल में / जन्मक्षण में जो होनी हो, वह होती है। द्रव्य से पर्याय होती है—ऐसा कथन भी व्यवहार है। उत्पाद-पर्याय का द्रव्य कारण नहीं और व्यय भी कारण नहीं। यह उत्पाद-पर्याय का निश्चय है। सम्यग्दर्शन-पर्याय द्रव्य के आश्रय से होती है, ऐसा कहना भी अपेक्षित कथन है। सम्यग्दर्शन-पर्याय होती है, वह उसका जन्मक्षण है, किन्तु उस पर्याय का लक्ष्य द्रव्य के ऊपर है; इसलिए द्रव्य के आश्रय

से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो सम्यग्दर्शन-पर्याय का, पर से भिन्न पड़ने का, भेदज्ञान पर्याय होने को स्वकाल है, जन्मक्षण है, तभी वह पर्याय होती है। परन्तु वह होती किसको है ? जिसका लक्ष्य द्रव्यस्वभाव के ऊपर होता है, उसी को होती है।

पर्याय में खड़े-खड़े पर्याय के सन्मुख देखनेवाले को पर्याय के स्वकाल का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जैनदर्शन का यह परम सत्य स्वरूप है। इसका विरोध करने से महा मोहनीय, अन्तराय कर्म बँधता है और उसकी दशा बहुत हीन हो जाती है।

(आत्मधर्म, अंक-399, जनवरी 1977, पृष्ठ 14-15)

(555)

प्रश्न—पर्याय को भी द्रव्य नहीं करता, ऐसा कहकर द्रव्य को बिलकुल निष्कर्मा कर दिया ?

उत्तर—अरे भाई ! यह तो अन्तर पेट की मूल बात है। इसमें द्रव्य निष्कर्मा नहीं हो जाता, अपितु अलौकिक द्रव्य सिद्ध होता है। *(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 30)*

(556)

प्रश्न—परमाणु में रंगगुण त्रिकाली है, उसकी पर्याय प्रथम समय में काली हो, वह बदलकर द्वितीय समय में लाल, सफेद अथवा पीली हो जाए, तो उसका कारण कौन है ? यदि रंगगुण कारण हो तो वह तो स्थायी रहता है, फिर भी परिणाम में विचित्रता कैसे ?

उत्तर—वास्तव में तो उस परमाणु में उस समय की पर्याय अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्र परिणामी है, उसमें उसका रंगगुण कारण नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने-अपने स्वकाल में स्वतन्त्र परिणमन करती है। अहा हा ! पर्याय की स्वतन्त्रता की बात बहुत सूक्ष्म है। *(आत्मधर्म, अंक-425, मार्च 1979, पृष्ठ 28)*

(557)

प्रश्न—अनादि से चली आ रही सबसे बड़ी मूर्खता क्या है ?

उत्तर—जिसका करना अशक्य हो, उसे करने की बुद्धि होना मूर्खता है। देहादि

के कार्य मैं कर सकता हूँ, हस्त-पादादि को मैं हिला-डुला सकता हूँ, परद्रव्य के कार्य को मैं कर सकता हूँ—यह मान्यता मूर्खता है। मैं पर जीवों को सुखी अथवा दु:खी कर सकता हूँ, मार या बचा सकता हूँ, देश-कुटुम्बादि की सेवा कर सकता हूँ—ऐसी बुद्धि होना मूर्खतापूर्ण है। परद्रव्य की कोई भी क्रिया-परिणति उसके अपने ही आधीन है, अन्य द्रव्य के द्वारा उसका किया जाना अशक्य है; तथापि उसके कर्त्तत्व की बुद्धि होना मिथ्यात्व की मूर्खता है। तथा जो कार्य अपने द्वारा ही किया जा सकता है—ऐसे अपने स्वरूप की सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान, सच्चा आचरण, यह जीव नहीं करता है—यह उसकी (दूसरी बड़ी) मूर्खता है। *(आत्मधर्म, अंक-422, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 30-31)*

(558)

प्रश्न—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता—इस सिद्धान्त में यह बात तो समझ में आती है कि एक जीव दूसरे जीव का कुछ नहीं करता, परन्तु एक परमाणु दूसरे परमाणु का कुछ नहीं करता—यह बात जँचती नहीं?

उत्तर—एक परमाणु स्वतन्त्र है, वह भी स्वयं कर्ता होकर अपने कार्य को करना है, दूसरे परमाणु का उसमें अत्यन्त अभाव है। यदि इससे आगे बढ़कर थोड़ा सूक्ष्म विचार करें तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय स्वयं से स्वतन्त्र होती है, द्रव्य भी उसका कारण नहीं है। भाई! वीतराग की बात बहुत सूक्ष्म है। *(आत्मधर्म, अंक-429, जुलाई 1979, टाईटल-3)*

(559)

प्रश्न—आप कहते हो कि शरीर तेरा नहीं और राग भी तेरा नहीं, परन्तु हमें तो रात-दिन इन दो से ही काम पड़ता है। अब क्या करें?

उत्तर—शरीर तो अपने कारण से षट्कारकरूप स्वतन्त्र परिणमन करता है और उसी प्रकार राग भी अपने कारण ही षट्कारक से परिणमन करता है। तू तो इन दोनों का मात्र ज्ञायक है। एक समय में पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है; द्रव्य के कारण नहीं तथा पूर्व-पर्याय के कारण उत्तर-पर्याय परिणमती हो—ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की पर्याय प्रतिसमय षट्कारक से स्वतन्त्रपने ही परिणमती है—यह वस्तु की स्थिति है। भाई! तेरा तत्त्व तो परिपूर्ण ज्ञायकभाव से भरपूर है, वह जानने के अतिरिक्त और क्या करे?

(आत्मधर्म, अंक-434, दिसम्बर 1979, पृष्ठ 31-32)

(560)

प्रश्न—परद्रव्य को कार्य भले ही नहीं कर सकते, किन्तु अनासक्तिभाव से पर को सुखी करें—अनुकूलता प्रदान करें तो ?

उत्तर—'पर को मैं सुखी कर सकता हूँ—अनुकूलता प्रदान कर सकता हूँ', यह दृष्टि ही मिथ्यात्वरूप भ्रम है। 'पर को सुखी कर सकूँ, पर को लाभ करा दूँ'—यह कर्ताबुद्धि का अभिमान है, अनासक्ति नहीं। *(आत्मधर्म, अंक-428, जून 1979, पृष्ठ 24)*

(561)

प्रश्न—पदार्थों की स्वतन्त्रता समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर—पदार्थों की स्वतन्त्रता समझने से अपने परिणाम का कर्ता स्वयं है—अन्य नहीं है; इस प्रकार समझने से पर से विमुख होकर अपने में परिणाम लगाकर आत्मा का अनुभव करना—यह लाभ है। अपना स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है—ऐसा जानकर देखनेवाला—जाननेवाला बना रहे, तो चौरासी के अवतार में भटकना मिटे और मुक्ति प्राप्त हो—यह लाभ है। *(आत्मधर्म, अंक-438, अप्रेल 1980, पृष्ठ 41)*

मुझे एक आत्मा ही चाहिए

पहली यह शर्त है कि मुझे दूसरी कोई चीज़ चाहिए नहीं; मुझे एक आत्मा ही चाहिए-ऐसा दृढ़ निर्णय होना चाहिए। दुनिया की कोई चीज़, पैसा, इज्जत इत्यादि कुछ नहीं परन्तु एक आत्मा ही मुझे चाहिए-ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए। जिसे ऐसा दृढ़ निश्चय हो, उसे कैसे भी प्रतिकूल संयोगों में भी तीव्र और कठोर पुरुषार्थ होगा ही। पुरुषार्थ के बिना प्राप्ति नहीं। क्रमबद्ध प्रमाण ही आत्मा प्राप्त होगा, परन्तु क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञायक की ओर ही जाती है और तब क्रमबद्ध की सच्ची श्रद्धा होती है तथा दूसरी बात यह है कि एक द्रव्य की पर्याय को पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करता। आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता। आहा...हा... ! ऐसा निर्णय हो, तब ही इसकी दृष्टि सच्ची होती है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

[15]
क्रमबद्धपर्याय

(562)

प्रश्न—'क्रमनियत' शब्द का शब्दार्थ तथा भावार्थ बतलाइए?

उत्तर—'क्रमनियत' शब्द में क्रम अर्थात् क्रमसर, तथा नियत अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आनेवाली हैं, वही आयेगी; उसमें फेरफार नहीं हो सकता। तीन काल में जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, वही होगी। जगत का कर्ता ईश्वर नहीं, अथवा परद्रव्य का आत्मा कर्ता नहीं परन्तु राग का भी कर्ता आत्मा नहीं। अरे! यहाँ तो कहते हैं कि पलटती हुई पर्याय का भी कर्ता आत्मा नहीं। षट्कारक से स्वतन्त्रपने कर्ता होकर पर्याय स्वयं पलटती है, वह सत् है और उसे किसी की भी अपेक्षा नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-427, मई1979, पृष्ठ 22)

(563)

प्रश्न—पर्याय क्रमबद्ध स्वकाल में उत्पन्न होती है, यह बात समझ में आयी; परन्तु इसी प्रकार की यही पर्याय उत्पन्न होगी—यह इसमें कहाँ आया?

उत्तर—पर्याय क्रमबद्ध स्वकाल में उत्पन्न होती है; इसमें पर्याय जिस समय निश्चित होनेवाली है, वही उस समय होगी, ऐसा भी आ ही जाता है क्योंकि स्वकाल में होनेवाली पर्याय को निमित्तादि किसी की भी अपेक्षा है ही नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 22-23)

(564)

प्रश्न—क्या क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में गुंथित ही है?

उत्तर—हाँ, क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में गुंथित हुई ही है और इसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष जानते

हैं। निम्नदशावालों का प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है—ऐसा अनुमानज्ञान से ज्ञात होता है। *(आत्मधर्म, अंक-420, अक्टूबर 1978, पृष्ठ 27)*

(565)

प्रश्न—केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं अथवा उन पर्यायों को वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक पदार्थ की भूत और भविष्यकाल की पर्यायें वर्तमान में अविद्यमान-अप्रकट होने पर भी सर्वज्ञ भगवान वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। अनन्त काल पहले हो चुकी भूतकाल की पर्यायें और अनन्त काल पश्चात् होनेवाली भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी केवलज्ञान वर्तमान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

आहाहा! जो पर्यायें हो चुकीं और होनेवाली हैं, ऐसी भूत-भविष्य की पर्यायों को प्रत्यक्ष जाने उस ज्ञान की दिव्यता का क्या कहना ? केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं—ऐसा नहीं है, किन्तु उन सभी पर्यायों को वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं; यही सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता है। भूत-भविष्य की अविद्यमान पर्यायें केवलज्ञान में विद्यमान ही हैं। आहाहा! एक समय की केवलज्ञानपर्याय की ऐसी विस्मयता और आश्चर्यता है तो सम्पूर्ण द्रव्य के सामर्थ्य की विस्मयता और आश्चर्यता का क्या कहना ? *(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 34)*

(566)

प्रश्न—आत्मा पर में कुछ फेरफार नहीं कर सकता, यह बात तो ठीक है, परन्तु अपनी पर्यायों में तो फेरफार करने में उसका नियन्त्रण नहीं ?

उत्तर—अरे भाई! जहाँ द्रव्य का निश्चय किया, वहाँ वर्तमान पर्याय स्वयं द्रव्य में तन्मय हो गयी, फिर उसे क्या फेरना ? मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है—ऐसा निर्णय करते ही पर्याय, द्रव्य में अन्तर्मुख हो गयी, अत: वह पर्याय अब क्रमसर निर्मल ही हुआ करती है और शान्ति वृद्धिंगत होती जाती है। इस प्रकार जहाँ पर्याय स्वयं द्रव्य में अन्तर्मग्न हुई, वहाँ उसे फेरना रहा ही कहाँ ? वह पर्याय तो स्वयं द्रव्य के वश में आ गयी है। पर्याय आवेगी कहाँ से ? द्रव्य में से।

इसलिए जहाँ समूचे द्रव्य को काबू में ले लिया (श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार कर लिया), वहाँ पर्यायें काबू में आ गयी अर्थात् द्रव्य के आश्रय से पर्यायें सम्यक् निर्मल ही होने लगीं। जहाँ स्वभाव का निश्चय हुआ, वहीं मिथ्याज्ञान विलीन होकर सम्यग्ज्ञान उद्भूत हुआ; मिथ्याश्रद्धा पलटकर सम्यक्श्रद्धा हुई।

इस प्रकार निर्मल पर्याय होने लगीं, वह भी वस्तु का धर्म है। वस्तु स्वभाव फिरा नहीं और पर्यायों की क्रमधारा भी टूटी नहीं। द्रव्य के ऐसे स्वभाव को स्वीकार करते ही पर्याय की निर्मल धारा प्रारम्भ हो गयी और ज्ञानादि का अनन्त पुरुषार्थ उसमें आ ही गया।

जहाँ स्व अथवा पर किसी द्रव्य को, किसी गुण को या उसकी किसी पर्याय को फेरने की बुद्धि नहीं रही, वहाँ ज्ञान-ज्ञान में ही ठहर गया अर्थात् वीतरागी ज्ञाताभाव ही रह गया, वहाँ अल्पकाल में मुक्ति होगी ही। बस! ज्ञान में ज्ञाता-दृष्टापना रहना ही स्वरूप है, यही सबका सार है। अन्तर की यह बात जिसके चित्त में न आवे, उसके पर में या पर्याय में फेरफार करने की बुद्धि होती है। ज्ञाताभाव को चूककर कुछ भी फेरफार करने की बुद्धि, वही मिथ्याबुद्धि है। *(आत्मधर्म, अंक-412, फरवरी 1978, पृष्ठ 29)*

(567)

प्रश्न—एक ओर तो पर्याय को क्रमबद्ध कहते हो और दूसरी ओर पर्याय के ऊपर से दृष्टि हटाने को भी कहते हो—ऐसा कैसे?

उत्तर—पर्याय क्रमबद्ध होती है—ऐसा जाने तो पर्याय का कर्तत्व छूटकर अकर्तास्वभावी द्रव्य के ऊपर दृष्टि जाती है। क्रमबद्ध के ऊपर दृष्टि रखकर क्रमबद्ध का निर्णय नहीं होता। द्रव्य-ऊपर दृष्टि करने पर ही, क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। अरे! क्रमबद्ध तो सर्वज्ञ का प्राण है। *(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 30)*

(568)

प्रश्न—क्रमबद्ध में क्रमबद्ध की विशेषता है या द्रव्य की?

उत्तर—क्रमबद्ध में ज्ञायक द्रव्य की विशेषता है। क्रमबद्ध में अकर्त्तापना सिद्ध करके ज्ञायकपना बताना है। *(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 30)*

(569)

प्रश्न—वस्तु मे नियत और अनियत दोनों धर्म एक साथ हैं और दोनों ही ज्ञानी को स्वीकार हैं—ऐसी स्थिति में आप वस्तु को क्रमबद्ध ही क्यों कहते हैं, साथवाले अक्रम को क्यों नहीं स्वीकारते ?

उत्तर—नियत और उसके साथ नियत के अतिरिक्त दूसरे अनियत (अर्थात् पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्त आदि) को ज्ञानी स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में नियत-अनियत का मेल है। यहाँ अनियत का अर्थ 'अक्रमबद्ध' है—ऐसा नहीं समझना चाहिए, अपितु नियत के साथ रहनेवाले नियत के अलावा पुरुषार्थ आदि धर्मों को यहाँ 'अनियत' संज्ञा दी गयी है—ऐसा समझना। इस प्रकार वस्तु में नियत-अनियत दोनों धर्म एक समय एक साथ हैं। यह अनेकान्त स्वभाव है और इसकी श्रद्धा में अनेकान्तवाद है। *(आत्मधर्म, अंक-98, मागसर 2478, पृष्ठ 44)*

(570)

प्रश्न—सम्यक् नियतवाद का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिस पदार्थ में, जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस निमित्त से, जैसा होना है; वैसा ही होगा, उसमें किञ्चित् भी फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है—ऐसा ज्ञान में निर्णय करना सम्यक् नियतवाद है और ऐसे निर्णय में स्वभाव की तरफ का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 244)*

(571)

प्रश्न—मिथ्या नियतिवाद को गृहीत मिथ्यात्व क्यों कहा है ?

उत्तर—निमित्त और राग से धर्म होता है; आत्मा, शरीरादि की क्रिया कर सकता है—ऐसी मान्यतारूप अगृहीत मिथ्यात्व तो अनादि से था ही, फिर शास्त्र वाँचकर अथवा कुगुरु आदि के निमित्त से मिथ्या नियतवाद का नवीन कदाग्रह ग्रहण किया; इसलिए उसे गृहीत मिथ्यात्व कहा गया। जिसको अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व होता है, उसी को गृहीत मिथ्यात्व होता है। इन्द्रिय विषयों के पोषण के लिए 'जो होना होगा, वह होगा'—

ऐसा कहकर एक स्वच्छन्दता का मार्ग निकाल लेते हैं, उसका नाम गृहीत मिथ्यात्व है।

(आत्मधर्म, अंक-47, भाद्रपद 2473, पृष्ठ 246)

(572)

प्रश्न—वस्तु का परिणमन क्रमबद्ध मानने पर तो ऐसा लगता है कि पुरुषार्थ का कुछ काम ही नहीं, पुरुषार्थ निरर्थक है; क्योंकि जब सब-कुछ निश्चित है, तो आत्मानुभूति, सम्यग्दर्शन आदि भी निश्चित मानने होंगे, फिर पुरुषार्थ करने का कहाँ अवकाश है ?

उत्तर—क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार करने से पुरुषार्थ उड़ जाता है—ऐसा भय तो अज्ञानी को लगता है, क्योंकि वह अभी पुरुषार्थ का ही सही स्वरूप नहीं जानता है। वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को मानने से सम्यक् पुरुषार्थ का आरम्भ होता है, क्योंकि सारे जगत का परिणमन क्रमबद्ध मानने से पर्याय पर दृष्टि नहीं रहती, किसी भी पर्याय को हटाने या लाने का विकल्प नहीं रहता और दृष्टि स्वभाव-सन्मुख हो जाती है, यही सम्यक् पुरुषार्थ है। जब तक फेरफार करने की दृष्टि होगी, तब तक उल्टा व निरर्थक पुरुषार्थ रहेगा और जब फेरफार की दृष्टि समाप्त होकर सहज-स्वभाव की दृष्टि होगी तो सम्यक् पुरुषार्थ शुरू होगा।

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से 'मैं पर का कर दूँ, व्यवहार करते-करते निश्चय होता है'—इत्यादि सभी उल्टी मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं और अन्दर स्वभाव में स्थिर होने का मार्ग खुल जाता है। *(आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर 1981, पृष्ठ 24)*

(573)

प्रश्न—पुरुषार्थ करना हमारे हाथ में है या क्रमबद्ध में हो, तब होता है ?

उत्तर—पुरुषार्थ करना अपने हाथ की बात है और क्रमबद्ध का निर्णय भी पुरुषार्थ के आधीन है। स्व-सन्मुख पुरुषार्थपूर्वक ही क्रमबद्ध का निर्णय होता है।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 19)

(574)

प्रश्न—जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है, ऐसा जीव 'क्रमबद्ध में जो होना होगा सो होगा'—ऐसा मानकर प्रमाद में पड़ा रहेगा और पुरुषार्थहीन हो जाएगा ?

उत्तर—अरे भाई! 'क्रमबद्ध' के निर्णय में अकर्तावाद का अनन्त पुरुषार्थ होता है। अनन्त पुरुषार्थ हुए बिना 'क्रमबद्ध' माना नहीं जा सकता। 'क्रमबद्ध' का सिद्धान्त ऐसा है कि सारे ही विरोधों का अभाव कर दे। क्रमबद्ध में ज्ञातापने का—अकर्तापने का पुरुषार्थ है। राग को बदलना तो नहीं, किन्तु पर्याय को भी करना या बदलना नहीं। बस, जाने.. जाने और जाने। समयसार, गाथा 320 में कहा है कि जीव बन्ध-मोक्ष को भी करना नहीं, जानता ही है। क्रमबद्ध के निर्णायक का लक्ष्य द्रव्य को ऊपर है, द्रव्य के ऊपर लक्ष्यवाला ज्ञाता है। उसको 'क्रमबद्ध' के काल में रागादि आते हैं, किन्तु उनके ऊपर लक्ष्य नहीं है; अत: वह रागादि का जाननेवाला ही है।

एक 'क्रमबद्ध' को समझे तो सब निर्णय स्पष्ट हो जाए। निमित्त से होता नहीं, पर्याय आगे-पीछे होती नहीं और हुए बिना भी रहती नहीं। अपनी पर्याय के भी अकर्ता बन जाओ। 'क्रमबद्ध' का तात्पर्य वीतरागता है।

(आत्मधर्म, अंक-428, जून 1979, पृष्ठ 25)

(575)

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जब मोक्षप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है, तब मोक्ष प्राप्त होता है या मोक्ष की पर्याय जब प्राप्त होनी हो, तब सहजरूप से स्वयं प्राप्त होती है ?

उत्तर—इस सम्बन्ध में अनेकान्त है। सम्यग्दृष्टि जब मोक्षप्राप्ति का पुरुषार्थ करता है, तब ही मोक्ष प्राप्त होता है तथा तब ही मोक्ष की पर्याय प्राप्त होनी होती है; अत: तब मोक्ष प्राप्ति सहज हो जाती है। सम्यग्दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि करता है अर्थात् वास्तव में जब द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि होती है, तब सहजरूप से मोक्षप्राप्ति होनी होती ही है। मोक्षप्राप्ति का पुरुषार्थ बहुत ही विचित्र प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्ति हेतु कोई बाह्य प्रयत्न नहीं करना पड़ता, बल्कि सहज द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करना तथा उसी में स्थिरता करना ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है, प्रयत्न है, पुरुषार्थ है।

(आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर 1981, पृष्ठ 23)

(576)

प्रश्न—सहज द्रव्यस्वभाव की दृष्टि अर्थात् आत्मप्राप्ति पुरुषार्थ से होती है या काललब्धि से ?

उत्तर—वास्तव में पुरुषार्थ से होती है। आत्मप्राप्ति कहें या सम्यग्दर्शन—एक ही बात है। यद्यपि समयसार कलश के टीकाकार पाण्डे राजमलजी तो चौथे कलश की टीका में कहते हैं कि 'सम्यक्त्व-वस्तु यत्न-साध्य नहीं, सहजरूप है।' परन्तु वहाँ पर अन्य अपेक्षा है। वहाँ पर तो यह बताना है कि जब जीव का अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तनकाल शेष रहता है, तब ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे स्वयं यहाँ लिखते हैं :—

'अनन्त संसार जीव के भ्रमते हुए जाता है। वे संसारीजीव एक भव्यराशि है, एक अभव्यराशि है। उसमें अभव्यराशि जीव त्रिकाल ही मोक्ष जाने के अधिकारी नहीं। भव्यजीवों में कितने ही जीव मोक्ष जाने योग्य हैं, उनके मोक्ष पहुँचने का कालपरिणाम है। विवरण—यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष जाएगा, ऐसी नोंध केवलज्ञान में है। यह जीव संसार में भ्रमते-भ्रमते जब अर्द्धपुद्गल परावर्तन मात्र रहता है, तभी सम्यक्त्व उपजने योग्य है। इसका नाम काललब्धि कहलाता है। यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है, तथापि काललब्धि के बिना करोड़ उपाय जो किये जाएँ तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन योग्य नहीं—ऐसा नियम है। इससे जानना कि सम्यक्त्व-वस्तु यत्नसाध्य नहीं, सहज-रूप है।' *(आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर 1981, पृष्ठ 23)*

(577)

प्रश्न—यदि ऐसा है, तो हम क्या समझें?

उत्तर—देखो! यद्यपि कलश टीकाकार ने यहाँ काललब्धि की मुख्यता से व्याख्यान किया है, तथापि बिना पुरुषार्थ के किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती—यह भी उतना ही महत्त्व का सिद्धान्त है। आत्मप्राप्ति के प्रसङ्ग में तो इसकी ही मुख्यता करना योग्य है। यहाँ यह बात तो विचार करने योग्य है ही कि आत्मप्राप्ति के प्रसङ्ग में सम्यक् पुरुषार्थ क्या है? बिना सम्यक् पुरुषार्थ के आत्मप्राप्ति सम्भव नहीं है, परन्तु फिर भी इतनी बात तो सिद्ध है ही कि बिना पुरुषार्थ के आत्मप्राप्ति नहीं होगी।

अब यह तो विश्वास हो ही जाना चाहिए कि मेरा स्वकाल आ गया है और सब अवसर आ गए हैं, अब मुझे सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना योग्य है। सारा जगत अपनी रुचती बात का तो विश्वास तुरन्त ही करता है, परन्तु इस सम्यक् पुरुषार्थ की बात का विश्वास नहीं करता।

कैसी विचित्र बात है कि जो कार्य इससे हो नहीं सकता, जिसे कर नहीं सकता, उसका तो तुरन्त विश्वास करके पुरुषार्थ करता है परन्तु जो वस्तु अपनी है, अपने से हो सकती है, उसका न विश्वास करता है और न उसका पुरुषार्थ करता है। इसलिए भाई! तू तो ऐसी श्रद्धा कर कि मैं संसार-सागर से तिरने के मार्ग पर ही जा रहा हूँ, मेरा संसार-भ्रमण समाप्ति पर है। अत: भवरहित स्वभाव की दृष्टि करके अपना हित कर लेना चाहिए।

(आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर 1981, पृष्ठ 24)

(578)

प्रश्न—पाण्डे राजमलजी काललब्धि को जहाँ-तहाँ क्यों कहते हैं ?

उत्तर—पाँचों समवाय साथ ही हैं। राजमलजी को काललब्धि सिद्ध करना है। मैं तो पहिले से ही कहता हूँ कि जिस काल में जो होना है, वही होता है। इसका ज्ञान किसको होता है कि जो स्वभाव की दृष्टि करता है, उसको काललब्धि का सच्चा ज्ञान होता है।

(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 27)

(579)

प्रश्न—जैसा भाव करें, वैसा होता है या होना होता है, वह होता है ?

उत्तर—होना हो, वही होता है परन्तु करता है, इसलिए होता है। जो होनेवाला था, उसका कर्ता होकर करता है। वास्तव में तो 'होना था सो हुआ' ऐसा किसको ? जो स्वभाव का निर्णय करे उसको। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करे, तभी 'होना होगा वही होगा' इस प्रकार सम्यक् निर्णय होता है। *(आत्मधर्म, अंक-494, जून 1977, पृष्ठ 20)*

(580)

प्रश्न—होना होगा वह होगा, ऐसा मानने पर पुरुषार्थ निर्बल पड़ जाता है न ?

उत्तर—होना होगा वह होगा, वह कब ? जब पर्याय का लक्ष्य द्रव्य के ऊपर जाए, तब सम्यक् निर्णय होता है। इसमें विशेष पुरुषार्थ है।

(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 20)

(581)

प्रश्न—जब आत्मा ज्ञायक है ही, तो फिर और करना क्या ?

उत्तर—भाई ! तू ज्ञायक ही है—ऐसा निर्णय कर। ज्ञायक तो है, परन्तु उस ज्ञायक का निर्णय नहीं है, वही करना है। पुरुषार्थ करूँ.. करूँ.. परन्तु यह पुरुषार्थ तो द्रव्य में भरा है। बस, द्रव्य पर लक्ष्य जाते ही पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है परन्तु इसे करूँ.. करूँ.. करके कुछ नवीन कार्य करना है, परन्तु जब द्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, तब सभी कुछ जैसा है, वैसा है; इस प्रकार मात्र जानता है। पर का तो कुछ पलटना है नहीं और स्व का भी कुछ पलटना नहीं। स्व का निर्णय करते ही दिशा पलट जाती है।

(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 32)

(582)

प्रश्न—पर्याय तो व्यवस्थित ही होनेवाली है अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रगट होने का काल आएगा, तभी प्रगट होगी—ऐसी स्थिति में अब करने को रह क्या गया ?

उत्तर—व्यवस्थित पर्याय है—ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय, द्रव्य में है, तब तो द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है। पर्याय के क्रम के ऊपर दृष्टि न करके, क्रमसर पर्याय जिसमें से प्रगट होती—ऐसे द्रव्य सामान्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है, क्योंकि उस पर दृष्टि करने में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध के सिद्धान्त से अकर्तापना सिद्ध होता है, क्रम के समक्ष देखना नहीं। *(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 27)*

(583)

प्रश्न—सभी गुणों का कार्य व्यवस्थित ही है, तो फिर इसे पुरुषार्थ करने का नहीं रहता।

उत्तर—जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ भासित नहीं होता, उसे व्यवस्थिपना जँचा ही कहाँ है ? *(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 30)*

(584)

प्रश्न—उसको व्यवस्थितपने का श्रद्धान नहीं हुआ, तो उसका वैसा परिणमन भी तो व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थितपने का निर्णय नहीं कर सका—यह बात भी तो व्यवस्थित ही है। ऐसी दशा में निर्णय करने को क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—उसका परिणमन व्यवस्थित ही है—ऐसी उसे खबर कब है ? परिणमन व्यवस्थित है—ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परन्तु उसे सर्वज्ञ का निर्णय ही कहाँ है ? प्रथम वह सर्वज्ञ का निर्णय तो करे, पश्चात् उसे व्यवस्थित की खबर पड़े।

(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 30-31)

(585)

प्रश्न—व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, इस प्रकार भगवान के कथन की श्रद्धा उसे है ?

उत्तर—नहीं, सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय उसको कहाँ है ? पहले सर्वज्ञ का निश्चय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? मात्र ज्ञानी की बातें सुनकर-सुनकर वैसा-वैसा ही कहे तो इससे काम नहीं चलेगा, प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किए बिना सर्वज्ञ का निर्णय वास्तव में हो सकता नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 31)

(586)

प्रश्न—क्रमबद्ध में करने के लिए क्या आया ?

उत्तर—करना है कहाँ ? करने में तो कर्तत्वबुद्धि आती है। करने की बुद्धि छूट जाए, यह क्रमबद्ध है। क्रमबद्ध में कर्तत्वबुद्धि छूट जाती है। पर में तो कुछ कर सकता ही नहीं और अपने में भी जो होनेवाला है, वही होता है अर्थात् अपने में भी राग होना है, वह होता है; उसका करना क्या ? राग में से भी कर्तत्वबुद्धि छूट गयी, भेद और पर्याय पर से भी दृष्टि हट गयी, तब क्रमबद्ध की प्रतीति हुयी। क्रमबद्ध की प्रतीति में तो ज्ञाता-दृष्टा हो गया, निर्मल पर्याय करूँ, ऐसी बुद्धि भी मिट गयी, राग को करूँ—यह बात तो दूर रह गयी।

अरे ! ज्ञान करूँ यह बुद्धि भी छूट जाती है, कर्तत्वबुद्धि छूट जाती है और अकेला ज्ञान रह जाता है। जिसे राग करना है, राग में अटकना है, उसे इस क्रमबद्ध की बात जमी ही नहीं। राग को करना, राग को छोड़ना—यह भी आत्मा में नहीं है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है।

पर की पर्याय तो जो होनेवाली है, वह तो होती ही है; उसे मैं करूँ ही क्या ? और मेरे में जो राग आता है, उसे मैं क्या लाऊँ ? और मेरे में जो शुद्धपर्याय आए, उसको करूँ-लाऊँ, ऐसे विकल्प से भी क्या ? अपनी पर्याय में होनेवाला राग और होनेवाली शुद्धपर्याय को करने का विकल्प क्या ? राग और शुद्धपर्याय के कर्तत्व का विकल्प शुद्धस्वभाव में है ही नहीं। अकर्त्तापना आ जाना ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है।

(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 23-24)

(587)

प्रश्न—मोक्ष की पर्याय यत्नपूर्वक करें, तब होगी या होनी होगी, तब होगी ?

उत्तर—ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य के ऊपर पड़ी है, द्रव्य में भाव नाम का गुण है, इसी गुण के कारण निर्मल-पर्याय होती ही है; उसको करें, तब हो—ऐसा नहीं है। दृष्टि द्रव्य के ऊपर पड़ने से निर्मलता होती ही है। *(आत्मधर्म, अंक-432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 31)*

(588)

प्रश्न—क्या श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान प्रकट करने की उतावली नहीं होती ?

उत्तर—श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान होने ही वाला है, अत: उतावली—अधैर्य नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि क्रमबद्धपर्याय में केवलज्ञान प्रगट होने के काल में प्रगट होगा ही, इसलिए उतावली नहीं होती। क्रमबद्ध में अकर्तापना होने से वीतरागता है। पूर्ण स्वरूप में दृष्टि है, इसलिए वीतरागता है। जैसे द्वितीया का उदय हुआ है, वह पूर्णचन्द्र बनकर ही रहेगा। इसमें संशय कैसा ? वैसा ही जिसे अन्तर आत्मभान हुआ है, उसके केवलज्ञान होना ही है, केवलज्ञान दौड़ा आ रहा है; वह तो अल्प काल में प्रकट होगा ही, इसमें संशय या सन्देह श्रुतज्ञानी को नहीं होता। *(आत्मधर्म, अंक-426, अप्रेल 1979, पृष्ठ 26)*

(589)

प्रश्न—हमारी काललब्धि नहीं पकी, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता न ?

उत्तर—नहीं, नहीं; ऐसा नहीं है। तुम्हारा पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता। काललब्धि की भाषा सुनकर धारणा कर ले और ऐसा बोले—यह नहीं चलेगा। भगवान ने देखा होगा, तब होगा—ऐसी धारणा कर लेने से काम नहीं बनेगा। भगवान ने देखा है, उसकी प्रतीति है क्या ? भगवान ने देखा है—उसका यथार्थ ज्ञान करे, यथार्थ निर्णय करे, उसकी दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव के ऊपर होती है और उसकी काललब्धि भी पक ही गयी होती है। पर के कार्य करने में तो उलटा पुरुषार्थ बराबर करता है और स्वयं के आत्मकार्य में काललब्धि का बहाना निकालकर पुरुषार्थ नहीं करता, तो सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा ? *(आत्मधर्म, अंक-446, दिसम्बर 1980, पृष्ठ 29)*

(590)

प्रश्न—आप कहते हैं कि अकस्मात कुछ भी नहीं होता, अत: ज्ञानी नि:शङ्क और निर्भय है परन्तु समाचार-पत्र में तो अकस्मात दुर्घटना के बहुत समाचार आते हैं ?

उत्तर—जगत् में अकस्मात कुछ होता ही नहीं। जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में होना हो, वही होती है। देह छूटने का काल जिस क्षेत्र और जिस निमित्त से हो, उसी प्रकार देह छूटती है। उल्टा-सीधा या अकस्मात किसी पदार्थ का परिणमन नहीं होता, व्यवस्थित ही होता है। *(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 24-25)*

(591)

प्रश्न—धर्म का मूल सर्वज्ञ है। उस सर्वज्ञ को माना—ऐसा कब कहा जाए ?

उत्तर—जब ऐसा माने कि सर्वज्ञ, द्रव्य की तीन काल की पर्यायों को जानते हैं और वे पर्यायें जिस समय होनेवाली हैं, उसी समय क्रमबद्ध ही होंगी—क्रम तोड़कर होंगी नहीं; तभी सर्वज्ञ को माना है / श्रद्धान किया है, ऐसा माना जा सकता है।

(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 22)

(592)

प्रश्न—क्रमबद्ध के वास्तविक रहस्य को न समझनेवाला अज्ञानी, क्रमबद्ध की गीत गाते रहने पर भी भूल क्या करता है ?

उत्तर—एक तो कहता है कि पर्याय को क्रमबद्ध स्वीकार करने से नियतवाद हो जाता है और दूसरा कहता है कि क्रमबद्ध में मेरे राग आना ही था, वह आ गया। यह दोनों ही जीव भूल में हैं—मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों ने मिथ्यात्व को पुष्ट करके निगोद का मार्ग अपनाया है। जिसकी दृष्टि में क्रमबद्ध यथार्थ रीति से बैठ गयी है, उसकी दृष्टि, पर्याय से हटकर आनन्दमय आत्मा के ऊपर है, उसके क्रमबद्ध में राग आने पर भी वह उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है।

ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक, जो राग आता है, वह राग दु:खरूप लगता है और ऐसे जीव ने ही क्रमबद्ध को यथार्थ माना है। वह जीव उस आनन्द के साथ जब अपने रागरूप दु:ख का मिलान करता है, तब उसे प्रतिभासित होता है कि अरे! यह राग दु:खरूप है। इस प्रकार क्रमबद्ध को माननेवाला, आनन्द की दृष्टिपूर्वक राग को दु:खरूप जानता है, उसके राग की मिठास उड़ गयी है। जिसे राग में मिठास पड़ी हुई है और पहले जो अज्ञानदशा में राग के टालने की चिन्ता थी, वह भी क्रमबद्ध का पाठ पढ़कर मिट गयी है, उसके तो मिथ्यात्व की पुष्टि ही हुई है—मिथ्यात्व तीव्र ही हुआ है। राग मेरा नहीं—ऐसा कहे और आनन्दस्वरूप की दृष्टि न हो, तो उसने मिथ्यात्व की वृद्धि ही को है। भाई! यह तो कच्चे पारा जैसा वीतराग का सूक्ष्म रहस्य है। अन्तर में पचावे तो वीतरागता की पुष्टि हो और उसका रहस्य न समझे तो उलटा मिथ्यात्व ही पुष्ट हो।

(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 24-25)

(593)

प्रश्न—यह जीव, अजीव का तो कार्य नहीं कर सकता; किन्तु अपना परिणाम तो जैसा चाहे, वैसा कर सकता है ?

उत्तर—जीव अपना परिणाम भी चाहे जैसा नहीं कर सकता, किन्तु जो परिणाम क्रमसर जैसा होना है, वैसा ही होगा; आगे-पीछे, जैसा-तैसा करना चाहे तो नहीं होगा। जीव तो अकेला ज्ञायकभावमात्र है, जाननहारा—जाननहारा ही है।

(आत्मधर्म, अंक-439, मई 1980, पृष्ठ 29-30)

(594)

प्रश्न—क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कैसे हो ? उसके द्वारा सिद्ध क्या करना है ? उसका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त से मूल तो अकर्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्तावादी है। आत्मा परद्रव्य का तो कर्ता है ही नहीं, राग का भी कर्ता नहीं और पर्याय का भी कर्ता नहीं। पर्याय अपने ही जन्मक्षण में, अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण जो होने योग्य है, वही होती है, परन्तु इस क्रमबद्ध का निर्णय पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता।

क्रमबद्ध का निर्णय करने जाए तो शुद्धचैतन्य ज्ञायकधातु के ऊपर दृष्टि जाती है और तभी जाननेवाली जो पर्याय प्रगट होती है, वह क्रमबद्धपर्याय को जानती है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वभावसन्मुखवाले अनन्त पुरुषार्थपूर्वक होता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता, पर्याय में तभी प्रकट होती है, जब वीतरागस्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है।

समयसार, गाथा 320 में कहा है कि ज्ञान बन्ध-मोक्ष का कर्ता नहीं है; किन्तु जानता ही है। आहा! हा! मोक्ष को ज्ञान जानता है। मोक्ष को करता है—ऐसा नहीं कहा। अपने में होनेवाली क्रमसर पर्याय को करता है—ऐसा नहीं, किन्तु जानता है—ऐसा कहा। गजब बात है, भाई! *(आत्मधर्म, अंक-427, मई 1979, पृष्ठ 23)*

क्रम के सामने देखना नहीं है

श्रोता : पर्याय तो व्यवस्थित ही होनी है, इसलिए पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रगट होने का काल आयेगा, तभी प्रगट होगी, इसलिए अब करने का क्या रहता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवस्थित पर्याय है-ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय, द्रव्य में है तो इसे द्रव्य पर दृष्टि करनी है। पर्याय के क्रम पर दृष्टि रखना नहीं है परन्तु क्रमसर पर्याय जिसमें से प्रगट होती है-ऐसे द्रव्यसामान्य पर ही इसे दृष्टि करनी है। सामान्य की दृष्टि में अनन्त पुरुषार्थ आता है। क्रमबद्ध के सिद्धान्त से अकर्तापना सिद्ध होता है। क्रम के सामने देखना नहीं है। *—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

[16]
कारणशुद्धपर्याय

(595)

प्रश्न—आप कारणशुद्धपर्याय की बहुत महिमा करते हैं, परन्तु हमारे लिए वह उपयोगी कैसे है ?

उत्तर—वह वर्तमान कारणरूप है, अत: जिसको वर्तमान कार्य (सम्यग्दर्शन से मोक्ष तक का कार्य) प्रगट करना हो, उसको वह उपयोगी है; क्योंकि उस कारण का आश्रय लेने पर, कार्य प्रगट होता है। वह कारणपर्याय द्रव्य से कहीं भिन्न नहीं है। द्रव्य त्रिकाली वैसे का वैसा ही पूरा का पूरा वर्तमान में वर्त रहा है; उस कारण को स्वीकार करके, उसका आश्रय लेने पर, निर्मल कार्य प्रगट हो जावेगा। द्रव्य-गुण का वर्तमान वर्त्तता स्व-आकार, वह कारणशुद्धपर्याय है। अन्य कारणों का आश्रय छोड़कर इस स्व-आकार कारणशुद्धपर्याय के स्वीकार से ही सम्यग्दर्शनादि कार्य होता है।

(आत्मधर्म, अंक-434, दिसम्बर 1979, पृष्ठ 31-32)

(596)

प्रश्न—'कारणशुद्धपर्याय' में 'पर्याय' शब्द आता है, ऐसी स्थिति में वह पर्यायदृष्टि का विषय हो जाता है क्या ?

उत्तर—नहीं, 'पर्याय' शब्द आ जाने से वह पर्यायदृष्टि का विषय हो जाता है - ऐसा नहीं समझना। वह पर्याय, द्रव्य के साथ सदा तन्मयपने वर्तती हुई द्रव्यदृष्टि के विषय में ही समाहित है। त्रिकाली समूचे द्रव्य का एक वर्तमान भेद होने से उसके लिए 'पर्याय' शब्द का प्रयोग किया गया है और वर्तमान कार्य (मोक्षमार्ग) करने के लिए, उसको वर्तमान कारण बताया है। इस कारण पर दृष्टि का जोर देने से सम्यग्दर्शनादि कार्य होते हैं।

(आत्मधर्म, अंक-193, कार्तिक 2486, पृष्ठ 14)

(597)

प्रश्न—कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय किस नय के विषय हैं ?

उत्तर—कारणशुद्धपर्याय सहजशुद्धनिश्चयनय का विषय है और कार्यशुद्धपर्याय शुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय है *(आत्मधर्म, अंक-193, कार्तिक 2486, पृष्ठ 15)*

(598)

प्रश्न—केवलज्ञानादि की शुद्धपर्यायों को निरपेक्ष कहा और कारणशुद्धपर्याय को भी निरपेक्ष कहा—तो इन दोनों प्रकार के निरपेक्षों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से जो केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगटीं, वे भी स्वभावपर्यायें हैं और उन्हें इन्द्रियों आदि की अपेक्षा नहीं है, इस अपेक्षा से उन्हें निरपेक्ष कहा जाता है; परन्तु कर्म के क्षय के साथ उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इतनी अपेक्षा तो उनमें आती ही है। किन्तु कारणशुद्धपर्याय में तो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की भी अपेक्षा नहीं है, वह तो द्रव्य के साथ त्रिकाल निरपेक्षपने वर्तती है।

(आत्मधर्म, अंक-193, कार्तिक 2486, पृष्ठ 13)

कारणशुद्धपर्याय से तात्पर्य क्या ?

सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजचारित्र सहजपरमवीतरागसुात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण सहाञ्चितपंचम भावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः।

यहाँ सहज शुद्धनिश्चय से, अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप जो स्वभाव-अनन्त चतुष्टय का स्वरूप उसके साथ की जो पूजित पंचम भावपरिणति (-उसके साथ तन्मयरूप से रहनेवाली जो पूज्य ऐसी पारिणामिकभाव की परिणति) वही कारणशुद्धपर्याय है, ऐसा अर्थ है। *(श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित नियमसार गाथा 15 की टीका)*

नोट - कारणशुद्धपर्याय का विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर है। इस विषय को स्पष्ट करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन (1) कारण शुद्धपर्याय (संकलित) गुरुकहान : दृष्टि महान, भाग-6 (शब्दशः) प्रवचनरत्न चिन्तामणि भाग-1 तथा कारण-कार्य नियम, भाग-1 में समागत नियमसार, गाथा-15 तथा उसके पूर्व गाथा-3 से ही इस विषय का स्पष्टीकरण अवश्य पढ़ें।

[17]
पुण्य-पाप

(599)

प्रश्न—क्या पुण्य और पाप समान हैं ?

उत्तर—जो कोई जीव पुण्य-पाप में भेद मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है और घोर संसार-सागर में डूबेगा—ऐसा प्रवचनसार की गाथा 77 में कहा है। कारण कि पुण्य और पाप भाव में अनात्मपना समानरूप से है। व्यवहार से पुण्य और पाप भाव में भेद है, वह ज्ञान करने के लिए है; किन्तु परमार्थ से पुण्य-पाप में भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में अनात्मपना समान है। *(आत्मधर्म, अंक-397, नवमबर 1976, पृष्ठ 27)*

(600)

प्रश्न—प्रवचनसार में शुभ-अशुभ में भेद माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहा, जबकि अन्यत्र शुभ को छाया समान और अशुभ को धूप समान कहा है ?

उत्तर—शुभ-अशुभ को छाया-धूप के समान कहा है, वह तो ज्ञानी की बात है। ज्ञानी को पाँचवें गुणस्थान में शान्ति बढ़ी है, उसके शुभराग को व्यवहार से छायारूप कहा है। ज्ञानी के शुभराग को परम्परा से मोक्ष का कारण भी शास्त्र में कहा है, किन्तु यह तो दृष्टि सम्यक् हुई है और अशुभ टला है, उसको व्यवहार से परम्पराकारण कहा है, परन्तु अज्ञानी के शुभराग को छाया समान अथवा परम्परा मोक्ष का कारण नहीं कह सकते। अज्ञानी द्रव्यलिङ्गी मुनि शुक्ललेश्या के शुभराग से नौवें ग्रैवेयक तक ऊँचा गया और वहाँ से पुन: नीचे संसार में पतन हुआ। अज्ञानी को शुभराग किस गिनती में ? आत्मा अत्यन्त निर्लेप अखण्डानन्द परमात्मा है, उसकी दृष्टि किये बिना एक कदम भी मोक्षमार्ग में नहीं जा सकते। संक्षेप में मूलसिद्धान्त एक है कि 'स्व के आश्रय से मुक्ति और पर के आश्रय से संसार'। छहढ़ाला में भी कहा है कि 'लाख बात की बात यही निश्चय उर लावो'।

(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 30-31)

(601)

प्रश्न—हमने सुना है कि अध्यात्म में पुण्य को भी पाप कहते हैं ? उसका आधार क्या ?

उत्तर—जगत में पाप को तो पाप सभी कहते हैं, परन्तु अनुभवी ज्ञानीजन तो पुण्य को भी पाप कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि को तो जगत् पाप मानता है, परन्तु शुभराग को भी ज्ञानीजन पाप कहते हैं, क्योंकि स्वरूप में से पतित होकर ही शुभराग उठता है, अत: वह भी पाप है। शुभराग में भी स्व की हिंसा होती है, इसलिए प्रवचनसार, गाथा 77 में कहा है कि जो जीव पुण्य-पाप में भेद मानता है, अन्तर मानता है; वह मिथ्यादृष्टि है और अनन्त संसार में भटकता है।

इसी प्रकार योगसार गाथा 71 में श्री योगीन्दुदेव कहते हैं:—

पाप भाव को पाप तो जानत है सब लोय।
पुण्यभाव को भी पाप है जाने विरला कोय॥

आहाहा! यह बात तो भव्यजीव के गले उतरेगी, जिसे अन्तर में भव का भय लगा हो और भय मुक्त होना हो। *(आत्मधर्म, अंक-425, मार्च 1979, पृष्ठ 29)*

(602)

प्रश्न—चैतन्यस्वरूप आत्मा के भान बिना जो कुछ पुण्य करते जावें तो हानि ही क्या है ?

उत्तर—चैतन्यस्वभाव के भान बिना जो कुछ भी पुण्य करने में आता है, वह राख के ऊपर गोबर लीपने के समान है। जैसे राख के दल के ऊपर गोबर का लीपन टिक नहीं सकता, जहाँ थोड़ा-सा सूखे, वहाँ पपड़ी उखड़ने लगती है; लीपन तो कठोर भूमि पर ही टिकता है; वैसे ही त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के भान बिना परलक्ष्य से जो कुछ भी पुण्य किया जाता है, वह राख के ऊपर किए गए लीपन के समान है। स्वभाव का भान नहीं है, इसलिए वह पुण्य अल्प काल में ही संक्रमित होकर पापरूप हो जाएगा। उसका पुण्य दीर्घकाल तक टिकेगा नहीं—ऐसा जानकर चैतन्यस्वभावरूप भगवान आत्मा का भान अवश्य करना चाहिए। *(आत्मधर्म, अंक-77, फाल्गुन 2476, पृष्ठ 94)*

(603)

प्रश्न—योगसार में पुण्य को भी पाप क्यों कहा है ?

उत्तर—वैसे तो पुण्य शुभराग है, परन्तु वह स्वरूप से पतित करता है, इसलिए वहाँ कहा है कि पाप को पाप सभी जगत कहता है, किन्तु अनुभवी जीव पुण्य को भी पाप कहते हैं। जयसेनाचार्य ने भी कहा है कि पुण्य है, वह अशुभ से बचाता है, परन्तु शुद्धस्वरूप से पछाड़ता है—पतित करता है, अत: पुण्य को भी पाप कहा है। यहाँ तो जिसे आत्मा का हित करना हो, उसकी बात है। वैसे तो अनन्त बार शुभ करके नवमी ग्रैवेयक तक गया, फिर भी एक भी भव कम नहीं हुआ।

(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 31)

(604)

प्रश्न—अशुभ की अपेक्षा से शुभ को ठीक कहा जाता है या नहीं ?

उत्तर—आत्मभान होने पर शुभ-अशुभ दोनों भावों को बन्ध का कारण जानने के बाद, व्यवहार से अशुभ की अपेक्षा शुभ को ठीक कहा जाता है, पर यह बात ज्ञानी की अपेक्षा है। चरणानुयोग में तीव्र कषाय घटाने के लिए मन्दकषाय-करना—ऐसा भी कहा जाता है परन्तु यहाँ अध्यात्म शास्त्रों में तो आत्मा में राग की गन्ध भी नहीं—यह बात है। वस्तु की अपेक्षा आत्मा भगवानस्वरूप है, इस पक्ष से उसका आश्रय न करके राग के पक्ष से राग का आश्रय किया—वह मिथ्यादृष्टि है।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 21)

(605)

प्रश्न—जो शुभ-अशुभ परिणाम में भेद मानता है, उसे मिथ्यादृष्टि कहा है; तो हम आत्मा की बात सुनें—चर्चा करें अथवा दुकान पर बैठकर व्यापार-धन्धा करें, ये दोनों समान ही हैं न ?

उत्तर—शुभ-अशुभ परिणाम में व्यवहार से भेद है। व्यापार में तीव्रकषाय है; आत्म-चर्चा सुनने में मन्दकषाय है, इसलिए व्यवहार से भेद है; किन्तु इन शुभाशुभ दोनों का लक्ष्य पर की ओर ही है; अत: बन्ध का कारण है। परमार्थ से इन दोनों में कोई भेद

नहीं है—ऐसा बतलाकर शुभ में से हितबुद्धि छुड़ाकर स्वद्रव्य का लक्ष्य कराया है।

(आत्मधर्म, अंक-428, जून 1979, पृष्ठ 25)

(606)

प्रश्न—आप शुभभाव को छुड़ाते हैं न ?

उत्तर—अनादि काल से चली आ रही शुभभाव में हितबुद्धि छुड़ाते हैं। पहले शुभराग में आदरबुद्धि छुड़ाते हैं, उसके बाद अस्थिरता भी छुड़ाते हैं। शुभराग आवेगा तो अवश्य, क्योंकि शुद्धोपयोग बिना शुभराग छूटता नहीं; उसमें से हितबुद्धि छोड़नी है।

(आत्मधर्म, अंक-428, जून 1979, पृष्ठ 24)

(607)

प्रश्न—ऐसा सुनने और जानने से जीव शुभभाव को छोड़ देंगे ?

उत्तर—यहाँ शुभभाव की रुचि छुड़ाने की बात है। शुभभाव छूटता नहीं है। भूमिका बढ़ने पर शुभभाव तो बढ़ता जाता है, किन्तु उस शुभभाव में ज्ञानी को आत्मबुद्धि नहीं होती। *(आत्मधर्म, अंक-397, नवम्बर 1976, पृष्ठ 27)*

(608)

प्रश्न—अज्ञानी के व्रतादि तो बन्ध के कारण हैं, किन्तु ज्ञानी के व्रतादि तो मोक्ष को कारण हैं न ?

उत्तर—ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, किन्तु व्रतादि का शुभराग दोनों को ही बन्ध का कारण है, मोक्ष का नहीं क्योंकि वह पर से आश्रय से होनेवाला भाव है। ज्ञानी को जो व्रतादि शुभराग आता है, उसमें भी आकुलता है, उद्वेग है; इसलिए बन्ध का कारण है। स्वसन्मुख होने पर जो शुद्ध परिणाम होता है, वही मोक्ष का कारण है।

(आत्मधर्म, अंक-397, नवम्बर 1976, पृष्ठ 30)

(609)

प्रश्न—आत्मानुभव होने से प्रथम ही शुभराग को हेय मानना उचित है क्या ?

उत्तर—आत्मा का अनुभव होने से पहले भी मुझे शुभराग हेय है—ऐसा निर्णय

करना चाहिए। सम्यक्त्व होने से पहले भी श्रद्धान में शुभराग का निषेध आना चाहिए। शुभराग छूटता तो स्वरूप में स्थिरता होने पर ही है, परन्तु उसका निषेध तो प्रथम से ही आना चाहिए।

यदि शुभराग का आदर किया जाएगा तो मिथ्यात्व दृढ़ होगा। शुभराग को हेय जानने का प्रयोजन कहीं अशुभ में चले जाने का नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 31)

(610)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के बिना क्या व्रत-तप-दान-शीलादि अफल हैं—व्यर्थ हैं ?

उत्तर—हाँ, सम्यग्दर्शन के बिना किए जानेवाले समस्त व्रतादि-दानादि मुक्ति के लिए निष्फल हैं, संसारवृद्धि के लिए सफल हैं।

(आत्मधर्म, अंक-432, अक्टूबर 1979, पृष्ठ 31)

(611)

प्रश्न—व्रत-नियम-शील-तपादि के शुभराग को अत्यन्त स्थूल परिणाम क्यों कहा ?

उत्तर—आत्मस्वभाव सूक्ष्म और इन्द्रियों से अगोचर है, इसलिए अत्यन्त सूक्ष्म है। शुभपरिणाम आत्मस्वभाव से विरुद्ध जाति का है, अत: उसको अत्यन्त स्थूल परिणाम कहा है। राग का परिणाम परलक्ष्य से उत्पन्न होनेवाला विकृत परिणाम है, पराश्रयजन्य परिणाम है, स्थूल लक्ष्यवाला परिणाम है; इसलिए उसे अत्यन्त स्थूल परिणाम कहा गया है।

(आत्मधर्म, अंक-397, नवम्बर 1976, पृष्ठ 30)

(612)

प्रश्न—आप पुण्य को हेय क्यों कहते हैं ?

उत्तर—श्री योगीन्दुदेव ने स्पष्ट कहा है कि हिंसा-झूठ-चोरी आदि तो पापभाव हैं ही, परन्तु दया-दान-पूजा-भक्ति आदि के शुभभाव भी परमार्थ से पाप हैं, क्योंकि वे जीव को स्वरूप से पतित करते हैं। आहाहा! पाप को तो पाप सभी कहते हैं। परन्तु अनुभवी

जीव तो पुण्य को भी पाप कहते हैं। बहुत सूक्ष्म बात है, अन्तर से समझे तो समझ में आये—ऐसी बात है।

पापभाव को पाप तो जानत हैं सब लोय।
पुण्यभाव भी पाप है, जाने विरला कोय॥

(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 21)

(612-अ)

प्रश्न—शुभभाव को हेय मानते पर फिर अशुभभाव आ जाए तो ?

उत्तर—अशुभभाव तो सम्यक्त्वी को भी आता है, आर्त्त-रौद्रध्यान भी होता है। शुभ को हेय मानते हुए भी श्रद्धा का बल कहाँ है—यह बात देखने की है।

(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1939, पृष्ठ 15)

(613)

प्रश्न—शास्त्र में पुण्य को हेय कहा है, तो क्या हमारी अब तक की गई पूजा-भक्ति-व्रतादि पानी में गये ?

उत्तर—नहीं, नहीं, पानी में नहीं गये—व्यर्थ नहीं गये। इन पूजा-भक्ति-व्रतादि से पुण्य बँधता है और उससे भव मिलता है, परन्तु भवरहित नहीं होते।

(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, पृष्ठ 32)

(614)

प्रश्न—तब हमें पूजा-भक्ति आदि करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—करने, न करने की बात नहीं है। करने योग्य कार्य तो राग से भिन्नता करके एकमात्र आत्मा की अनुभूति करना ही है। आत्मा ज्ञानस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु है, उसके सन्मुख ढ़लने पर धर्मीजीव को जब तक पूर्ण स्थिरता न हो, तब तक पूजा-भक्ति-व्रतादि का शुभराग आता है, होता है, भूमिकानुसार शुभराग आए बिना रहता नहीं; किन्तु धर्मीजीव उसको धर्म या धर्म का कारण नहीं मानता, वह शुभराग, पुण्यबन्ध का कारण है—ऐसा जानता है। *(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, पृष्ठ 32)*

(615)

प्रश्न—ज्ञानी के शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है, तो फिर अज्ञानी के शुभराग को भी अमृतकुम्भ कहने में क्या बाधा है ? ज्ञानी हो या अज्ञानी, शुभराग तो शुभराग ही है न ?

उत्तर—ज्ञानी को शुद्धस्वभाव की दृष्टि-ज्ञान आदि हुए हैं, उसको द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं, वे सब अपराधरूपी दोषों को घटाने में समर्थ होने से अमृतकुम्भ समान हैं—ऐसा व्यवहार से कहने में आता है, क्योंकि धर्मी को शुद्धस्वभाव की दृष्टि-ज्ञान आदि होने के कारण उसके प्रतिक्रमणादि शुभभाव से अशुभभाव घटता है, अत: उसके शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है। परन्तु जिसको प्रतिक्रमण से विलक्षण ऐसे अप्रतिक्रमणरूप शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान नहीं हुए, उसको तो व्यवहारप्रतिक्रमणादि विषकुम्भ ही हैं।

जिसको शुद्धस्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान नहीं हुआ, उसके द्रव्यप्रतिक्रमणादि दोष घटाने में बिल्कुल समर्थ नहीं हैं, इसलिए उसके लिए तो वे प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ ही हैं। ज्ञानी के निश्चय-दृष्टि होती है; इसलिए उसका शुभव्यवहार दोष घटाने का कारण है—ऐसा कहा जाता है, क्योंकि निश्चयसहित का व्यवहार, अशुभ के दोष को घटाता है, किन्तु जिसके निश्चय नहीं है, उसके तो व्यवहार ही नहीं है, उसके तो मिथ्यात्व है और वह भी अशुभ है, इसलिए उसके दोष नहीं घटते।

सम्यग्दृष्टि को निश्चय का बल है, इसलिए उसको मिथ्यात्व तो है ही नहीं और उसका व्यवहार शुभ है, उससे अंशरूप में अशुभ घटता है, अत: व्यवहार से उसे अमृतकुम्भ कहा है। वास्तव में तो सम्यग्दृष्टि का शुभराग भी विषरूप है, तथापि उसमें अमृतरूपभाव का आरोप करके शुभराग को अमृतरूप व्यवहार से कहा है। मिथ्यादृष्टि का शुभराग तो अकेला विषरूप ही होने से उसमें अमृतकुम्भ आरोप भी नहीं किया जा सकता। *(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 27)*

(616)

प्रश्न—क्या राग भी असत् है ? क्या राग से स्व और पर को लाभ नहीं होता ?

उत्तर—वास्तव में आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से राग भी असत् है, उस राग

से स्व और पर को लाभ नहीं होता। देखो, जिस राग के निमित्त से तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है, उस राग से भी सचमुच किसी को लाभ नहीं होता, क्योंकि उस जीव को वर्तमान में उस राग के कारण वीतरागदशा अटक गयी है। जब स्वभाव के आश्रय के बल से उस राग का छेद करेगा, तभी वीतरागता और मुक्ति होगी; इसलिए उस राग से स्व को लाभ नहीं है।

अब, उस राग से दूसरे को भी लाभ नहीं है, यह बात समझाते हैं।

प्रथम तो उस राग के निमित्त से जो तीर्थङ्करनामकर्म बँधा है, उसका फल तो राग का अभाव होने के पश्चात् ही प्राप्त होगा अर्थात् जब उस राग का अभाव करके केवलज्ञान प्रगट करेगा, तभी वह तीर्थङ्करनामकर्म उदय में आयेगा और दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश होगा। अब जब तक दिव्यध्वनि के श्रोता का लक्ष्य वाणी के ऊपर भी रहेगा, तब तक उसे विकल्प और राग की उत्पत्ति होगी और जब उस वाणी का लक्ष्य छोड़कर स्वयं अपने लक्ष्य से स्थिर होगा, तभी सम्यग्दर्शनादि का लाभ होगा, इसलिए निश्चय हुआ कि राग से पर को भी लाभ नहीं होगा।

जब स्वयं को निज लक्ष्य से लाभ हुआ, तब उपचार से ऐसा कहा जाता है कि भगवान की वाणी से अपूर्व लाभ हुआ अथवा 'उदय श्री जिनराज का भविजन को हितकार'; परन्तु यह मात्र उपचार कथन है। वास्तव में पर से लाभ हुआ नहीं है, अपने राग से भी लाभ नहीं है, लाभ तो स्व-स्वभाव के आश्रय से ही हुआ है।

(आत्मधर्म, अंक-74, मगसर 2476, पृष्ठ 35)

(617)

प्रश्न—ज्ञानी शुभराग को भला नहीं जानते तो अतिचार का प्रायश्चित क्यों लेते हैं?

उत्तर—प्रतिक्रमण-प्रायश्चित आदि के शुभराग को भी विषकुम्भ कहा है। विषय-वासना का अशुभराग जो जहर है ही, परन्तु शुभराग भी जहर है। भगवान आत्मा अमृतकुम्भ है। राग उससे विरुद्धस्वभावी होने से जहर ही है।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 22-23)

(618)

प्रश्न—सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना तो शुभभाव है न ?

उत्तर—सभी आत्माएँ सिद्ध समान हैं, किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं—ऐसी मैत्रीभाव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, शुभभाव नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 23)

(619)

प्रश्न—पुण्य से मिलनेवाले पैसे को पाप क्यों कहा है ?

उत्तर—पैसे को दस प्रकार के परिग्रह में गिना है, इस अपेक्षा से पाप कहा है, किन्तु वास्तव में तो पैसा ज्ञेय मात्र है, उसको अपना मानकर ममता करना, वह पाप है और उस पाप में पैसा निमित्त है, इसलिए उसको भी पाप कहा है।

(आत्मधर्म, अंक-449, मार्च 1981, पृष्ठ 22)

(620)

प्रश्न—समयसार, गाथा 72 में पुण्य-भाव को अशुचि कहा, जड़स्वभाव भी कहा; अत: हम भक्ति आदि का शुभराग करें या नहीं ?

उत्तर—जब तक वीतरागता न हो, तब तक राग अपने काल में हुए बिना रहेगा नहीं, परन्तु राग मेरा स्वभाव नहीं है; मेरा भाव तो रागरहित चैतन्यस्वभाव है; इस प्रकार अन्तर में राग और चैतन्यस्वभाव का भेदज्ञान करना चाहिए। राग का अभाव तो वीतरागी के होता है, किन्तु जो रागी है, उसके तो भक्ति आदि का भाव हुए बिना रहेगा नहीं। दो दशाओं में शुभराग नहीं होता, या तो तीव्र विषकषाय में पड़े हुये हों या फिर जो वीतराग हो गये हों। निचलीदशा में रहनेवाले पात्रजीव को भक्ति-स्वाध्याय आदि का शुभभाव आये बिना कैसे रह सकता है ? फिर भी धर्मी को अन्तर में भान होता है कि रागभाव हमारे स्वभाव से विरुद्धभाव है, हमारा स्वभाव राग का कर्ता नहीं है, हम तो पवित्र चैतन्यस्वभावी हैं। इस प्रकार शुभराग होने पर भी धर्मी उसे अपना कर्त्तव्य नहीं मानता, वह तो स्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाले वीतरागभाव को ही अपना कर्त्तव्य मानता है।

(आत्मधर्म, अंक-82, श्रावण 2476, पृष्ठ 214)

(621)

प्रश्न—पुण्य-पाप के भाव को जड़ क्यों कहते हैं ?

उत्तर—पुण्य-पाप के भाव में चेतन नहीं, इसलिए उसे जड़ कहते हैं; पुण्य-पाप स्पर्श-रस गन्धवाला जड़ नहीं, किन्तु उसमें जाननापना नहीं है। समयसार में जीव-अजीव अधिकार में उसको अजीव कहा है तथा कर्ता-कर्म अधिकार में जड़ कहा है। पुण्य-पापभाव में ज्ञान नहीं है, इस अपेक्षा से उसको जड़ कहा गया है।

(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 17)

(622)

प्रश्न—शुभ-अशुभभाव में व्यवहार से भेद होने पर भी परमार्थ से भेद माननेवाला घोर संसार में भटकेगा—ऐसा शास्त्र में कहा है; तथा देव-गुरु-वाणी पुण्य के बिना मिलती नहीं; ऐसी स्थिति में अग्रिम भव में उन्हें प्राप्त करने के लिए पुण्य की अपेक्षा तो रहती है न ?

उत्तर—पुण्य से देव-गुरु-वाणी का योग मिलता है—यह बात सत्य है परन्तु पुण्यभाव वर्तमान में दु:खरूप है और भावी दु:ख का कारण भी है—ऐसा शास्त्र में कहा है। कारण कि पुण्य से जो सामग्री मिलेगी, उसके लक्ष्य से जो राग होगा, वह दु:खरूप है। भगवान की वाणी मिले और उस पर लक्ष्य जाए, वह राग भी दु:खरूप है। शुभराग आता है, होता है; फिर भी चेतन का धर्म शुभराग नहीं है, शुभराग तो दु:खरूप ही है। अहाहा! यह बात जगत् को कठोर लगती है और सूक्ष्म होने के कारण अन्तर प्रवेश होना कठिन है, परन्तु क्या करें, सत्य तो ऐसे ही है।

(आत्मधर्म, अंक-411, जनवरी 1978, पृष्ठ 24-45)

(623)

प्रश्न—स्वरूप का अनुभव हुआ न हो और शुभ को हेय जानने लगे तो क्या स्वच्छन्दी नहीं हो जाएगा ?

उत्तर—शुभराग को हेय जानने से शुभराग छूटता नहीं है; स्वभाव का महात्म्य

आने पर शुभराग का माहात्म्य छूट जाता है परन्तु शुभराग छूटता नहीं। शुभराग तो भूमिकानुसार अपने काल में आए बिना रहता नहीं। वस्तु के सच्चे स्वरूप का ज्ञान करने पर स्वच्छन्दता रह नहीं सकती। *(आत्मधर्म, अंक-410, दिसम्बर 1977, पृष्ठ 23)*

(624)

प्रश्न—यह सत्य सुनने पर भी वर्तमान में धर्म प्राप्त न तो क्या करें ?

उत्तर—सत्य का श्रवणादि रसपूर्वक करता है, इसलिए उससे संस्कार पड़ते हैं; इन संस्कारों से धर्म प्राप्त होता है। भले अभी विकल्प न टूटे तो भी उसके संस्कार से आगे बढ़कर धर्म प्राप्त होता है। *(आत्मधर्म, अंक-410, दिसम्बर 1977, पृष्ठ 24)*

(625)

प्रश्न—गृहस्थ को पुण्य परिणाम का क्षय करना—ऐसा आप कहते हो ?

उत्तर—पुण्य परिणाम को क्षय तो जब शुद्धोपयोग पूर्ण हो, तब होता है। निचली भूमिका में तो पुण्य परिणाम का क्षय नहीं हो सकता परन्तु पुण्य परिणाम हेयरूप है, क्षय करनेयोग्य है—ऐसी दृष्टि प्रथम करनी चाहिए। पुण्यभाव हेय है, क्षय करनेयोग्य है; ऐसा जो नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। कलश टीका में कहा है कि व्यवहारचारित्र दुष्ट, अनिष्ट, और घातक है; इसलिए निषिद्ध है। (कलश-108)। निचली भूमिका में शुभभाव आये बिना रहता नहीं; फिर भी पहले दृष्टि में उसका निषेध होना चाहिए।

(आत्मधर्म, अंक-404, जुलाई 1977, पृष्ठ 23)

(626)

प्रश्न—जीव अभी (वर्तमान में) पुण्य-पाप करता है, उसका फल कब मिलता है ?

उत्तर—किये हुए पुण्य-पाप का फल किसी जीव को इसी भव में प्राप्त हो जाता है और किसी को अलग जन्मों में मिलता है। किसी को पुण्यभाव एवं पवित्रता की विशेषता के बल से पूर्व के पाप संक्रमित होकर पुण्यरूप भी हो जाते हैं। इसी प्रकार तीव्र पाप से पूर्व का पुण्य पलटकर पापरूप भी हो जाता है। यह बात पूर्वबद्ध कर्मों की अपेक्षा

से की है। जब परिणाम अपेक्षा से विचार करें तो पुण्य-पाप के भावों का भोग तो उन परिणामों के समय हो जीव को हो जाता है, उनकी मन्द-तीव्र आकुलता का तो उसी समय जीव को वेदन हो जाता है। कोई जीव शुद्धता के बल से पूर्वबद्ध कर्मों को उनके फल मिलने से पहले ही छेद डालता है। *(आत्मधर्म, अंक-264, अक्टूबर 1965, पृष्ठ 30-31)*

(627)

प्रश्न—कषाय को पतला करे तो अन्तर्मुख होता है न ?

उत्तर—बिल्कुल खोटी बात है। संसार को पतला करे तो संसारातीत होवे ? विष को हलका करे—पतला करे तो अमृत होगा क्या ? पुण्य और पाप दोनों ही बन्ध के कारण हैं, विषरूप हैं, अमृत से विरुद्ध भावरूप हैं। उन दोनों में से किसी एक को ठीक और दूसरे को अठीक मानना, शुभ और अशुभ में भेद मानना, शुभ-अशुभ में कुछ अन्तर है—ऐसा मानना, यह सब घोर संसार में भटकने के कारण हैं—ऐसा कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं। भगवान आत्मा अमृतस्वरूप है, उसके सन्मुख होने का साधन वह स्वयं ही है, कषाय की मन्दता किञ्चितमात्र भी साधन नहीं है। कषायकी मन्दतापूर्वक शुक्ललेश्या के भाव करके द्रव्यलिङ्गी नवम् ग्रैवेयक तक गया, तथापि मिथ्यात्व छूटा नहीं।

(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, पृष्ठ 29)

(628)

प्रश्न—छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है। पञ्च परमेष्ठी भगवान भी ज्ञेय में आ जाते हैं, इससे जानने योग्य हैं—ऐसा कहा जाता है, तब हमें भगवान की भक्ति करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—भक्ति करने, न करने की बात नहीं परन्तु भक्ति का भाव ज्ञेय होने से जाननेयोग्य है—ऐसा कहा है। समयसार, गाथा 11 में ऐसा कहा है कि भूतार्थ प्रभु का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। त्रिकाली का आश्रय लेकर जो पर्याय प्रकट हुई, उसको भी त्रिकाली से भिन्न कहा है और गाथा 12 में कहा है कि साधक हुआ, उसको शुद्धता के थोड़े अंश हुए हैं। अशुद्धता के अंश हैं, उसका क्या ? तो कहते हैं कि यह शुद्ध-अशुद्ध पर्याय अंश है, वह जानने योग्य है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 30)*

(629)

प्रश्न—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष उसे देव देता है। जिसके पास होता है, वह देता है, तो यह किस प्रकार है ?

उत्तर—यह तो निमित्त से व्यवहार का कथन है। देव की ओर झुकाववाले को शुद्धता प्रकट होती है और साथ में पुण्यबन्ध होता है, उसके फल में काम और अर्थ मिलता है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 30)*

(630)

प्रश्न—यह तो ठीक! भगवान के पास से क्या यह सब मिलता है ?

उत्तर—जिसको काम और अर्थ की स्पृहा है, भावना है, उसको मिलता नहीं परन्तु जिसको आत्मा के हित की भावना है, उसके साथ में पुण्य बँधता है और उसका फल मिलता है, यह बात समझायी है। *(आत्मधर्म, अंक-391, मई 1976, पृष्ठ 30)*

(631)

प्रश्न—व्रत-तप-त्याग के शुभभाव से आत्मा का मैल निकल जाता है क्या ?

उत्तर—नहीं, यह तो राग है; इस व्रत, तप आदि के राग को अपना मानना मिथ्यात्व है, अपराध है, भ्रम है। *(आत्मधर्म, अंक-412, फरवरी 1978, पृष्ठ 28)*

(632)

प्रश्न—साधारण जीवों को ये व्रतादि करना तो ठीक है न ?

उत्तर—साधारण जीवों के लिए भी यह व्रतादि के शुभभाव धर्म नहीं है, इनसे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता और इनमें लाभ-बुद्धि की जाए तो जन्म-मरण बढ़ता है; धर्म तो एकमात्र वीतराग भाव ही है।

*आत्मा कौन है और क्या कर सकता है तथा उसका स्वरूप क्या है, यह सब समझने का अभ्यास प्रथम करके आत्मज्ञान होता है; तत्पश्चात् व्रतादि का विकल्प आता है। आत्मा को समझे बिना यदि व्रतादि-क्रिया लाभ-बुद्धि से की जाए तो मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। *(आत्मधर्म, अंक-412, फरवरी 1978, पृष्ठ 28)*

** यह पेरा मात्र हिन्दी प्रति में है।*

(633)

प्रश्न—क्या किसी अपेक्षा ज्ञान भी बन्ध का कारण हो सकता है ?

उत्तर—शास्त्रज्ञान, पुण्यबन्ध का कारण है; संसार का ज्ञान, पापबन्ध का कारण है और आत्मा, आत्मज्ञान धर्म का कारण है। शास्त्र का ज्ञान पुण्यबन्ध का कारण है, किन्तु कौन-सा शास्त्र ? सर्वज्ञकथित शास्त्र का ज्ञान, पुण्य का कारण है, अन्य के कहे हुए शास्त्रों की तो बात भी नहीं है। शास्त्रज्ञान है, उसमें शास्त्र निमित्त है, वह परलक्ष्यी ज्ञान है, इसलिए निषिद्ध है, आत्मा का ज्ञान निश्चय है। उसी तरह नवतत्त्वों की श्रद्धा में नवतत्त्व निमित्त है, आत्मा निमित्त नहीं है; इसलिए वह भेदवाली श्रद्धा राग है, व्यवहार है और वह व्यवहारश्रद्धा अभव्य को भी होती है, उसे आत्मा की श्रद्धा नहीं है। षट्काय के जीवों की दया का विकल्प शुभराग है। ये सब होने पर भी निश्चयचारित्र नहीं हो, ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि निश्चयचारित्र तो स्व के आश्रय से होता है और उसके साथ व्यवहारचारित्र का विकल्प हो भी और न भी हो। *(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 20-21)*

(634)

प्रश्न—एकमात्र अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं; तब क्या बाह्यवस्तु के बिना बन्ध होता है ?

उत्तर—शुभ-अशुभरूप अध्यवसान एक ही बन्ध का कारण है, तदतिरिक्त कोई बाह्यवस्तु बन्ध का कारण होती हो—ऐसा है नहीं। पुण्य-पापरूप भावों में जो एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान है, वही बन्ध का कारण है। बाह्यवस्तु अध्यवसान होने का कारण—निमित्त तो होती है, क्योंकि बाह्यवस्तु का आश्रय करके ही अध्यवसान होता है, फिर भी बाह्यवस्तु बन्ध का कारण तो कदापि होती नहीं है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्त्ती के 96 करोड़ पैदल सेना और 96 हजार रानियाँ आदि बाह्यवैभव है, परन्तु वह सब कुछ बन्ध का कारण नहीं है; बन्ध का कारण तो एकमात्र अध्यवसान ही है, बाह्यवस्तु रञ्चमात्र भी बन्ध का कारण नहीं है। यदि बाह्यवस्तु बन्ध का कारण होती तो सम्यग्दृष्टि चक्रवर्त्ती तीर्थङ्करादि के बहुत अनुकूल सामग्री होती है, किन्तु उनको अध्यवसान के अभाव होने से वह बाह्यसामग्री भी बन्ध का कारण नहीं होती। एक अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, संसार की जड़ है; इसलिए उसी

से नरक-निगोदादि चौरासी के अवतार होते हैं।

(आत्मधर्म, अंक-434, दिसम्बर 1979, पृष्ठ 29-30)

(635)

प्रश्न—यदि बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नहीं तो शास्त्रों में बाह्य वस्तु के त्याग करने का उपदेश क्यों दिया ?

उत्तर—बाह्यवस्तु बन्ध का कारण है ही नहीं, क्योंकि वह बाह्य-वस्तु अपनी आत्मा के द्रव्य-गुण में तो है नहीं और पर्याय में भी उसका अभाव है, इसलिए वह बन्ध का कारण है ही नहीं। तथापि बाह्यवस्तु के आश्रय से ही अध्यवसान होते होने से बाह्य वस्तु को बन्ध के कारण का कारण मानकर बाह्यवस्तु के भी त्याग का उपदेश जिनवाणी में किया गया है क्योंकि बाह्य वस्तु के बिना अध्यवसान नहीं हो सकता।

(आत्मधर्म, अंक-434, दिसम्बर 1979, पृष्ठ 30)

(636)

प्रश्न—संसार की थकावट लगाने का उपाय क्या है ?

उत्तर—संसार में शुभाशुभभाव हैं, वे सब दु:खरूप हैं, उनके फल में चतुर्गति मिलती है, वहाँ अनेक प्रकार के दु:ख और आकुलतायें हैं—ऐसा अपने को अन्दर से लगना चाहिए। शुभाशुभभाव दु:खरूप ही हैं—ऐसा लगे तो संसार की थकावट लगे।

(आत्मधर्म, अंक-440, जून 1980, पृष्ठ 33)

(637)

प्रश्न—शरीर का रोग मिटाने का कार्य धर्म का नहीं है ?

उत्तर—अरे भाई ! शरीर का रोग मिटाना धर्म का कार्य नहीं है, पूर्व का पुण्य हो तो शरीर निरोगी होता है। धर्म के फल से शरीर का रोग मिटता है—ऐसा माननेवाला धर्म के स्वरूप को समझा ही नहीं है। पुण्य, शुभपरिणाम से होता है और धर्म, शुद्धस्वभाव प्रगट करने से होता है, इसका उसे विवेक नहीं है। सनतकुमार चक्रवर्त्ती को दीक्षा लेने के बाद, महान धर्मात्मा होने पर भी, अनेक वर्षों तक शरीर में रोग रहा और शरीर पर धर्म का कोई असर नहीं हुआ। धर्म से शरीर निरोगी रहे—ऐसा नहीं है। धर्म के फल में तो आत्मा में

अपूर्व आनन्द का अनुभव प्रगट होता है। धर्म के साथ पुण्य और शरीरादि का सम्बन्ध ही नहीं होता। मोक्षमार्ग में पुण्य का भी निषेध है। उसके बदले अभी तो धर्म के नाम से लोग सुहावे वैसा हाँके रखते हैं और कहते हैं कि पुण्य करो, उससे मनुष्य-देव का शरीर मिलेगा और फिर परम्परा से मोक्ष होगा। आत्मा की समझ करने की तो कहीं बात ही नहीं आयी। शुभभाव करते-करते धर्म होगा — यह मान्यता ही भूल भरी है।

(आत्मधर्म, अंक-94, श्रावण 2477, पृष्ठ 212)

(638)

प्रश्न—यदि राग का भी आदर कर लिया जाये तो क्या हानि है ? आगम में राग के आदर का इतना निषेध क्यों ?

उत्तर—राग का जहाँ आदर है, वहाँ वीतरागस्वभाव का अनादर है और जहाँ वीतरागस्वभाव का अनादर है, वहाँ उस वीतरागता को प्राप्त सर्वज्ञ का, सर्वज्ञता के साधक साधुओं का तथा उसके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों का भी अनादर है। वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा तो वीतरागभाव की ही पोषक है, उसके बदले जिसने अपने अभिप्राय में राग का पोषण किया, उसने वास्तव में वीतरागी की आज्ञा का उल्लंघन किया है। बाहर से भले ही वीतराग की भक्ति-पूजा-बहुमान का शुभभाव करता हो, परन्तु अन्तर में वीतरागी स्वरूप के अज्ञानपने के कारण वह अपने अभिप्राय में तो राग का ही सेवन और राग की ही भक्ति-पूजा-बहुमान कर रहा है। अज्ञानी का यह विपरीत अभिप्राय ही वीतराग की महान् विराधना करके अमाप पाप का बन्ध करता है, इसका विचार जगत् के जीवों को नहीं है। *(आत्मधर्म, अंक-195 पोष 2486, पृष्ठ 2 / 9)*

(639)

प्रश्न—पुण्य प्राप्त हो, ऐसा कौन-सा धन्धा है ?

उत्तर—सच्चे जैन शास्त्रों का वाँचन, विचार, श्रवण करे तो पुण्य बन्ध हो और यदि उसमें सच्ची समझ करे तो चौरासी के भ्रमण से छुटकारा मिल जाए अर्थात् मुक्ति प्राप्त हो।

(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 26)

[18]
विविध

(640)

प्रश्न—स्त्री-पुत्रादि को लुटेरों की टोली मानने से घर में झगड़ा होता है ?

उत्तर—परद्रव्य को अपना मानने से ही अन्दर में मिथ्यात्व का बड़ा झगड़ा होता है, जिससे चार गति का दु:ख भोग रहा है। कुटुम्बीजन स्वार्थ के सगे हैं, यह तो हकीकत है। अपने स्वार्थ-पोषण के लिए प्रेम करते हैं—ऐसा समझकर अन्दर से ममत्व छोड़ना है। यह तो अनादि का झगड़ा छुड़ाने की बात है। लोग 15 अगस्त को स्वराज्य-दिवस कहते हैं। परद्रव्य में से सुख प्राप्ति की वाञ्छारूप दीनता छोड़कर स्वद्रव्य में सन्तोष मानना ही सच्चा स्वराज्य है। उस अविनाशी स्वराज्य को भोगनेवाला सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा, वह सच्चा राजा-बादशाह है। बाहर के राज्य को भोग करनेवाला राजा-बादशाह तो 'पर' से सुख लेने की आकुलता की ज्वाला को भोगता है, आत्मशान्ति को नहीं भोगता।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 24)

(641)

प्रश्न—श्री वादिराज मुनिराज का कुष्ठरोग स्तुति करते ही मिट गया, मानतुंगाचार्यदेव के कारागर के ताले स्तुति करने से टूट गए, सीताजी के निर्दोष शील से अग्नि भी जलरूप हो गयी—ऐसा कथन शास्त्र में आता है—इससे हम क्या समझें ?

उत्तर—पूर्व के पुण्य के योग से वादिराज मुनिराज का कुष्ठ मिट गया, मानतुंगाचार्य के ताले टूट गए और सीताजी का अग्निकुण्ड भी जलसरोवर बन गया, तब उस पुण्योदय का अरोप वर्तमान प्रभु-भक्ति और ब्रह्मचर्य आदि पर करने में आया—ऐसी प्रथमानुयोग की कथन-पद्धति है, उसे यथावत् समझना चाहिए। मोक्षमार्गप्रकाशक में पण्डित टोडरमलजी

ने इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है, वहाँ से देखा लेना।

(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, पृष्ठ 30)

(642)

प्रश्न—द्रव्यानुयोग का पक्षपाती निश्चयाभासी हो सकता है क्या ?

उत्तर—हाँ, निश्चय का ज्ञान तो कर ले और अनुभव न करे तथा अपने को अनुभवी मान बैठे तो वह निश्चयाभासी है। *(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, पृष्ठ 31-32)*

(643)

प्रश्न—बहुत से लोग पूछते हैं कि मनुष्य का कर्तव्य क्या है ? मानवधर्म क्या है ?

उत्तर—अरे भाई ! सर्व प्रथम तो 'मैं मनुष्य हूँ'—ऐसी मान्यता ही महान भ्रम है। मनुष्यपना तो संयोगी पर्याय है, जीव-पुद्गल के संयोगरूप असमानजातीयपर्याय है, आत्मा का स्वरूप तो नहीं। अत: मनुष्यपर्याय, वह मैं नहीं; मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा समझना, यही सबसे प्रथम कर्त्तव्य है, धर्म है। मनुष्यभव प्राप्त करके यदि कुछ करनेयोग्य है, तो यही है। इसके विपरीत 'मैं मनुष्य ही हूँ'—ऐसा मानकर जो कुछ भी क्रियाकलाप करने में आता है, वह सब व्यवहारमूढ़ अज्ञानी जीवों का व्यवहार है।

(आत्मधर्म, अंक-123, पोष 2480, पृष्ठ 52)

(644)

प्रश्न—पैसा-वैभवादि में आकर्षणशक्ति बहुत प्रतीत होती है ?

उत्तर—पैसा-वैभवादि में आकर्षण कुछ है ही नहीं, यह तो जीव के मोह की मूर्खता / पागलपन है। पर में मोह करके अपना भव बिगाड़कर चौरासी के भ्रमण में चला जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-409, नवमबर 1977, पृष्ठ 15)*

(645)

प्रश्न—अनन्त काल में अभी तक आत्मा को समझा नहीं, तो अब कैसे समझ में आयेगा ?

उत्तर—अनन्त काल में नहीं समझ पाया तो इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि कभी

समझ में आयेगा ही नहीं। क्या समझ-शक्ति नष्ट हो गयी है ? जैसे पानी, अग्नि के निमित्त से सौ वर्ष तक उष्ण बना रहे तो भी क्या उसका शीतलस्वभाव नष्ट हो गया है ? यदि चूल्हे पर रखी हुई तपेली का उष्ण जल अग्नि के ऊपर गिर पड़े तो तत्समय भी वह अग्निनाशक स्वभाववाला ही है। वैसे ही अनन्त काल से विपरीत रुचि के कारण आत्मा को नहीं समझा, परन्तु अब यदि रुचि गुलाँट मारे तो क्षणमात्र में आत्मा समझ में आ सकता है।

(आत्मधर्म, अंक-77, फाल्गुन 2476, पृष्ठ 94)

(646)

प्रश्न—स्वच्छन्दता का अर्थ क्या है ?

उत्तर—विकारी पर्याय मेरी नहीं है—ऐसा मानकर विकार का सेवन करे, अशुद्धता चाहे जितनी होती जाए, तथापि उसका सेवन करता रहे और 'ज्ञानवन्त को भोग निर्जरा हेतु हैं'—ऐसा पढ़कर मानने लगे कि हमारे भी भोग के भाव से, विषय-वासना के भाव से, निर्जरा हो रही है—वह स्वच्छन्दी है। पर्याय में चाहे जैसा विकार हो तो भी हमें क्या ?—ऐसा माने, वह स्वच्छन्दता है। सच्चा मुमुक्षु ऐसी स्वच्छन्दता का सेवन नहीं करता। सच्चा मुमुक्षु पर्याय में विकार हो, उसे अपना अपराध समझता है। ज्ञान में उसे बराबर जानता है। पाप से अनभिज्ञ नहीं रहता, उसका हृदय भींगा हुआ होता है, वैराग्य होता है।

(आत्मधर्म, अंक-425, मार्च 1979, पृष्ठ 33)

(647)

प्रश्न—एक ओर देह को भगवान आत्मा का देवालय कहा जाता है; दूसरी ओर उसे मृतक कलेवर कहते हैं, तो सही है क्या ?

उत्तर—देह तो मृतक कलेवर ही है, यही सत्य है परन्तु भगवान आत्मा की महिमा बताते हुए देव में देवालय का उपचार करके भी देव की महिमा की जाती है।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 19)

(648)

प्रश्न—द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु के ध्यान से केवलज्ञान होता है—ऐसा

शास्त्र में कहा है, जबकि अन्य शास्त्रों में शुद्धात्मा का ध्यान करने से केवलज्ञान होना कहा है ?

उत्तर—द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु का ध्यान करने को कहा है, वह पुद्गलपरमाणु का कथन नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप की सूक्ष्मता को द्रव्यपरमाणु कहा है और स्वसंवेदनपरिणाम, वह इन्द्रिय-मन को गम्य न होने से सूक्ष्म है, उसे भावपरमाणु कहा है। इस द्रव्यपरमाणु के, भावपरमाणु के ध्यान से केवलज्ञान होना कहा है।

(आत्मधर्म, अंक-397, नवम्बर 1976, पृष्ठ 30)

(649)

प्रश्न—जड़ में अनुभूति होती है क्या ?

उत्तर—हाँ, जड़ में भी अनुभूति होती है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमन करना ही जड़ में अनुभूति होना कहा जाता है। *(आत्मधर्म, अंक-396, अक्टूबर 1976, पृष्ठ 17)*

(650)

प्रश्न—यह सुना हुआ स्मरण नहीं रहता, इसके लिए क्या करें ?

उत्तर—यदि किसी व्यक्ति ने अपने को कोई चुभती हुई गाली दी हो तो वह तो याद रहती है न ? तो फिर गुण याद क्यों नहीं रहते ? वास्तविकता तो यह है कि अपने को उनकी सच्ची दरकार नहीं है, इसलिए विस्मरण हो जाते हैं; यदि सच्ची दरकार हो तो अवश्य स्मरण रहे ही। *(आत्मधर्म, अंक-422, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 30)*

(651)

प्रश्न—शास्त्र में मनुष्य के शरीर में कितने रोग होना कहा है ?

उत्तर—भावपाहुड़, गाथा 37 में कहा कि इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल स्थान में छियानवे-छियानवे रोग होते हैं, तो पूरे शरीर में रोग कितने ? (इस हिसाब से समस्त शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी रोग होते हैं - (5,68,99,584) शरीर तो रोग की मूर्ति है अैर आत्मा आनन्द का सागर है। रोग से घिर जाए, तब कहाँ जाना ? अरे ! अन्दर आत्मा वज्र का किला है, जहाँ रोग और राग का प्रवेश

नहीं है, मात्र आनन्द ही भरा है, वहाँ घुस जाना! आत्मा परम शरण और शान्ति का धाम है। *(आत्मधर्म, अंक-435, जनवरी 1980, पृष्ठ 29-30)*

(652)

प्रश्न—आप प्रवचनसार की अपेक्षा समयसार का अत्यधिक बखान करते हो, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—प्रवचनसार में ज्ञानप्रधान कथन है और समयसार में दृष्टि कराने के प्रयोजन का कथन मुख्य है। समयसार में विकार को पुद्गल के लक्ष्य से उत्पन्न होता होने से और वह जीव का स्वभावभाव न होने से उसकी दृष्टि छुड़ाकर द्रव्य की दृष्टि कराने का कथन मुख्य है और उस द्रव्यदृष्टि से ही सम्यग्दर्शन तथा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है।

(आत्मधर्म, अंक-413, मार्च 1978, पृष्ठ 24)

(653)

प्रश्न—दर्शनमोहनीय की एक प्रकृति का नाम 'सम्यक्त्व-प्रकृति' क्यों है ?

उत्तर—क्योंकि उसके उदय के साथ सम्यक्त्व भी होता है अर्थात् सम्यक्त्व की सहचारिणी होने से उसका नाम 'सम्यक्त्व-प्रकृति' पड़ा है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ उसका उदय होता है। *(आत्मधर्म, अंक-264, अक्टूबर 1965, पृष्ठ 30)*

(654)

प्रश्न—संख्या की अपेक्षा से बड़े से बड़ा अनन्त कौन ?

उत्तर—केवलज्ञान का अविभाग प्रतिच्छेद सबसे महान अनन्त है। अलोकाकाश के प्रदेश इत्यादि दूसरे अनन्त से भी वह अनन्तगुना है—ऐसा कहकर भी उसका माप नहीं निकाला जा सकता। आत्मद्रव्य की यह कोई अचिन्त्य शक्ति है। जिस प्रकार विकल्प से उसकी शक्ति का पार नहीं पाया जा सकता; उसी प्रकार गणित से भी उसकी शक्ति का पार नहीं पाया जा सकता। *(आत्मधर्म, अंक-262, अगस्त 1965, पृष्ठ 22)*

(655)

प्रश्न—भरतक्षेत्र का जीव मरकर सीधा विदेह में जन्म लेता है क्या ?

उत्तर—हाँ; यदि मिथ्यादृष्टि है तो विदेह में जन्म ले सकता है, परन्तु आराधक मनुष्य मरकर कर्मभूमि के मनुष्यों में (विदेहादि में) जन्म नहीं लेता—ऐसा नियम है। विराधक जीव तो चाहे जहाँ जन्म ले सकता है। कदाचित् किसी मनुष्य को पूर्व में मिथ्यात्वदशा में मनुष्यायु का बन्ध हो गया हो, पश्चात् सम्यक्त्व (क्षायिक) प्राप्त हो जाए तो वह आराधक जीव मरकर मनुष्य में उत्पन्न होगा, परन्तु वह असंख्यात वर्ष की आयुष्यवाली भोगभूमि में मनुष्य होगा, कर्मभूमि में जन्म नहीं लेगा, ऐसा नियम है। विदेहक्षेत्र भी कर्मभूमि है। भोगभूमि में चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर का कोई गुणस्थान नहीं होता और वहाँ का जीव मरकर नियम से स्वर्ग में ही जाता है।

(आत्मधर्म, अंक-264, अक्टूबर 1965, पृष्ठ 29)

(656)

प्रश्न—केवलज्ञानी के शरीर में निगोदिया जीव होते हैं क्या?

उत्तर—नहीं, केवलज्ञानी का परमौदारिकशरीर होता है, अत: उसके आश्रय से निगोदिया जीव नहीं होते। यद्यपि आकाश के उसी क्षेत्र में होते हैं, क्योंकि लोक में सर्वत्र निगोदिया जीव भरे पड़े हैं, तथापि वे जीव परमौदारिकशरीर के आश्रित नहीं हैं। केवली का परमौदारिकशरीर, मुनि का आहारकशरीर, देवों का तथा नारकियों का वैक्रियकशरीर तथा पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय और तेजोकाय, इन स्थानों के आश्रय से निगोदिया जीव नहीं होते। *(आत्मधर्म, अंक-264, अक्टूबर 1965, पृष्ठ 30)*

(657)

प्रश्न—आकाश के एकप्रदेश में अनन्त परमाणु और अनन्त जीवों के प्रदेश कैसे रह सकते हैं?

उत्तर—जिसका जो स्वभाव हो, उसमें कोई मर्यादा या हद नहीं हो सकती; स्वभाव तो सदैव अमर्यादित और असीम ही होता है। लोक में स्थित अनन्त परमाणु सूक्ष्मरूप से आवें तो उन्हें आकाश का एकप्रदेश अवगाहन देता है; ऐसा अवगाहन देने का आकाश का अमर्यादित स्वभाव है। आकाश के एकप्रदेश में इतना असीम सामर्थ्य है कि अनन्त पुद्गलों और अनन्त जीवों के प्रदेशों को तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय

और काल के एक-एक प्रदेश को एक साथ अवगाहन दे सकता है।

जितने क्षेत्र में एक परमाणु रहता है, आकाश का एकप्रदेश उतने ही मापवाला होता है; किन्तु उसमें अनन्त को अवगाहन देने की अमाप सामर्थ्य है। देखो! यह सारी बातें कहने का मूल तात्पर्य तो इन सबको जाननेवाली एक समयवर्त्ती ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य बताने का है। एकसमय की ज्ञानपर्याय अनन्तानन्त पदार्थों को, उनकी भूत-भविष्य की पर्यायों सहित जान लेती है। अरे! जब जड़रूप आकाश का एकप्रदेश अनन्त रजकरण को स्थान दे सकता है, तो उसको जाननेवाले जीव के ज्ञायकस्वभाव की सामर्थ्य का क्या कहना? आहाहा! जाननहार जीव के स्वभाव की अमर्यादितता, अमापता, अपरिमितता, अनन्तता का क्या कहना! गजब बात है! अरे! यह तो अपना ही हित करने की बात है; दूसरों को समझाने के लिए नहीं। अपने ज्ञान की सामर्थ्य स्वय समझकर, श्रद्धा में लेकर अन्दर में समाने के लिए है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—'जो समझा वह समा गया, बाह्य में कहने के लिए रुका नहीं।' अहाहा! ऐसे स्वभाव का महात्म्य जिस पर्याय में आया, वह पर्याय अन्दर में प्रविष्ट हुए बिना रहे नहीं, और भगवान आत्मा से भेंट करे ही।

(आत्मधर्म, अंक-422, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 28-29)

(658)

प्रश्न—एक पुद्गल परमाणु के दो टुकड़े नहीं हो सकते, क्योंकि वह अत्यन्त छोटा है, तो फिर उसमें अनन्त गुण किस प्रकार हो सकते हैं?

उत्तर—एक परमाणु के दो भाग नहीं हो सकते; इतना सूक्ष्म होने पर भी उसमें अनन्त गुण (जीव के गुणों के जितने ही) हैं। अहाहा! ऐसा वस्तु का स्वभाव सर्वज्ञ ने देखकर, जानकर कहा है। आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञस्वभावी है।

एक परमाणु और ऐसे अनन्त परमाणुओं का एक स्कन्ध तथा ऐसे अनन्त स्कन्धों का एक महास्कन्ध - इन सब को जाननेवाला आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। इस सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की सच्ची श्रद्धा करनी है, क्योंकि श्रद्धा-ज्ञान को सम्यक् किए बिना समस्त तप-त्याग संसार-भ्रमण के कारण हैं। *(आत्मधर्म, अंक-422, दिसम्बर 1978, पृष्ठ 28)*

(659)

प्रश्न—एक सूक्ष्मपरमाणु अथवा सूक्ष्मस्कन्ध क्या अकेला, स्थूलरूप से परिणमन करता है ?

उत्तर—नहीं; दूसरे स्थूल स्कन्ध के साथ मिलने पर ही उसमें स्वयं स्थूलरूप परिणमन होता है। जिस प्रकार अनादि का अज्ञानी जीव, ज्ञानी के निमित्तपूर्वक ही ज्ञानी होता है; उसी प्रकार स्थूल स्कन्ध के निमित्तपूर्वक ही दूसरा सूक्ष्म स्कन्ध या परमाणु स्थूलरूप से परिणमन करता है। यह अनादि नियम है।

(आत्मधर्म, अंक-261, जुलाई 1965, पृष्ठ 28)

(660)

प्रश्न—एक परमाणु को आँख से अथवा सूक्ष्मदर्शी यन्त्रादि साधन से देख सकते हैं क्या ?

उत्तर—नहीं; पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी ज्ञान का यह विषय नहीं है। अवधिज्ञान से परमाणु को जान सकते हैं, किन्तु अवधिज्ञान बाहर के किसी साधन से होता नहीं, अवधिज्ञान आँख से भी जानता नहीं; तथा परमाणु को जान सके, ऐसा सूक्ष्म अवधिज्ञान तो ज्ञानी के ही होता है, अज्ञानी को ऐसा अवधिज्ञान नहीं होता। अर्थात् यह नियम है कि जो एकत्वरूप परम आत्मा को जानता है, वही परमाणु को जान सकता है।

(आत्मधर्म, अंक-264, अक्टूबर 1965, पृष्ठ 32)

(661)

प्रश्न—आपका समयसार का अध्यात्म का विषय सूक्ष्म है। हम तो यात्रा करने आये हैं। अत: हमें कोई सरल बात बताइये ?

उत्तर—हम तो सबको भगवान देखते हैं। अन्दर नित्यानन्द प्रभु त्रिकाली चैतन्य भगवान विराजमान है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन और धर्म होता है। विकल्प और पर का लक्ष्य छोड़कर अन्दर में भूतार्थस्वभावी भगवान का आश्रय ही करने योग्य कार्य है।

(आत्मधर्म, अंक-401, मार्च 1977, पृष्ठ 23)

(662)

प्रश्न—वर्तमान में कोई केवलज्ञानी दिखायी नहीं देता, अत: केवलज्ञान सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर—जो ऐसा कहा जाता है कि केवलज्ञान असिद्ध है तो ऐसा भी नहीं है—ऐसा कषायप्राभृत-जयधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 44 में कहा है, क्योंकि स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष द्वारा केवलज्ञान के अंशरूप ज्ञान की निर्बाधपने उपलब्धि होती है। अर्थात् मतिज्ञानादिक, केवलज्ञान के अंशरूप हैं और उनकी उपलब्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सभी को होती है; इसलिए केवलज्ञान के अंशरूप अवयव प्रत्यक्ष हैं और अवयव के प्रत्यक्ष होने पर अवयवी (केवलज्ञान) को परोक्ष कहना युक्त नहीं है।

(आत्मधर्म, अंक-18, अधिक चैत्र 2001, पृष्ठ 82)

(663)

प्रश्न—अनेकान्त क्या है, तथा जैनशासन और उसकी व्यवस्था क्या है ?

उत्तर—एक वस्तु में वस्तुपने की निजपनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है। जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य है; जो एक है, वही अनेक हैं,—इस प्रकार जो प्रकाशित करता है, वह जैनशासन का रहस्य है। अन्य प्रकार से कहें तो जो सत्ता को अभेद द्रव्यरूप कहे, वह निश्चय और जो उसी सत्ता को गुणभेदरूप कहे वह व्यवहार—यह अनेकान्त है।

अनेकान्त मे विशेष तो यह है कि जो वस्तु है, उसी वस्तु में विरुद्ध दो शक्तियाँ हैं। नित्य और अनित्य वस्तु स्वयं ही है। यह ज्ञान की पर्याय शब्द सुनने से बदलकर नयी उत्पन्न हुई है, वह शब्द से नहीं हुई; अपने से ही हुई है। ज्ञान की पर्याय बदलकर नयी-नयी होती है, वह शास्त्र बाँचने से नहीं होती, किन्तु अपने से ही होती हैं। स्वयं ही नित्य और अनित्य धर्मरूप दो विरुद्ध शक्तियों से प्रकाशित हो, उसको जैनशासन का अनेकान्त कहते हैं।

एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अभाव है। जो तत्त्व है, वह अपने से है और पर से नहीं

है—यही अनेकान्त है—यही जैनशासन है। जो पदार्थ है, उसकी व्यवस्था अपने से ही व्यवस्थित होती है, यही जैनशासन की व्यवस्था की व्यवस्था है।

(आत्मधर्म, अंक-445, नवम्बर 1980, पृष्ठ 31-32)

(664)

प्रश्न—अभव्य को (केवलज्ञान का आवरण करनेवाला) केवलज्ञानावरणी है या नहीं?

उत्तर—है; अभव्य को भी शक्ति अपेक्षा से केवलज्ञान है अर्थात् उसके भी केवलज्ञान होने की शक्ति विद्यमान है, अत: केवलज्ञानावरणी आवरण होता है।

(आत्मधर्म, अंक-404, जून 1977, पृष्ठ 22)

(665)

प्रश्न—प्रवचन तो वर्षों से सुनते आ रहे हैं, अब तो अन्दर जाने का कोई संक्षिप्त मार्ग बताइये?

उत्तर—आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव चिद्घन है, अभेद है, उसकी दृष्टि करो। भेद के ऊपर लक्ष्य करने से रागी जीव को राग उत्पन्न होता है, इसलिए भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद की दृष्टि करो—यह संक्षिप्त सार है। *(आत्मधर्म, अंक-450, अप्रेल 1981, पृष्ठ 29)*

(666)

प्रश्न—राग को सुख का साधन माननेवाला क्या भूल करता है?

उत्तर—जिसने राग को सुख का साधन माना, उसकी मान्यता में यह बात बैठ गयी कि जहाँ राग नहीं होगा, वहाँ सुख भी नहीं होगा। राग के बिना अतीन्द्रिय वीतरागसुख होता है—यह बात उसकी श्रद्धा में नहीं आयी और वहाँ अतीन्द्रिसुख की श्रद्धा भी न हो, वहाँ उसका उपाय भी कैसे बन सकेगा? राग के एक विकल्प को भी जो जीव सुख का या ज्ञान का साधन मानता है, वह जीव इन्द्रिय विषयों में ही सुख मानता है और आत्मा के 'स्वयंभू' सुखस्वभाव को नहीं मानता। *(आत्मधर्म (हिन्दी), फरवरी 1983, पृष्ठ 25)*

(667)

प्रश्न—यह सब कुछ जानने में आता है, परन्तु आत्मा जानने में क्यों नहीं आता ?

उत्तर—यह सब ज्ञात हो रहा है, उसका ज्ञाता कौन है ? जिस सत्ता में यह सब जानने में आ रहा है, उसका जाननेवाला जानने में नहीं आता—यही भ्रम है। यह शरीर है, मकान है, धन है, स्त्री-पुत्रादि हैं—ऐसा जो जानने में आता है, वह किसमें ज्ञात होता है ? यह सब जाना जाता है, वह जाननेवाले की सत्ता में ज्ञात होता है। जाननेवाले की सत्ता की मुख्यता में यह सब ज्ञात होता है। इस जाननेवाले को जाने नहीं, माने नहीं; यह भ्रम ही चौरासी के अवतार में भटकाने का कारण है। शरीरादि तो इस जाननवाले से भिन्न वस्तु है, उससे भिन्न रहकर जाननेवाला अपनी सत्ता में खड़ा रहकर जानता है। इस जाननेवाले को जाने और माने तो भवभ्रमण से छुटकारा मिल सकता है।

(आत्मधर्म, अंक-436, फरवरी 1980, पृष्ठ 28)

(668)

प्रश्न—अज्ञानी पुरुष का संसार क्या है और आत्मज्ञान शून्य विद्वान का संसार क्या है ?

उत्तर—जो पुरुष अज्ञानी है अर्थात् वास्तविक रीति से हिताहित जो जानता नहीं है, उसका संसार तो स्त्री-पुत्रादि ही हैं। परन्तु जो विद्वान है, शास्त्रों का अक्षराभ्यास भी विशदरूपेण कर चुका है, अनेकों श्लोक-गाथायें अपने स्मृति-पटल पर अंकित कर चुका है, किन्तु आत्मज्ञान से शून्य है, उसका संसार शास्त्र हैं।

(आत्मधर्म (हिन्दी) अंक, फरवरी 1979, पृष्ठ 26)

(669)

प्रश्न—अनन्तानुबन्धी लोभ किसे कहते हैं ?

उत्तर—अपनी स्वभावपर्याय (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट करूँ, तभी वास्तविक सन्तोष है—ऐसा न मानकर अज्ञानी जीव, अशुभ से शुभ में आ जाए, उसी में सन्तोष मान लेता है अर्थात् शुभराग में ही सन्तुष्ट होकर उसी में अटक जाता है। ऐसे जीव को वास्तव में राग

का लोभ है और इसी को अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं।

(आत्मधर्म (हिन्दी), सितम्बर 1982, पृष्ठ 24)

(670)

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में द्रव्यस्वभाव भासित नहीं होता, तो क्या उसे द्रव्य का अभाव है ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि को द्रव्य भासित नहीं होता, इसलिए उसके ज्ञान में द्रव्य अभावरूप है। ज्ञानी को तो पर का द्रव्य भी भासित होता है, इसलिए अज्ञानी के द्रव्य को ज्ञानी भगवानस्वरूप देखता है। किन्तु अज्ञानी को तो द्रव्य दिखायी नहीं पड़ता, अत: उसकी दृष्टि में तो द्रव्य अभावरूप ही है। *(आत्मधर्म, अंक-409, नवम्बर 1977, पृष्ठ 14)*

(671)

प्रश्न—अज्ञानी जीव को मोक्ष की श्रद्धा है या नहीं ?

उत्तर—अज्ञानी को मोक्ष की श्रद्धा नहीं है, क्योंकि शुद्धज्ञानमय आत्मा को वह जानता नहीं; इसलिए उसे मोक्ष की भी श्रद्धा नहीं है और मोक्ष की श्रद्धा हुए बिना चाहे जितने भी शास्त्र पढ़ जाऐं, तथापि आत्मा का लाभ नहीं हो सकता—सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्रों का हेतु तो शुद्धज्ञानमय आत्मा दर्शाकर मोक्ष के उपाय में उद्यमवन्त करना है, परन्तु जिसे मोक्ष की श्रद्धा ही नहीं, उसे शास्त्र पढ़ना कैसे गुणकारी होगा ? ग्यारह अङ्ग पढ़ने पर भी अभव्य अज्ञानी रहता है। अभव्य के दृष्टान्तानुसार दूसरे भव्य जीवों काभी इसी प्रकार समझ लेना। अन्तर्मुख होकर, राग से पृथक् होकर, जो शुद्धज्ञानमय आत्मा को जानता है, वही सम्यग्ज्ञानी होता है। *(आत्मधर्म, अंक-208, महा 2487, पृष्ठ 13)*

(672)

प्रश्न—न्याय और तर्क से तो यह बात जमती है, किन्तु अन्दर जाने का साहस क्यों नहीं हो पाता ?

उत्तर—अन्दर में पहुँचने का जितना पुरुषार्थ होना चाहिए, उतना नहीं बन पाता; इसीलिए बाहर भटकता रहता है। अन्दर जाने की रुचि नहीं, इसीलिए उपयोग अन्दर

जाता नहीं। *(आत्मधर्म, अंक-431, सितम्बर 1979, पृष्ठ 16-17)*

(673)

प्रश्न—ज्ञान का स्वभाव जानने का ही है, तो स्वयं अपने को क्यों नहीं जानता?

उत्तर—ज्ञान स्वयं को जानता है; उसका स्वभाव स्वयं को जानने का है, परन्तु अज्ञानी की दृष्टि तो पर के ऊपर है, इसलिए स्वयं को जानता नहीं, पर में अधिकता पड़ी है अर्थात् पर को अधिक मानने के कारण स्वयं अपने को नहीं जानता। अधिकपने का इसका बल पर में जाता है; इसलिए अपने को नहीं जान पाता।

(आत्मधर्म, अंक-410, दिसम्बर 1977, पृष्ठ 26)

रहस्य न समझे तो मिथ्यात्व को पुष्ट करे

एक कहता है कि क्रमबद्धपर्याय हो, तब तो नियत हो जाता है; दूसरा कहता है कि क्रमबद्ध में हमें राग आना था, वह आया - ये दोनों भूले हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। मिथ्यात्व को पुष्ट करके दोनों ने निगोद का मार्ग लिया है। जिसे क्रमबद्ध यथार्थ जमा है, उसकी दृष्टि, पर्याय से हटकर आनन्दमय आत्मा पर है; उसे क्रमबद्ध में राग आता है, उसका जाननेवाला रहता है। ज्ञानानन्द-स्वभाव की दृष्टिपूर्वक जो राग आता है, वह राग दु:खरूप लगता है, उसने क्रमबद्ध को यथार्थ माना है। आनन्द के साथ में दु:ख को मिलान-तुलना करता है कि अरे! यह राग दु:खरूप है-इस प्रकार क्रमबद्ध को माननेवाला आनन्द की दृष्टिपूर्वक राग को दु:खरूप जानता है, उसे राग की मिठास उड़ गयी है। जिसे राग में मिठास पड़ी है और पहले अज्ञान में राग को मिटाने की चिन्ता थी, वह भी क्रमबद्ध... क्रमबद्ध करके मिट गयी है, उसे तो मिथ्यात्व की पुष्टि बढ़ी है, मिथ्यात्व को तीव्र किया है। राग मेरा नहीं - ऐसा कहे और आनन्दस्वरूप की दृष्टि नहीं तो उसने तो मिथ्यात्व को बढ़ाया है। भाई! यह तो कच्चे पारे जैसा वीतराग का सूक्ष्म रहस्य है। अन्तर से पचाये तो वीतरागता की पुष्टि हो और इसका रहस्य न समझे तो मिथ्यात्व को पुष्ट करे।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

ज्ञानगोष्ठी

द्वितीय खण्ड

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हृदयोद्गार

आज तक किसी ने (जड़ या जीव ने) किंचित्मात्र भी तुझे लाभ या नुकसान किया ही नहीं। 1

❀

आज तक तूने सतत् तेरे लिए मात्र नुकसान का ही धन्धा किया है और सच्ची समझ नहीं करे, तब तक यह धन्धा चलेगा ही। 2

❀

वह नुकसान तेरी क्षणिक अवस्था में हुआ है। तेरी वस्तु में नहीं हुआ। 3

❀

आत्मा अपने ही भावों का ग्रहण करनेवाला अथवा छोड़नेवाला है; जड़ कर्म को आत्मा ग्रहण अथवा छोड़ता नहीं है; जड़ कर्म की अवस्था जड़ के कारण से होती है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है और प्रत्येक वस्तु के गुण-पर्याय दूसरी वस्तु से भिन्न हैं, इसलिए जड़ की समस्त अवस्थाओं का कर्ता जड़ वस्तु और आत्मा की अवस्थाओं का कर्ता आत्मा स्वयं ही है। 4 *(आत्मधर्म अंक 5, चैत्र 2000, टाईटल पृष्ठ 1)*

❀

स्वरूप में प्रवृत्ति और परद्रव्य में निवृत्ति, यह आत्मा का स्वभाव है। ५

(आत्मधर्म अंक 5, चैत्र 2000, टाईटल पृष्ठ 1)

❀

प्रभु! तेरी प्रभुता एक समय में ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है! एक क्षणमात्र वर्तमान अवस्था का विकार, वह भी तेरा स्वरूप नहीं है। वर्तमान में ही परिपूर्ण स्वरूप है।6 *(आत्मधर्म अंक 5, चैत्र 2000, टाईटल पृष्ठ 6)*

❀

कोई आत्मा—ज्ञानी या अज्ञानी—एक परमाणुमात्र को भी हिलाने की सामर्थ्य नहीं रखता, तो फिर देहादि की क्रिया, आत्मा के हाथ में कहाँ से होगी? ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल के अन्तर जितना महान अन्तर है और वह यह है कि अज्ञानी परद्रव्य का तथा राग-द्वेष का कर्ता होता है और ज्ञानी अपने को शुद्ध अनुभव करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता। यह कर्तृत्व छोड़ने का महापुरुषार्थ प्रत्येक जीव को करना है। यह कर्तृत्वबुद्धि ज्ञान के बिना छूटेगी नहीं, इसलिए तुम ज्ञान करो।7

(आत्मधर्म अंक 3, माघ 2000, टाईटल पृष्ठ 1)

❀

दर्शन अभेद है अर्थात् दर्शन अपने को (दर्शनगुण को) और पर को नहीं जानता। दर्शन का विषय अखण्ड द्रव्य है। एक समय में समस्त गुणों का पिण्ड जो द्रव्य है, वह दर्शन का विषय है, एक समय के दर्शन के विषय में पूरा द्रव्य है।

ज्ञान की पर्याय में दर्शन को और दर्शन के विषय को (अभेद द्रव्य को) जानने पर उसमें (ज्ञान की पर्याय में) पूरा द्रव्य और सब संयोग ज्ञात होते हैं। ज्ञान अनन्त गुणों को और अपने को जानता है, इसलिए ज्ञान का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है। ज्ञान को निश्चित करने पर उसकी एक समय की पर्याय में पूरा द्रव्य और द्रव्य के दर्शन इत्यादि अनन्त गुण आ जाते हैं, ज्ञात हो जाते हैं।8 *(आत्मधर्म अंक 6, वैशाख 2000, टाईटल पृष्ठ 2)*

❀

मेरे गुण में पर का प्रवेश नहीं, मैं मेरी भूल से अटका हूँ, मेरा स्वरूप तो सिद्ध समान ही है—ऐसी श्रद्धा के अभाव में स्वभाव में नि:सन्देहता नहीं आती। नि:शंकता के बिना स्वाधीनता प्रगट नहीं होती।9 *(आत्मधर्म अंक 10-11, भाद्रपद 2000, टाईटल पृष्ठ 168)*

❀

आत्मा के ध्यान के अतिरिक्त दूसरे सब ध्यान घोर भयानक संसार का कारण है। ध्यान-ध्येय इत्यादि के विकल्परूप तप अर्थात् कि 'मैं ध्यान करता हूँ, मैं पूर्ण शुद्ध स्वरूप हूँ, ऐसे सब विकल्प, वे कहनेमात्र सुन्दर हैं, अर्थात् वास्तव में तो उनमें कुछ माल नहीं है।' 10 *(आत्मधर्म अंक 10-11, भाद्रपद 2000, टाईटल पृष्ठ 175)*

❀

दृष्टि में ही संसार और दृष्टि में ही मोक्ष। दृष्टि की भूल में संसार; भूल टलने से मोक्ष। अखण्ड चिदानन्द एकरूप ध्रुवस्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की निर्मलदशा का कारण है। 11 *(आत्मधर्म अंक 10-11, भाद्रपद 2000, पृष्ठ 176)*

❀

भगवान

भगवान! तू अमृत कुम्भ है। उसमें स्थिर न रह सके तो भी श्रद्धा तो उसकी ही कर। उसकी श्रद्धा और प्रतीति करने से तेरा अमृतकुम्भ स्वभाव उघड़ जायेगा—तेरा आत्मा पुण्य-पाप के विकार का नाश करके क्रम-क्रम से स्वभावमूर्ति खिल जायेगा। 12

(आत्मधर्म अंक 8, आषाढ़ 2000, पृष्ठ 130)

❀

एक बार हाँ तो कह

हे जीव! हे प्रभु! तू कौन है? इसका कभी विचार किया है? तेरा स्थान कौन सा है और तेरा कार्य क्या है, इसकी भी खबर है? प्रभु! विचार तो कर तू कहाँ है और यह सब क्या है, तुझे शान्ति क्यों नहीं है?

प्रभु! तू सिद्ध है, स्वतन्त्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, किन्तु तुझे अपने स्वरूप की खबर नहीं है, इसीलिए तुझे शान्ति नहीं है। भाई! वास्तव में तू घर भूला है, मार्ग भूल गया है। दूसरे के घर को तू अपना निवास मान बैठा है किन्तु ऐसे अशान्ति का अन्त नहीं होगा।

भगवन! शान्ति तो तेरे अपने घर में ही भरी हुई है। भाई! एक बार सब ओर से अपना लक्ष्य हटाकर निज घर में तो देख। तू प्रभु है, तू सिद्ध है। प्रभु! तू अपने निज घर

में देख, पर में मत देख। पर में लक्ष्य कर-करके तो तू अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। अब तू अपने अन्तरस्वरूप की ओर तो दृष्टि डाल। एक बार तो भीतर देख। भीतर परम आनन्द का अनन्त भण्डार भरा हुआ है, उसे तनिक सम्हाल तो देख। एक बार भीतर को झाँक, तुझे अपने स्वभाव का कोई अपूर्व, परम, सहज, सुख अनुभव होगा।

अनन्त ज्ञानियों ने कहा है कि तू प्रभु है, प्रभु! तू अपने प्रभुत्व की एक बार, हाँ तो कह। 13

(आत्मधर्म अंक 10-11, भाद्रपद 2000, टाईटल 1)

❀

तुम भी भगवान हो!

बालकों! देखो भाई! मैं तुम्हें बालक नहीं मानता; भगवानस्वरूप मानता हूँ। आत्मा तो भगवानस्वरूप है। बालक आदि तो शरीर की अवस्था है और राग होता है, वह क्षणिक विकारी अवस्था है, उसके पीछे शक्ति में भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप विराजता है। अन्दर में पूर्णानन्द का नाथ भगवानस्वरूप विराजता है। उसका ध्यान करने से पर्याय में भगवान प्रगट होता है। प्राप्य की प्राप्ति होती है। ऐसे चैतन्य भगवान का स्वरूप सुनते-सुनते उसकी रुचि में सत्य के संस्कार पड़ते जाते हैं और फिर संस्कार बढ़ते-बढ़ते बाहर आयेंगे। जैसे कोरे मिट्टी के घड़े में पानी की बूँद पड़ती है, वह पहले दिखती नहीं, परन्तु अधिक पड़ते-पड़ते घड़े में पानी बाहर दिखता है, उसी प्रकार। 14

- बालकों के प्रति पूज्यश्री के उद्गार

❀

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री के प्रवचन महासागर में से चुने हुए

महासागर के मोती

आत्मा त्रिकाल परिपूर्ण है, ऐसा ख्याल जब तक न आवे, तब तक पर में एकत्वबुद्धि नहीं मिटती।

चार अघातिकर्म संयोग दे; ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय आत्मा में हीनता दे और मोहनीय आत्मा में विरुद्धता दे। इन आठों ही कर्मस्वरूप मैं नहीं, मैं तो मात्र ज्ञायक हूँ।

राग छोड़ूँ, ऐसा भाव भी शुभ है, परन्तु त्रिकाली शुद्ध आत्मस्वभाव पर दृष्टि देने से रागादि छूट जाते हैं, वह निर्जरा है। 15 *(आत्मधर्म, अंक 8, आषाढ़ 2000, टाईटल पृष्ठ 2)*

❀

निमित्त की अपेक्षा लो तो बन्ध और मोक्ष दो पहलू पड़ते हैं और उसकी अपेक्षा न लो और अकेला निरपेक्ष तत्त्व लक्ष्य में लो तो स्व-पर्याय प्रगट होती है। 16

(आत्मधर्म, अंक 9, श्रावण 2000, टाईटल पृष्ठ 4)

❀

मुफ्त में कुछ भी नहीं मिलता

वर्तमान में तुझे जो-जो संयोग मिलते हैं, उन सबकी पूर्व काल में तूने कीमत भरी है। (पूर्व में तूने ऐसे भाव किये हैं) और उसका ही बदला तुझे वर्तमान में यथायोग्य मिल रहा है। तेरी इच्छा हो या न हो, परन्तु तूने जिसकी कीमत भर दी है, उसका बदला तो तुझे मिलना ही है! मिलना है, इसलिए जो-जो संयोग मिले, उन सबको जान लेना। 17

(आत्मधर्म, अंक 7, ज्येष्ठ 2000, पृष्ठ 119)

❀

निश्चय-व्यवहार का स्वरूप

निश्चय	व्यवहार
1. यथार्थ भाव	1. अयथार्थ भाव
2. स्वाभाविक भाव	2. निमित्ताधिक भाव
3. सत्यार्थ	3. असत्यार्थ
4. त्रिकालीभाव	4. क्षणिकभाव
5. ध्रुवभाव	5. उत्पन्नध्वंसीभाव
6. त्रिकाल टिके ऐसा भाव	6. क्षणमात्र टिके ऐसा भाव
7. स्वलक्ष्यी भाव	7. परलक्ष्यी भाव
8. वास्तविक स्वरूप	8. कथनमात्र स्वरूप
9. स्व द्रव्याश्रित	9. संयोगाश्रित
10. दूसरे के भाव को दूसरे का नहीं कहता परन्तु अपने भाव को ही अपना कहता है। द्रव्य के आश्रय से होने से जीव के स्वाभाविक भाव को अवलम्बता।	10 औपाधिकभाव को अवलम्बता होने से दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है।

अब विचारो कि ऊपर जो अर्थ किये, उसमें से निश्चय आश्रय करनेयोग्य है या व्यवहार आश्रय करने योग्य है ? जो-जो आकुलता होती है, वह वह व्यवहार के आश्रय से होती है; जो-जो निराकुलता होती है, वह-वह निश्चय के आश्रय से होती है, ऐसा विचारक को लगे बिना रहेगा नहीं। 18 *(आत्मधर्म अंक 7, ज्येष्ठ 2000, पृष्ठ 117)*

❀

अविरत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है

अविरत सम्यग्दृष्टि को भी अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होते। मिथ्यात्वसहित रागादिक हों, वे ही अज्ञान के पक्ष में गिने जाते हैं। सम्यक्त्वसहित रागादिक, अज्ञान के पक्ष में नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि को निरन्तर ज्ञानमय ही परिणमन होता है। उसे चारित्र की कमजोरी से जो रागादिक होते हैं, उनका स्वामित्व उसे नहीं है। रागादिक को रोग समान जानकर वह प्रवर्तता है और अपनी शक्ति अनुसार उन्हें काटता जाता है। इसलिए ज्ञानी को जो रागादिक होते हैं, वे विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसे हैं, वे आगामी सामान्य संसार का बन्ध नहीं करते, मात्र अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध करते हैं। ऐसे अल्प बन्ध को गौण करके बन्ध गिनने में नहीं आता है। 19 *(आत्मधर्म, अंक 7, ज्येष्ठ 2000, पृष्ठ 120)*

❀

जैनधर्म

जैनधर्म किसी व्यक्ति के कथन, पुस्तक, चमत्कार और विशेष व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। वह तो सत्य का अखण्ड भण्डार, विश्व का धर्म है। अनुभव उसका आधार है, युक्तिवाद उसकी आत्मा है। उस धर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता। पदार्थों के स्वरूप का वह प्रदर्शक है। त्रिकाल अबाधित सत्यरूप है। वस्तुएँ अनादि-अनन्त हैं। उनका स्वरूप प्रकाशक तत्त्वज्ञान भी अनादि-अनन्त है। 20

(आत्मधर्म, अंक 2, पौष 2000, पृष्ठ 13)

❀

त्याग

ज्ञानमूर्ति निर्मल चैतन्यघन आनन्दस्वरूप हूँ; मेरा सुख मुझमें है, ऐसी दृष्टि के जोर में राग टाला और राग टालने पर राग के निमित्त सहज टले, वही त्याग ज्ञानगर्भित है और वही सत्य त्याग है। बाकी तो जिसे आत्मा का भान नहीं, वह तो मात्र 'इन स्त्री-पुत्र में सुख नहीं, इसलिए चलो छोड़ दें' ऐसे द्वेषभाव से त्याग करता है, वह त्यागी नहीं परन्तु अन्तर में उसे भोग की रुचि पड़ी है। 21 *(आत्मधर्म, अंक 4, फाल्गुन 2000, पृष्ठ 18)*

❀

त्याग अर्थात् क्या ?

पर का त्याग तो आत्मा को नहीं, परन्तु राग-द्वेष का त्याग, वह भी नाममात्र (कहनेमात्र) है। राग के त्याग का कर्तापना द्रव्यदृष्टि से आत्मा को नहीं है। अपने स्वभाव

में स्थिर रहते हुए राग-द्वेष सहज टल जाते हैं, वह त्याग कहा जाता है-वह भी व्यवहार है। 22 *(आत्मधर्म अंक 8, आषाढ़ 2000, पृष्ठ 132)*

❀

जैनदर्शन अर्थात्...

वस्तु अनादि-अनन्त है। धर्म, वस्तु का स्वभाव है; इसलिए धर्म अनादि है। किसी व्यक्ति ने धर्म उत्पन्न नहीं किया है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से परिपूर्ण है, उसका प्रदर्शक वह जैनधर्म; जैनधर्म अर्थात् विश्वधर्म; विश्व का स्वभाव त्रिकाली है, उसमें जो एक समयमात्र विकारी पर्याय का लक्ष्य गौण करके अखण्ड परिपूर्ण स्वभाव का दर्शन कराना, वह जैनदर्शन। एक समयमात्र का विकार, स्वरूप में नहीं है। तत्त्व का निर्णय आगमज्ञान बिना नहीं होता और आगमज्ञान, सर्वज्ञ को जाने बिना नहीं होता। प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञस्वरूप है और सर्वज्ञ हो सकता है। 23 *(आत्मधर्म, अंक 5, चैत्र 2000, पृष्ठ 5)*

❀

धर्म

कोई वस्तु और उसका स्वभाव भिन्न हो, ऐसा कभी होता नहीं अर्थात् वस्तु का स्वभाव सदा वस्तु में ही रहता है। आत्मा का स्वभाव सदा आत्मा में ही रहता है। स्वभाव ही वस्तु का धर्म होने से आत्मा स्वयं ही धर्मस्वरूप है।

अब जो वस्तु स्वयं ही धर्मस्वरूप है, उसे धर्म के लिए बाहर की सहायता की आवश्यकता कैसे रहे ? आत्मा का धर्म सदा आत्मा में ही है; किसी पर से आत्मा का धर्म नहीं है। तू चाहे जिस क्षेत्र में जा अथवा चाहे जो काल हो, तो भी तेरा धर्म तुझसे भिन्न नहीं हैं। तू स्वयं ही धर्मस्वरूप होने पर भी तुझे तेरी स्वयं की ही खबर अनादि से नहीं है, इस कारण तुझमें धर्म होने पर भी वह तुझे प्रगट अनुभव में नहीं आता और तुझे तेरे धर्मस्वरूप में शंका, वही अधर्म है, और इस कारण से ही संसार है। वह अधर्म टालने के लिए तेरे धर्मस्वभाव को पहिचान - यह एक ही उपाय है। 24

(आत्मधर्म अंक 9, श्रावण 2000, टाईटल पृष्ठ 1)

❀

सुख अर्थात् क्या ?

आत्मा का स्वास्थ्य, वही सुख। स्वास्थ्य अर्थात्—आत्मा का लक्ष्य पर में न जाना और अपने में टिके रहना, वह सुख है। सुख का लक्षण (निशानी) आकुलतारहितपना है। अपने सुखस्वरूप का भान, वही सुख है। सुखस्वरूप के भान बिना किसी काल में, किसी क्षेत्र में, किसी को भी सुख नहीं हो सकता। 25

❀

दुःख अर्थात् क्या ?

अपने में अपना सुख है, उसे भूलकर परवस्तु में अपनी सुखबुद्धि, यही दुःख है। आत्मा को अपने सुख के लिए परवस्तु की इच्छा, वही दुःख है।

आत्मा अपने दुःखरहित सुखस्वरूप को जानता नहीं, अर्थात् अपना सुख पर से (पर के आधार से) मानता है, यह मान्यता ही दुःख का कारण है। 26

(आत्मधर्म अंक 9, श्रावण 2000, पृष्ठ 154)

❀

दृष्टिभेद

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यात्वी दोनों बाहर में समान क्रिया करते हैं। दान-भक्ति आदि समान करते हैं, दोनों को शुभभाव है, तथापि अन्दर की दृष्टि में अन्तर होने से दोनों को अलग-अलग ही प्रकार के पुण्य बँधते हैं। मिथ्यादृष्टि को अन्दर पुण्य की रुचि और कर्तापना है, इसलिए उसे पापानुबन्धी पुण्य बँधता है और सम्यग्दृष्टि को अन्दर में पुण्य का निषेध वर्तता है, शुद्धभाव का ही लक्ष्य है; इसलिए उसे ऐसा उत्कृष्ट पुण्य बँधता है कि जिसके फल में सत्स्वरूप समझने का उत्कृष्ट निमित्त मिलेगा। इस प्रकार क्रिया समान होने पर भी, दृष्टि के भेद से फल में भी भेद पड़ता है। 27

[आत्मधर्म अंक 10-11, भाद्रपद 2000, पृष्ठ 171 (रात्रि चर्चा में से)]

❀

जैनशासन

1. जैनशासन अर्थात् वीतरागता।

2. अनेकान्त वह जैनशासन का आत्मा।

3. स्याद्वाद, वह जैनशासन की कथनशैली।

4. जैनशासन अर्थात् युक्ति और अनुभव का भण्डार।

5. जैनशासन अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप को सम्पूर्ण और त्रिकाल स्वाधीन (स्वतन्त्र) बतलानेवाला अनादि-अनन्त धर्म। 28

(आत्मधर्म, अंक 9, श्रावण 2000, पृष्ठ 151)

❀

जैन कौन ?

1. राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके, स्वरूप को प्राप्त करनेवाला, वह जैन।

2. जैन अर्थात् वीतरागता की मूर्ति।

3. अपने गुण के जोर द्वारा जो अवगुण को जीते / नष्ट करे, वह जैन।

4. जैन अर्थात् मोक्ष का अभिलाषी।

5. जैन अर्थात् वीतरागता का सेवक। 29

(आत्मधर्म, अंक 9, श्रावण 2000, पृष्ठ 152)

❀

अजैन कौन ?

1. अवगुण से जिसके गुण जीते जाएँ (ढँक जाएँ), वह अजैन।

2. जो राग-द्वेष को अपना मानकर रखने योग्य गिने और शरीरादि जड़ का अपने को कर्ता माने, वह अजैन।

3. अजैन अर्थात् जगत (विकार) का सेवक।

4. अजैन अर्थात् संसार में भटकने का इच्छुक। 30

(आत्मधर्म, अंक 9, श्रावण 2000, पृष्ठ 153)

❀

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

दृष्टि, निमित्त को स्वीकार नहीं करती। अपने में होनेवाले राग-द्वेष को स्वीकार नहीं करती। अरे! अपने में होनेवाली निर्मल पर्याय को भी स्वीकार नहीं करती। दृष्टि का विषय अभेद, अखण्ड एक आत्मा है; उसमें भेद पड़े, वह भेद भी दृष्टि का विषय नहीं होता परन्तु अवस्था का विषय होता है; इसलिए दृष्टि में राग-द्वेष है ही नहीं; ज्ञान में वे ज्ञेय हैं, चारित्र की अपेक्षा से वे जहर हैं। दृष्टि की अपेक्षा से, राग-द्वेष जो ज्ञानी को होते हैं, वे निर्जरा के लिए हैं। जितनी-जितनी निर्मल पर्याय ज्ञानी को बढ़े, उतने प्रमाण में नैमित्तिकभाव और परनिमित्त छूटते जाते हैं, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक भाव का सम्बन्ध है। 31

(आत्मधर्म, अंक 10-11, भाद्रपद 2000, पृष्ठ 182)

❀

अपराध अर्थात् क्या ?

यह आत्मा अनादि से संसार में भटकता है। पर में सुखबुद्धि मानता है। इस प्रकार आत्मा अपना गुनाह करता है। पर से सुख माना अर्थात् 'मुझमें सन्तोष हो, ऐसा नहीं; इसलिए पर होवे तो मुझे सन्तोष हो' ऐसा माना, वह अपना अपराध है।

आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है, उसका वीतरागीस्वभाव है, तथापि उसकी खबर नहीं; इसलिए मेरे सन्तोष के लिए मानो परपदार्थ हों तो ठीक हो, ऐसा मानता है। आत्मा 'मेरा सुख मुझमें है' ऐसा नहीं मानता, यही अपना अपराध है। 32

(आत्मधर्म, अंक 12, आसोज 2000, पृष्ठ 192)

❀

अनेकान्त क्या बतलाता है ?

1. अनेकान्त वस्तु को पर से असंग बतलाता है। 'असंगपने की स्वतन्त्र श्रद्धा, वह असंगपने की खिलावट का उपाय है, पर से पृथक्ता, वह वस्तु का धर्म है।'

2. 'अनेकान्त वस्तु को स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं'—ऐसा बतलाता है। पर-रूप से आत्मा नहीं, इसलिए आत्मा परवस्तु का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है और परवस्तु न हो, इससे आत्मा दु:खी भी नहीं है।

'तू है' है तो पररूप नहीं और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, उसे बदलने में तू समर्थ नहीं। बस! इतना निर्णय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति तेरे पास ही है।

3. अनेकान्त वस्तु को अपनेरूप से सत् बतलाता है। सत् को सामग्री की आवश्यकता नहीं, संयोग की आवश्यकता नहीं परन्तु सत् को सत् के निर्णय की आवश्यकता है कि 'सत्रूप से हूँ, पररूप से नहीं।'

4. अनेकान्त वस्तु को एक-अनेक बतलाता है। एक कहते ही अनेक की अपेक्षा आ जाती है। तू तुझमें ही एक है और तुझमें ही अनेक है; तेरे गुण-पर्याय से अनेक है, वस्तु से एक है।

5. अनेकान्त वस्तु को नित्य-अनित्य बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वयं ही (पर्याय से) अनित्य है। उसमें जिस ओर की रुचि, उस ओर का पलटा (परिणाम) होता है। नित्य वस्तु की रुचि होवे तो नित्य टिकनेवाली ऐसी वीतरागता होती है और अनित्य पर्याय की रुचि होवे तो क्षणिक, राग-द्वेष होते हैं।

6. अनेकान्त, वस्तु की स्वतन्त्रता प्रसिद्ध करता है। वस्तु पर से नहीं, और स्व से है - ऐसा कहा उसमें 'स्व की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है।' यह आ जाता है। वस्तु को पर की आवश्यकता नहीं; स्वयं से ही स्वयं स्वाधीन-परिपूर्ण है।

7. अनेकान्त प्रत्येक वस्तु में दो विरुद्ध शक्तियाँ बतलाता है। एक वस्तु में वस्तुत्व को निपजानेवाली दो विरुद्ध शक्तियाँ होकर ही तत्त्व की पूर्णता है। दो विरुद्ध शक्तियों का होना, वह वस्तु का स्वभाव है। 33 *(आत्मधर्म, अंक 10-11, भाद्रपद 2000, पृष्ठ 186)*

❀

अनादि से 'जाननेवाला मैं नहीं, परन्तु जानने में आवे, वह मैं' ऐसी विपरीत मान्यता है; इसलिए शरीर की अवस्था को अपनी होती हो, ऐसा मानता है, यह मान्यता अज्ञान ही है। 34

❀

जैनधर्म कोई वेश या वाड़ा नहीं है, परन्तु वीतराग का शासन है। वीतरागता, वही जैनधर्म है।

वीतराग के मार्ग में राग को स्थान नहीं है। फिर वह साक्षात् भगवान के प्रति हो तो भी वह राग, जैनशासन नहीं है। 35

❀

आत्मा को पहिचाने बिना छूटकारा नहीं है। वस्तु के भान बिना जाएगा कहाँ ? तेरा सुख-शान्ति, वह तेरी वस्तु में से आते हैं या बाहर से ? तू चाहे जिस क्षेत्र में जा परन्तु तू तो तुझमें ही रहनेवाला है ! तेरा सुख स्वर्ग में से नहीं आनेवाला; तू तुझसे किसी काल या किसी क्षेत्र में पृथक् पड़नेवाला नहीं है। मात्र तेरे भान के अभाव में ही तू दु:खी हो रहा है। वह दु:ख दूर करने के लिए तीनों काल के ज्ञानी एक ही उपाय बताते हैं कि 'आत्मा को पहिचानो'। 36 *(आत्मधर्म, अंक 7, ज्येष्ठ 2000, टाईटल पृष्ठ 1)*

❀

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा क्या करे ? आत्मा परभाव का कर्ता है—ऐसा मानना, वह व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान)। 37

❀

जो सुख अपने में भरा हुआ है, उसे जानता और भोगता नहीं तथा परवस्तु, कि जिसमें कभी भी अपना सुख नहीं है, उसमें से सुख भोगने की व्यर्थ मेहनत अनादि से कर रहा है। 38 *(आत्मधर्म, अंक 7, ज्येष्ठ 2000, पृष्ठ 111)*

❀

मैं चिदानन्द असंयोगी आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ, मुझे और पर को कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसा भान होने के पश्चात् स्वरूप में स्थिरतारूप पुरुषार्थ की कमजोरी में विषय -कषाय के पापभाव से बचने के लिए शुभभाव आता है, वह भी विकार है। मैं उससे रहित ज्ञातादृष्टा हूँ - यह दृष्टि हुए बिना कभी किसी को धर्म हुआ नहीं, होता नहीं और होगा नहीं। 39 *(आत्मधर्म, अंक 10-12, भाद्रपद 2000, पृष्ठ 164)*

❀

वस्तु तो वस्तुस्वभाव से जैसी है, वैसी ही त्रिकाल पड़ी है। वस्तु में पराधीनता या

बन्धन नहीं है। वस्तु स्वाधीन है, परन्तु अपनी स्वाधीनता की खबर नहीं थी; इसलिए पराधीनता मानी है, परन्तु वस्तु पराधीन नहीं है। 40

(आत्मधर्म, अंक 10-11, भाद्रपद 2000, पृष्ठ 168)

❀

समस्त संसार और संसार की ओर के झुकाववाले भाव से अब हम संकुचित होते हैं और चिदानन्द ध्रुवस्वभावी ऐसे (समयसार) में समा जाना चाहते हैं। बाह्य या अन्तर संयोग स्वप्न में भी चाहिए नहीं।

बाहर के भाव अनन्त काल किए, अब हमारा परिणमन अन्तर में ढलता है।

अप्रतिहतभाव से अन्तरस्वरूप में ढले सो ढले, अब हमारी शुद्धपरिणति को रोकने में जगत में कोई समर्थ नहीं है। 41 *(आत्मधर्म, अंक 7, ज्येष्ठ 2000, पृष्ठ 115)*

❀

विकारी या अविकारी अवस्था, वह मुझमें नहीं है; मैं तो त्रिकाली शुद्धस्वरूप हूँ, परिपूर्ण हूँ। उस पर लक्ष्य देने से मोक्ष दूर नहीं है; उससे उल्टे भाववाले को बन्धन दूर नहीं है अर्थात् वह समय-समय में बँधता है। 42

❀

पाप को पाप तो सर्व कहते हैं, परन्तु ज्ञानी पुण्य को भी पाप कहते हैं क्योंकि पुण्य और पाप दोनों बन्धनभाव है। स्वभाव को रोकनेवाले हैं। 43

(आत्मधर्म, अंक 12, आसोज 2000, पृष्ठ 200)

❀

भगवान आनन्द का नाथ चैतन्य चक्रवर्ती है परन्तु अपने को भूल गया है और भिखारी होकर पर से भीख माँगता है। पैसा लाओ! स्त्री लाओ! इज्जत लाओ! निरोगता लाओ! ऐसा भिखारी होकर माँगा करता है, परन्तु अपने ही अन्दर आनन्द भरा है, उसके सन्मुख नजर नहीं डालता; इसलिए चार गति के दु:खों को भोगता है। शुभराग और अशुभराग की वासना, वह जहर वासना है। जहाँ आनन्द का नाथ है, वहाँ नजर नहीं करता और जहाँ नहीं आनन्द, वहाँ झपट्टे मारता है। 44

❀

एक द्रव्य अन्य द्रव्य से भिन्न होने से बाहर लौटता है। शरीर को आत्मा स्पर्श नहीं करता, बिच्छु का डंक शरीर को स्पर्श नहीं करता और बिच्छु काटे, वहाँ चिल्लावे! आहाहा! शरीर आत्मा से बाहर लौटता है, वह आत्मा का क्या कर सकता है? पैर हैं, वे जमीन को स्पर्श नहीं करते और धूप हो, वहाँ पैर गरम हो जाते हैं! पानी को अग्नि स्पर्श नहीं करती और अग्नि हो, वहाँ पानी गर्म हो जाता है! जीव को कर्म स्पर्श नहीं करते और कर्म हो, वहाँ जीव को विकार होता है! आहाहा! यह द्रव्य का अपना चमत्कारिक स्वभाव है, परन्तु उपादान को देखता नहीं और निमित्त पर दृष्टि पड़ी है; इसलिए निमित्त से उपादान में कार्य होने का भ्रम हो गया है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य में प्रवेश नहीं पा सकता, बाहर ही लौटता है, वह अन्य द्रव्य का क्या करे? यह सिद्धान्त अन्दर में बैठे तो भ्रम भाग जाए और दृष्टि स्वसन्मुख हो जाए। 45

❀

मैं दूसरे जीवों को मार सकता हूँ, जिला सकता हूँ, दूसरे जीवों को खाने की सुविधा देकर सुखी कर सकता हूँ अथवा दूसरे जीवों को दुविधा देकर दु:खी कर सकता हूँ, यह मान्यता महा पापदृष्टि की है। मैं एक तिनके के दो टुकड़े कर सकता हूँ, हाथ की अँगुली हिला सकता हूँ, वाणी बोल सकता हूँ, रोटी के टुकड़े कर सकता हूँ - ऐसे परद्रव्य की क्रिया का कर्ता मैं हूँ—ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। ऐसे जीव, त्रैलोक्य में कोई बाकी नहीं, ऐसे समस्त पदार्थों को मैं कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता से मिथ्यात्वरूप महापाप को बाँधते हैं, क्योंकि अज्ञान में जगत की कोई भी वस्तु को वह अपनी माने बिना नहीं रहता। 46

❀

आत्मा, परद्रव्य को तो स्पर्श नहीं करता, राग को भी स्पर्श नहीं करता, परन्तु यहाँ अलिंगग्रहण के 19 वें बोल में तो कहते हैं कि आत्मद्रव्य अपनी निर्मल पर्याय को भी स्पर्श नहीं करता—निर्मल पर्याय में द्रव्य नहीं आता। द्रव्य सामान्य है, वह विशेषरूप पर्याय में नहीं आता-स्पर्श नहीं करता। द्रव्य-वस्तु है, वह पर्याय को नहीं करती, पर्याय को स्पर्श नहीं करती और पर्याय है, वह द्रव्य में नहीं है, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। पर्याय का लक्ष्य

करने जाने से राग उत्पन्न होगा और द्रव्य का लक्ष्य करने से राग टूटकर निर्विकल्पता होगी। अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में आयेगा। भाई! तेरी निर्मल पर्याय हो, उसे भी द्रव्य स्पर्श नहीं करता। आहाहा! द्रव्य और पर्याय दोनों की ऐसी स्वतन्त्रता बतलाते हैं। पर्याय क्षणिक है, वह ध्रुवद्रव्य को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अलौकिक बातें हैं। द्रव्य है, वह पर्याय को द्रवता है-उत्पन्न करता है, यह भी अपेक्षा से कथन है। दूसरे द्रव्य से पर्याय नहीं होती, ऐसा बतलाने को कहा है, परन्तु यहाँ तो अध्यात्म की एकदम सूक्ष्म बात करते हैं कि द्रव्य है वह पर्याय का दाता नहीं है। ध्रुव अस्तित्व और क्षणिक अस्तित्व दो को भिन्न बतलाते हैं। 47

❀

पर्याय में अशुद्धता होने पर भी, द्रव्यस्वभाव तो तीनों काल शुद्ध ही है। आर्त और रौद्रध्यान के क्रूर परिणाम, वे सब पर्याय में हैं; उसी क्षण त्रिकाली द्रव्य तो शुद्ध ही है। निगोद के जीव को महारौद्रध्यान के तीव्र मलिन परिणाम हैं, परन्तु वह पर्याय में हैं, उसका द्रव्य तो उस समय भी शुद्ध ही है। संसार के परिणाम, वे पर्याय में हैं। त्रिकाली शुद्ध भगवान है, वह पर्याय में कभी आता ही नहीं। ऐसे त्रिकाली भगवान पर दृष्टि करने से पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। 48

❀

दो नय परस्पर विरोधी हैं, यदि वे एक हों तो दो नय रहते नहीं। व्यवहारनय नहीं है, ऐसा नहीं है, परन्तु व्यवहार से लाभ होवे तो निश्चयनय रहता नहीं। पानी गर्म होता है, उसमें अग्नि निमित्त नहीं है, ऐसा नहीं है परन्तु निमित्त से उपादान में कार्य होवे तो उपादान रहता नहीं। निश्चय के साथ व्यवहार होता नहीं, ऐसा नहीं है, परन्तु व्यवहार से निश्चय होवे तो निश्चय नहीं रहता। उपादान के कार्यकाल में निमित्त होता है, परन्तु निमित्त से उपादान में कार्य नहीं होता—ऐसी वस्तु की स्थिति है। 49

❀

प्रभु! तेरे और राग के बीच सांध है, भेद है। राग और आत्मा दोनों एक नहीं हैं परन्तु सदा ही भिन्न है। पत्थर की खान में ऊपर-नीचे के पत्थर के बीच सूक्ष्म रग (सन्धि) होती

है। आहाहा! देखो तो सही, कुदरत के नियम में इस अखण्ड पत्थर के बीच सांध को-रग को करने कौन गया था? परन्तु सहज ही ऊपर नीचे के दो भाग के बीच सूक्ष्म सन्धि होती है। वहाँ बारूद भरकर सुरंग फोड़ने से दो भाग भिन्न पड़ जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ आत्मा और राग के बीच सांध है, दरार है, दो भाग है। दया, दान, व्रतादि शुभराग दु:खरूप हैं और भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। ये दोनों भिन्नस्वरूप होने से ज्ञानरूपी छैनी मारने से आत्मा और राग दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। आत्मा, वह सुखरूप है और राग, वह दु:खरूप है; दोनों के स्वरूप भिन्न हैं, भाव से भी दोनों भिन्न होने से दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं; इसलिए वस्तु भिन्न है। आहाहा! ऐसी बातें वीतराग केवली, श्रुतकेवली कितनी स्पष्टता करते होंगे! अहो! इस काल में यहाँ भगवान का विरह पड़ा। 50

❀

सम्यग्दृष्टि कर्तृत्वनय से राग-द्वेष, आर्त-रौद्रध्यान का तथा व्रतादि के परिणाम का कर्ता है। राग-द्वेष का परिणमन अपने में होता है; इसलिए उसका कर्ता है, ऐसा कर्तृत्वनय से जानता है और उसी समय उसी रागादि परिणाम का अकर्तृत्वनय से साक्षी है। दृष्टि की अपेक्षा से तो रागादि के परिणाम अल्प हैं, उन्हें गौण करके केवल साक्षी ही है, ऐसा कहा है परन्तु राग का परिणमन अपने में है। सर्वथा नहीं है, ऐसा नहीं है; इसलिए साधक श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा कर्तृत्वधर्म और अकर्तृत्वधर्म दोनों को जैसा है, वैसा जानता है। भोक्तृत्वनय से साधक जीव सुख-दु:ख के परिणाम का भोगनेवाला है। जैसे रोगी रोग को भोगता है, वैसे सम्यग्दृष्टि हर्ष-शोक के परिणाम को भोगनेवाला है और उसी समय उन्ही सुख-दु:ख, हर्ष-शोक के परिणाम का अभोक्तृत्वनय से साक्षी है। जैसे वैद्य रोगी के रोग का साक्षी है, भोगनेवाला नहीं; उसी प्रकार साधक जीव भोक्तृत्वनय से सुख-दु:ख के परिणाम को भोगता है और अभोक्तृत्वनय से उसी परिणाम का उसी समय साक्षी है। इन दोनों धर्म का धारक आत्मद्रव्य है, ऐसा साधक जीव श्रुतज्ञान प्रमाण से जानता है। 51

❀

मिथ्यादृष्टि जीव, विकार का कर्ता पुद्गलकर्म आदि निमित्त है, ऐसा मानता है। उसे कहते हैं कि विकार का कर्ता पुद्गलकर्म नहीं, परन्तु अज्ञानी जीव स्वयं ही विकार

का कर्ता है। दूसरी ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव, विकार का कर्ता नहीं है परन्तु पुद्गलकर्म उसका कर्ता है। वहाँ सम्यग्दृष्टि विकार का स्वामी न होने से और विकार, पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से पुद्गलकर्म को उसका कर्ता कहा है और ऐसा भी कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विकार का कर्ता भी है। वहाँ विकार का परिणमन है, वह अपना है, इसलिए पर्याय के दोष का ज्ञान कराने के लिए कहा है और कोई शास्त्र में ऐसा भी आता है कि विकार, वह जीव का अकेले का कार्य नहीं परन्तु जीव और कर्म दोनों इकट्ठे मिलकर विकार हुआ है, जैसे पुत्र की उत्पत्ति वह माता-पिता दोनों का कार्य है। वहाँ ऐसा कहना है कि विकार जीव का है परन्तु वह कर्म के लक्ष्य से हुआ है - ऐसा उपादान-निमित्त का प्रमाणज्ञान कराने का कथन है। जहाँ जिस अपेक्षा से कहा हो, वहाँ वैसा समझना चाहिए। 52

❀

आत्मा के भान बिना बहुत शास्त्र पढ़े, व्रतादि पाले, द्रव्य चारित्र अंगीकार करता है तो भी उसे मोक्ष नहीं होता। जैसे सामान्यजन—ईश्वर कर्तृत्ववाले तापस आदि का मोक्ष नहीं होता, उसी प्रकार भले यह छह काय के जीवों की रक्षा करता हो, तो भी आत्मा के भान बिना गृहीत मिथ्यादृष्टि की भाँति पर का और राग का कर्तृत्व मानता होने से मोक्ष को प्राप्त नहीं करता। आहाहा! अन्तर्दृष्टि का तत्त्व बहुत अलौकिक है। अध्यात्म के अन्तर की बातें कठिन पड़ें ऐसी है, परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है। 53

❀

स्वद्रव्य का ग्राहक शीघ्रता से हो! श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि भाई! तेरे द्रव्य में अनन्त आनन्द का खजाना भरा है, उस माल का ग्राहक त्वरा से अर्थात् शीघ्रता से हो! जैसे मेहमान घर आये हों और कोई खाने-पीने की वस्तु लाने के लिए लड़के को बाहर भेजे, तब उसका पिता कहता है कि शीघ्र आना, जल्दी आना, दौड़कर आना। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि भाई! तेरे अन्दर आनन्द भरा है, उसका ग्राहक त्वरा से अर्थात् शीघ्रता से हो! उतावला होकर आनन्द को ले, प्रमाद करना नहीं, कल करूँगा—ऐसा वायदा करना नहीं, परन्तु दौड़कर, उतावला होकर तेरे आनन्द को ग्रहण करना, भोगना - ऐसा कहते हैं। सत्रह

वर्ष की उम्र में ऐसा कहा है। उनका क्षयोपशम बहुत था। उस समय उनके जैसा दूसरा कोई नहीं था। 54

❀

मैं पूर्णानन्द का नाथ ज्ञायक प्रभु हूँ। ऐसे ज्ञायक के लक्ष्य से जीव सुनता है, उसे सुनते हुए भी लक्ष्य ज्ञायक का रहता है। उसे चिन्तवन में भी मैं परिपूर्ण ज्ञायक वस्तु हूँ, ऐसा जोर रहता है, उस जीव को सम्यक्त्व-सन्मुखता रहती है। मन्थन में भी लक्ष्य ज्ञायक का रहता है। वह चैतन्यभाव परिपूर्ण वस्तु है, ऐसा उसके जोर में रहता है, उसे भले अभी सम्यग्दर्शन न हुआ हो, जितना कारण देना चाहिए, उतना कारण न दे सके तो भी उस जीव को सम्यक्त्व की सन्मुखता होती है। उस जीव को अन्दर ऐसी लगनी लगती है कि मैं जगत का साक्षी हूँ, ज्ञायक हूँ, ऐसे दृढ़ संस्कार पाड़े कि जो संस्कार बदले नहीं। जैसे सम्यग्दर्शन होने पर अप्रतिहत भाव कहा है; उसी प्रकार सम्यक्त्व सन्मुखता के ऐसे दृढ़ संस्कार पड़े कि उसे सम्यग्दर्शन होगा ही होगा। जैसे समयसार, गाथा 4 में कहा है कि मिथ्यात्व का एकछत्र राज्य चलता है, वैसे ज्ञायक का एकछत्र लक्ष्य आना चाहिए। उपयोग ज्ञान में—एक में न टिके तो द्रव्य-गुण-पर्याय आदि विचार में बदले, उपयोग को बारीक करे, उपयोग को सूक्ष्म करते-करते ज्ञायक के जोर से आगे बढ़े, वह जीव क्रम से सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। 55

❀

ज्ञायकभाव है, वह शुभाशुभभावरूप हुआ ही नहीं। शुभाशुभभाव, वे तो अचेतन हैं, जड़ हैं, उनरूप होवे तो ज्ञायकभाव जड़ हो जाए। आत्मा चैतन्य ज्ञायकभावरूप होने से शुभाशुभभावरूप नहीं होता; इसलिए अप्रमत्त-प्रमत्त के भेद वे ज्ञायकभाव में नहीं हैं। ज्ञायकभाव तो एकरसरूप चैतन्यरसरूप ही रहा है, शुभाशुभभाव के अचेतनरसरूप हुआ ही नहीं। ज्ञायकभाव चैतन्य के पूर का ध्रुव प्रवाह है, वही दृष्टि का विषय है। उसमें पुण्य-पाप के भाव हैं ही नहीं, अप्रमत्त-प्रमत्त गुणस्थान के भेद या पर्यायभेद उसमें नहीं है परन्तु वह तुझे ज्ञात कब हो ? - कि तू परद्रव्य के भाव से भिन्न पड़कर ज्ञायकभाव-सन्मुख हो, तब शुद्धता का अनुभव होता है, तब यह आत्मा शुद्ध ज्ञायक ही है—ऐसा वास्तव में जाना

है। तेरी पर्याय में चैतन्य ज्ञायकभाव का आदर हो, सेवा हो, सम्मान हो, चमत्कारिकता लगे, अधिकता आवे; तब परद्रव्य का सत्कार, सम्मान, आदर, चमत्कारिकता छूट जाए, तब यह आत्मा शुद्ध ज्ञायक ही है—ऐसा जानने में आता है। 56

❀

अपने को केवलज्ञान प्रगट करना, वह तो जीव का स्वभाव है। वह नहीं हो सकता, ऐसा मत मान! केवलज्ञान प्रगट करना कठिन पड़ता है, ऐसा मत मान! जीव को परमाणु बनाना हो तो वह नहीं हो सकता, अरे! राग को कायम रखना हो तो वह कायम नहीं रह सकता, परन्तु शुद्धता प्रगट करना, वह तो जीव का स्वभाव है। वह क्यों नहीं हो सकेगा? वह क्यों कठिन पड़ेगा? जीव में स्थिर होना-शुद्धता प्रगट करना, वह तो जीव का स्वभाव होने से हो सकता है; इसलिए नहीं हो सकता, ऐसी मान्यता का शल्य छोड़ दे।

अहो! आत्मा सर्वज्ञस्वभावी ही है। जानना.. जानना.. जानना.. ही जिसके अन्त:स्तल में भरा है, जिसके अस्तित्व की सत्ता में यह देह, वाणी, मन, विकल्प आदि सब ज्ञात होते हैं, वह जाननेवाला तू है, ऐसा जान - विश्वास कर और कर्ताबुद्धि छोड़ दे।

ज्ञानी विषयों में प्रवर्तता है, परन्तु उसे विषयों का रस उड़ गया है। विषयों में प्रवर्तन हो जाए, तथापि दूसरे क्षण ध्यान में बैठकर आनन्द का स्वाद ले, ऐसी जगह रखकर राग में प्रवर्तता है। ज्ञानी का अन्तर-हृदय पहिचानना बहुत कठिन है, भाई!

अहो! यह आत्मा अलौकिक चैतन्यचन्द्र है। उसका अवलोकन करते हुए मुनियों को पर से वैराग्य उछल जाता है। पर से उदास.. उदास.. हो जाते हैं। जिन्हें आत्मा का अवलोकन नहीं और बाहर से स्त्री-पुत्र-घर आदि छोड़े तो भी उन्हें पर से वास्तविक वैराग्य नहीं कहा जाता। आत्मा का अवलोकन करनेवाले धर्मी जीव आत्मा में रक्त हैं और पर से विरक्त हैं। ज्ञान-वैराग्य शक्तिसहित हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हैं, वे भी अन्दर में तो पर से विरक्त हैं, परन्तु अभी उन्हें थोड़ी आसक्ति है, इसलिए उन्हें बारम्बार निर्विकल्पता नहीं होती और मुनियों को तो आसक्ति छूट गयी है, इसलिए बारम्बार अन्दर निर्विकल्प अनुभव में जाते हैं। चैतन्य के अमृत का पान करने बारम्बार अनुभव में जाते हैं। चैतन्य को निहारते हुए अघाते नहीं हैं, थकते ही नहीं है। उपयोग बारम्बार अन्दर में जम जाता है। 57

❀

एक गाँव से दूसरे गाँव जाना हो, तो भी पाथेय साथ में लेकर जाते हैं, तो दूसरे भव में जाने के लिए कुछ पाथेय होगा या नहीं ? श्रद्धा-ज्ञान का पाथेय साथ लेकर जाना चाहिए। स्त्री के सामने देखे तो पाप, पुत्र के सामने देखे तो पाप, पैसे के सामने देखे तो पाप, पर के सामने देखने पर सर्वत्र पाप.. पाप.. और ...पाप है। कहाँ इसे जाना है ? राग और मैं एक हूँ—ऐसा मिथ्यात्व का पाथेय लेकर जाना है ? राग से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप मैं हूँ—ऐसा पाथेय साथ लेकर जाये तो आगे बढ़ने में इसे काम आयेगा। अन्दर में असंख्य प्रदेश में गहरे-गहरे तल में-ध्रुव में पर्याय को ले जाना है। यह तो धीर का-वीर का काम है।

जैसे एक सिंह दहाड़ मारे, वहाँ बकरों के झुण्ड भाग जाते हैं; उसी प्रकार भगवान पूर्णानन्द का नाथ जहाँ अन्दर से जागकर गर्जना करता है, वहाँ विकल्परूप बन्दरों के झुण्ड भागें और अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट हो, ऐसा तू महान है।

आहाहा ! आठ-आठ वर्ष के राजकुमारों को वैराग्य हो जाने पर, स्वरूप की उग्र साधना करने के लिए वन में जाने को माता से आज्ञा माँगते हैं कि हे माता ! इस दु:खमय संसार से अब हम छूटना चाहते हैं, हमें इन राजपाट के भोग में कहीं चैन नहीं पड़ता, इसलिए स्वरूप की साधना करने के लिए वन में जाने की-दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान करो ! अब फिर से संसार में हमें आना नहीं है और दूसरी माता को रूलाना नहीं है, इसलिए हे माता ! आज्ञा दे ! आहाहा ! वे राजकुमार हीरों के पलंग और रेशम के गद्दों पर सोनेवाले, मणिरत्न के पुतले जैसे जिनके शरीर हैं। जिन्होंने कभी सर्दी-गर्मी और काँटे-कंकर देखे नहीं, ऐसे बालक अन्दर की साधना साधने के लिए उग्र पुरुषार्थ से वन में चल निकलते हैं, धन्य वह दशा ! धन्य वह अवतार !!

भगवान आत्मा है, वह इस जगत में सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। अनन्त ऋद्धि का धनी है। उसके जैसी जगत में दूसरी कोई उत्कृष्ट चीज़ नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द आदि गुण से भरपूर कसवाली वस्तु है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता कर तो अतीन्द्रिय आनन्द की नदियाँ बहेंगी, अतीन्द्रिय आनन्द की लहरें उछलेंगी और अल्प काल में मोक्ष प्राप्त होगा। 58

❀

अरे भाई! तुझमें ऋद्धि की क्या कमी है कि पर के सामने ताकता है? तेरे सामने अनन्त ऋद्धिवाला प्रभु विराजमान है, उसके सामने नजर डालता नहीं और पर के सन्मुख नजर डालकर पुण्य-पाप के दु:ख का अनुभव करता है! दया, दान, भक्ति आदि के शुभव्यवहार में विस्मयता करता है, वह विस्मयता छोड़कर तेरे सामने विस्मयकारी चैतन्य विराजमान है, उसके सन्मुख देख। तेरी प्रभुता की विस्मयता करके उसमें स्थिर हो। तेरे उस आनन्द के बाग में विहार कर, अन्य द्रव्य में विहार न कर।

प्रश्न:—स्वयं ही भगवान होने पर भी हाथ में क्यों नहीं आता?

उत्तर:—स्वयं भगवानस्वरूप है, उसकी महिमा आनी चाहिए, वह नहीं आती। बाहर की महिमा में रुक जाता है; शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादि अनुकूल सामग्री मिली हो, उसकी महिमा में रुक जाता है; इससे जरा आगे जाये तो शुभव्यवहार के अनेक प्रकारों में महिमा करके रुक जाता है; थोड़ा उघाड़ हो जाये और बोलना आता हो तो उसकी महिमा में रुक जाता है और अपने भगवान की महिमा करना भूल जाता है, इसलिए भगवान हाथ नहीं आता।

धर्मी जीव कर्मजनित सामग्री से अतिविरक्तरूप से परिणमता है। शुभराग हो या अशुभराग हो, वह सब कर्मजनित सामग्री है। उससे अतिविरक्तरूप से धर्मी परिणमता है। भले कदाचित् चक्रवर्ती के राजपाट और भोग सामग्री हो, परन्तु अन्दर में उसकी रुचि नहीं जमती, उससे अतिविरक्त है। बनिये को लाभ हो वैसा माल ले, नुकसान जाता हो, वैसा माल नहीं लेता; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अन्दर में लाभ हो-अतीन्द्रिय आनन्द मिले, वह माल लेता है, नुकसान हो-दु:ख हो, वैसा माल नहीं लेता। इसलिए सम्यग्दृष्टि को बाह्य सामग्री में रुचि नहीं होती, विरक्ति रहती है। 59

❀

शरीर के एक-एक रोम में ९६-९६ रोग हैं, यह शरीर क्षण में दगा देगा, क्षण में छूट जायेगा; कुछ सुविधा हो, वहाँ घुस जाता है, परन्तु भाई! तुझे कहीं जाना है, वहाँ किसका मेहमान होगा? कौन तेरा परिचित होगा? उसका विचार करके तेरा तो कुछ कर ले! शरीर अच्छा हो, वहाँ तक आँख खुलती नहीं और क्षण में देह छूटने पर अनजाने स्थान में चला

जायेगा! छोटी-छोटी उम्र के भी चले जाते हैं, इसलिए तेरा कुछ कर ले! शास्त्र में कहा है कि जब तक वृद्धावस्था न आवे, शरीर में व्याधि जब तक न आवे और इन्द्रियाँ जब तक शिथिल न पड़े, तब तक आत्महित कर लेना।

शास्त्र में आता है कि भगवान की भक्ति से जन्मावली का नाश होता है, दूसरी ओर कहते हैं कि परद्रव्य के लक्ष्य से दुर्गति होती है। एक ओर कहते हैं कि जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यग्दर्शन होता है, दूसरी ओर कहते हैं कि निज आत्मदर्शन से ही सम्यग्दर्शन होता है। ज्ञान की पर्याय परसन्मुख का लक्ष्य छोड़कर अन्दर स्वसन्मुख झुकने पर जाननहार.. जाननहार की ओर पर्याय झुकती है, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। भगवान की भक्ति से जन्मावली नष्ट होती है और सम्यग्दर्शन होता है, ये व्यवहार के वचन हैं, उन्हें ही जो पकड़ता है, वह जीव व्यवहार को भी नहीं समझता, इसलिए भगवान उसे मूढ़ कहते हैं।

प्रश्नः—परद्रव्य आत्मा को कुछ नहीं करता तो अरिहन्त भगवान आयुष्यकर्म के कारण संसार में रहे हैं न?

उत्तरः—परद्रव्य आत्मा को रोकता नहीं है। अरिहन्त भगवान संसार में रहे हैं, वह स्वयं की पर्याय की योग्यता से रहे हैं, असिद्धत्व पर्याय की योग्यता से संसार में रहे हैं, आयुकर्म तो निमित्तमात्र है।60

❀

एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, कोई पदार्थ अन्य पदार्थ का कुछ कर ही नहीं सकता। ऐसे वस्तुस्वभाव के नियम को जो नहीं जानते वे बेचारे हैं, रंक हैं, भले वे बड़े राजा हों या स्वर्ग का देव हो। ज्ञान और आनन्द, वह वस्तु का स्वभाव है, सम्पत्ति है, उसे नहीं जाननेवाले सब 'वरांका' है अर्थात् कि रंक है-भिखारी है-बेचारा है। अपनी सम्पदा से अज्ञात जीव के पुरुषार्थ का तेज अज्ञान में डूब गया होने से वह मिथ्यादृष्टि है।61

❀

व्यवहारज्ञान में शब्दश्रुत निमित्त है, व्यवहारश्रद्धान में नव पदार्थ निमित्त हैं और व्यवहारचारित्र में छह जीवनीकाय निमित्त है। व्यवहारज्ञान-श्रद्धा-चारित्र का शुभराग है,

वह आत्मा द्वारा होना अशक्य है। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, यह बात ही समयसार की गाथा २७६-२७७ में सिद्ध होती है। व्यवहार किया हुआ है, इस बात का निषेध होता है, क्योंकि व्यवहार ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र के राग द्वारा आत्मा का परिणमित होना अशक्य है। वह राग पुद्गल द्वारा रचित है, आत्मा द्वारा रचित नहीं है। 62

❀

जिज्ञासु को पहले ऐसा निर्णय होता है कि मैं मोक्ष प्राप्त करने योग्य ही हूँ। शंका को स्थान नहीं होता। आयुष्य बँध गया होगा तो! ऐसी शंका को स्थान नहीं होता। आत्मा के लिए ढीली-पतली बात नहीं करना। अनन्त गुणों से गुंथित स्वयं है, उसे देखना, तू ही देवाधिदेव है, ऐसा लेना। 63

❀

एक-एक परिणमन स्वतन्त्र सीधा नहीं होताा परन्तु अनन्त गुणमय द्रव्य का परिणमन होने पर साथ-साथ गुणों का परिणमन होता है। एक-एक गुण पर दृष्टि देने से गुण नहीं परिणमता परन्तु द्रव्य पर दृष्टि देने से अनन्त गुण का निर्मल परिणमन होता है - ऐसा कहकर गुणभेद की दृष्टि छोड़कर अनन्त गुणमय द्रव्य पर दृष्टि करने से द्रव्य शुद्धरूप परिणमता है, ऐसा कहा है।

ध्रुव को ध्यान में ले! पर्याय का सेठ ध्रुव को बना! शुद्धपर्याय क्षण-क्षण में नाश होने पर भी ध्रुवपनेमय अपादान शक्ति के कारण से ऐसी की ऐसी उत्पन्न हुआ ही करती है। उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव का नाश होने पर भी निर्मल भाव-पर्याय नाश नहीं होती परन्तु ध्रुवपनेमय अपादान शक्ति के कारण से सदा ऐसी की ऐसी हुआ ही करती है। दूसरे प्रकार से कहें तो ध्रुव पर दृष्टि पड़ने से जो निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई है, वह अपादान शक्ति के कारण से सदा ऐसी की ऐसी रहती है, नाश को प्राप्त नहीं होती। क्षणिक पर्याय नाश होने पर भी ध्रुव उपादान शक्ति के कारण से दूसरी निर्मल पर्याय तैयार ही है, इसलिए कभी नाश नहीं होती, ऐसा कहा है। 64

❀

अज्ञानी विषयों को नहीं भोगता परन्तु उसके परिणाम में होनेवाले राग-द्वेष को

भोगता है तथा ज्ञानी स्वद्रव्य को नहीं भोगता परन्तु उसके परिणाम में वर्तती शुद्धता को भोगता है। अज्ञानी का लक्ष्य परद्रव्य के ऊपर है, इसलिए उसके लक्ष्य से होनेवाले राग -द्वेष को भोगता है। ज्ञानी का लक्ष्य स्वद्रव्य के ऊपर है, इसलिए उसके लक्ष्य से होनेवाली शुद्धता को भोगता है। 65

❀

जिसे आत्मा का भान नहीं, ऐसे अज्ञानी जीवों को आत्मा रात्रि-समान अन्धकाररूप लगता है, इसलिए आत्मा में अजागृत रहते हैं, सोते हैं और जिन्हें आत्मा का भान है, उन ज्ञानियों को आत्मा दिवस-समान प्रकाशरूप लगता है, इसलिए वे आत्मा में जागृत रहते हैं। अज्ञानी जीवों को देह, मन, वाणी, स्त्री, पुत्र, धनादि दिवस-समान प्रकाशरूप लगते हैं, इसलिए वे उनमें जागृत अर्थात् सावधान रहते हैं और ज्ञानियों को देह, मन, वाणी, स्त्री, पुत्र, धनादि रात्रि समान अन्धकाररूप लगते हैं, इसलिए वे उनमें अजागृत अर्थात् सोते हैं। 66

❀

पुण्य-पाप के प्रेम में पड़े हुए मिथ्यादृष्टि जीव मोहरूपी मदिरा द्वारा असाध्यदशा में पड़े हैं। देह, वह मैं; राग, वह मैं, पुण्य, वह मैं; ऐसे उन्होंने अपने आत्मा के अस्तित्व को नास्तित्व माना है, सत्य को असत्य मानकर सत्य को आड़ दी है। इसलिए इसके फल में दूसरे जीव उनकी अस्ति न मान सकें, ऐसी निगोददशा का फल पानेवाले हैं। आहा! जिसने शुभाशुभभाव में भेद किया, शुभाशुभ के बन्धन में भेद किया, शुभाशुभ के फल में भेद किया, उसने सत्यस्वरूप आत्मा को आड़ दी है और जिसने पुण्य-पाप के भेद को एकरूप, बन्धनरूप, दु:खरूप मानकर चैतन्य ज्योति आत्मा का आश्रय लेकर अज्ञान अन्धकार का नाश किया है, वह केवलज्ञान को प्रगट करता है। 67

❀

शास्त्र-पठन का गुण तो यह है कि वस्तुभूत आत्मा का ज्ञान करना। ज्ञानमय आत्मा का अनुभव करना, वह शास्त्र-पठन का गुण है, उसे तो जानता नहीं और अकेले शास्त्र पढ़ता है परन्तु निज परमात्मा को जानता नहीं, तब तक कर्मबन्धन से छूटता नहीं। दया,

दान, व्रत, तप आदि शुभराग का तो निषेध किया, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि मात्र शास्त्र पठन में ही रुक गया, बहुत कण्ठस्थ, परन्तु उससे क्या ? 68

❀

अहो ! चारों ओर से सत्य की भनकर बजती है। सर्वज्ञ के शास्त्र, सर्वज्ञ के सन्त –उन्होंने सर्वज्ञ का सत्य सिद्ध किया है। आहा ! चारों अनुयोगों में निश्चय से तो वीतराग की पुष्टि की है। चारों अनुयोग का तात्पर्य भी वीतरागता ही है। सत्य को चारों ओर से उठाओ, सत्य ही सिद्ध होता है। सर्वज्ञ से उठाओ, क्रमबद्ध के सिद्धान्त से उठाओ, सब ओर से सत्य ही सिद्ध होता है। 69

❀

इस सत्य के संस्कारवाला जीव कदाचित् तिर्यंच में जाता है तो वहाँ भी देव–गुरु–शास्त्र के निमित्त बिना भी सम्यक्त्व पाता है। तत्त्वविचार की महिमा करते हुए श्री टोडरमलजी ने यह बात कही है कि तत्त्वविचारवाला दया, दान आदि की क्रिया बिना भी तत्त्वविचार के बल से सम्यक्त्व प्राप्त करता है। 70

❀

तीन लोक के नाथ जिनवरदेव ने जो अध्यात्म शास्त्र कहे हैं, उनमें मिथ्यादृष्टि का प्रथम तो प्रवेश ही नहीं है अथवा प्रवेश करता है तो भी विपरीत समझता है। वह जीव व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है अथवा निश्चय को भलीभाँति समझे बिना व्यवहार की क्रियाओं से ही मोक्ष मानता है। प्रथम तो शुभभाव का ही ठिकाना नहीं होता और कदाचित् शुभभाव में आवे तो शुभभाव से ही मोक्ष मानता है। परमार्थस्वरूप भगवान आत्मा के विषय में मूढ़ रहता है। 71

❀

आत्मा शुद्धचैतन्यमूर्ति है, उसे रागवाला मानने से कहीं चैतन्यतत्त्व का नाश नहीं हो जाता। जैसे करोड़पति के लिए कोई दिवालिया निकालने का कहे, या उसके घर की दीवार पर लिखे, इससे कहीं उसकी पूँजी चली नहीं जाती। इसी प्रकार आत्मा को विकल्पवाला मानने से शुद्धचैतन्यमूर्ति आत्मा का नाश नहीं हो जाता। भूल एक समय की

है और भगवान तो त्रिकाल आनन्दस्वरूप ही है। 72

❀

योगसार में कहा है कि पुण्य को पुण्य तो सब जानते हैं परन्तु अनुभवी ज्ञानी पुण्यतत्त्व को भी पापतत्त्व जानते हैं। जयसेन आचार्य ने भी समयसार में पापतत्त्व के अधिकार में व्यवहाररत्नत्रय को पाप कहा है क्योंकि शुभराग है, वह स्वरूप से पतित करता है; इसलिए पुण्य को पाप कहा है तथा व्यवहार प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है। श्री समयसार की गाथा 31 में इन्द्रिय, विषय और क्षयोपशमज्ञान को भी इन्द्रिय कहा है। पद्मनन्दि आचार्य ने शास्त्र में रमती हुई बुद्धि को व्यभिचारिणी कहा है। मूल निश्चय की बात जगत ने सुनी नहीं है। निश्चय की कथनी अन्तर्मुख ले जाने के लिए है। स्त्री की ओर देखना या प्रतिमा की ओर देखना, ये दोनों परविषय होने से उनकी ओर लक्ष्य जाने से राग ही होता है। निजशुद्धात्मा के सन्मुख देखना, वही वीतरागता का कारण होने से स्वसन्मुख झुकने के लिए पर का लक्ष्य छुड़ाया है। 73

❀

शुद्धचैतन्य के आस्रवरूप निश्चयदृष्टि हुए बिना व्यवहार कहना किसे ? निश्चयदृष्टि होवे, उसे ही व्यवहार सच्चा होता है परन्तु व्यवहार होवे तो निश्चय प्रगट होता है, ऐसा है ही नहीं। पहले कषाय की थोड़ी मन्दता, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्व का ज्ञान, इतना पहले हुआ हो तो उसे अन्तर्मुख होने का अवकाश होता है, परन्तु ऐसा होवे तो निश्चय प्रगट होता ही है, ऐसा नहीं है। 74

❀

विकार होने का कारण कर्म और परद्रव्य तो नहीं परन्तु अपना द्रव्य भी वास्तव में कारण नहीं है। उस समय की पर्याय का कारण पर्याय स्वयं ही है। पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमित हुई है। उत्पाद पर्याय, उत्पाद से है; व्यय उसका कारण नहीं है और ध्रुवद्रव्य भी उसका कारण नहीं है। सत्‌रूप पर्याय है, वह अहेतुक सत् है। यह बात बहुत सूक्ष्म है, समझनेयोग्य है। प्रवचनसार, गाथा 101 में आता है कि उत्पाद, उत्पाद के आश्रय से है; व्यय, व्यय के आश्रय से है; ध्रुव, ध्रुव के आश्रय से है। उत्पाद की ध्रुव में नास्ति

है; ध्रुव की उत्पाद-व्यय में नास्ति है। सत् स्वतन्त्र है। एक सत् की दूसरे सत् में नास्ति है। पर्याय इस प्रकार से स्वतन्त्र होती है, ऐसे देखनेवाले का लक्ष्य कहाँ जाता है ? कि द्रव्य के अन्दर जाता है कि अहो! मेरा द्रव्य ऐसा सामर्थ्यवाला है-ऐसे सत् के निर्णय से दृष्टि द्रव्य पर जाती है, वह यह स्वतन्त्रता समझने का प्रयोजन है। 75

❀

श्रद्धा-ज्ञान में तो हाँ पाड़ कि यह ज्ञानस्वरूप चैतन्य, वही मैं हूँ। जिसकी रुचि आत्मा में जमी है, ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, ऐसा रुचि में बैठा है, वह काम करके आगे बढ़ जाएगा और जिसे यह परमसत्य नहीं बैठे, वे पीछे पड़े रहेंगे। आत्मा समझने के लिए कितनी तो इसे राग की मन्दता होनी चाहिए। राग की तीव्रता में तो आत्मा समझने में आता नहीं, इसलिए राग की मन्दता को व्यवहार कहा जाता है।

प्रश्नः—तिर्यंच भी सम्यग्दर्शन पा जाता है तो उसे इतना अभ्यास होता है ?

उत्तरः—तिर्यंच भी ऐसे परमात्मस्वरूप को पा जाते हैं। ढाई द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यंच हैं। हाथी, सिंह, भालू, सर्प, मच्छ इत्यादि पशु हैं। उन्होंने पूर्व में ज्ञानी से सुना हुआ होता है, उसके संस्कार से आत्मभान कर लेते हैं। कितने ही मगरमच्छ जिनप्रतिमा - आकार के होते हैं, उसे देखकर पूर्व संस्कार याद आने पर मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसा भान होने पर अन्तर्मुख हो जाते हैं। 76

❀

वास्तव में तो सूर्य का प्रकाश पूरी पृथ्वी पर पड़ता है, तथापि सूर्य और पृथ्वी एक नहीं होते; इसी प्रकार ये जगत की भिन्न-भिन्न चीज़ें ज्ञेय है, उन्हें ज्ञान जानने का ही काम करता है। ज्ञान में सब ज्ञात हुआ ही करता है, तथापि वह ज्ञान और ज्ञेय एक नहीं होते; भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। समयसार में कलई और दीवार का दृष्टान्त देकर जगत के पदार्थों को ज्ञान जानने पर भी, ज्ञान और ज्ञेय एक होते ही नहीं—ऐसा कहा गया है। 77

❀

धर्मात्मा के हृदय में परमात्मा तीर्थंकरदेव विराजते हैं। धर्मात्मा के भावश्रुतज्ञान में तीर्थंकरदेव का वास है; इसलिए उनकी वाणी जो निकलती है, वह परमात्मा की ही वाणी

है। अहा! जिसके ज्ञान में तीन लोक के नाथ तीर्थंकर का वास है, वह धर्मात्मा है, सम्यग्दृष्टि महात्मा है। 78

❀

अहा! सभी जीव वीतरागमूर्ति हैं। जैसे हैं, वैसे होओ। दूसरे को मारना तो कहीं रह गया, दूसरे का तिरस्कार करना, वह भी कहीं रह गया, परन्तु सभी जीव सुखी हों, हमारी निन्दा करके भी सुखी हों; हम जैसे हैं, वैसा जानकर भी सुखी हों; चाहे जैसे भी सुखी हों! प्रभु का प्रेम ला भाई! तुझे प्रभु होना है न! 79

❀

यदि कोई अर्ध निमेषमात्र परमात्मा में प्रीति करे; स्वसन्मुखता करे तो जैसे अग्नि का कण काष्ठ के बड़े पहाड़ को भी भस्म कर डालता है; उसी प्रकार सब पापों का नाश कर डाले, ऐसा महान सामर्थ्यवान परमात्मा है। तीन लोक का नाथ परमात्मा स्वयं ही शक्ति में है, उसे इनलार्ज करके प्रगट परमात्मा होता है। 80

❀

द्रव्यस्वभाव कर्मबन्धन में निमित्त नहीं है और द्रव्यस्वभाव की दृष्टिवन्त भी कर्मबन्धन में निमित्त नहीं होता। योग और उपयोग नये कर्मबन्धन में निमित्त होता है। योग और उपयोग अर्थात् राग और योग के कम्पन का अज्ञानी स्वामी होता है, कर्ता होता है; इसलिए अज्ञानी कर्मबन्धन होने में निमित्तकर्ता होता है। ज्ञानी योग-उपयोग का स्वामी-कर्ता नहीं होता होने से कर्मबन्धन में निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं होता। 81

❀

ज्ञानी को अपनी ऋद्धि-सिद्धि और वृद्धि अपने में ही दिखायी देती है। ज्ञानी ने अपना परमात्मस्वरूप दृष्टि में देखा है, वही वास्तविक ऋद्धि है; अपना परमानन्दस्वरूप अपने में देखा, वही वास्तविक सिद्धि है; अपना मतिज्ञान प्रत्यक्ष आत्मा को जानकर वीर्य का उछाला मारता हुआ केवलज्ञान को पुकार करके बुलाता है - शक्ति में केवलज्ञान पड़ा है, उसे बाहर (पर्याय में) बुलाता है। अज्ञानी को धन, कुटुम्ब, वैभव आदि में ऋद्धि-

सिद्धि दिखायी देती है, इससे वह संसार की वृद्धि करता है और दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य जीवन निरर्थक गँवाता है। 82

❀

जैसे लोह चुम्बक लोहखण्ड की सुई को खींचता है, आकर्षित करता है, उसी प्रकार अज्ञानी को रूपवान कोमल शरीर, धन, कुटुम्ब, वैभव आदि में मिथ्याबुद्धि से आकर्षण होता है। श्मशान में हड्डियों में से आग की चमक चमकती है, वैसे अज्ञानी को अनुकूल विषयों में चमक दिखने से आकर्षित होता है। भाई! तेरे चैतन्यस्वभाव में आनन्द भरा है, उसमें आकर्षण नहीं; इसलिए तुझे बाहर का आकर्षण हुआ है। 83

❀

आत्मा में परिणमन में षट्कारक स्वतन्त्र है, विकार हो या अविकारी हो, स्वतन्त्र परिणमता है। विकार को तो पर की अपेक्षा नहीं है। अविकारी परिणमन को भी पर की अपेक्षा नहीं है। अरे! अपने द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है। एक पर्याय की स्वतन्त्रता जँचे नहीं, उसे त्रिकाली वस्तु की स्वतन्त्रता नहीं जँच सकती। पर्याय को निमित्त की अपेक्षा नहीं। अपने द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं। अरे! एक पर्याय के साथ दूसरे अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें परिणमित होती है, उसकी भी अपेक्षा बिना पर्याय अपने षट्कारक की स्वतन्त्रता से परिणमित होता है। सम्यग्दर्शन की पर्याय को अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय की भी अपेक्षा नहीं है। ऐसी पर्याय की स्वतन्त्रता के स्वीकार बिना त्रिकाली द्रव्य का स्वीकार नहीं हो सकता। जैसे-जैसे गुरु सूक्ष्म स्पष्टीकरण करते हैं, वैसे-वैसे शिष्य को आनन्द उछलता है। 84

❀

अज्ञानियों को जन्मार्णव में दु:खी देखकर ज्ञानी को अनुकम्पा का शुभराग आ जाता है अथवा तीव्र रागज्वर मिटाने के लिए ज्ञानी को शुभराग आ जाता है अथवा अस्थान का राग मिटाने को ज्ञानी को शुभराग आ जाता है परन्तु उस राग को ज्ञानी हेयरूप जानता है, दु:खरूप जानता है। 85

❀

पैसेवाले की हम जो बात करते हैं, वह तो दूसरे पैसेवाले का मान उतारने के लिए करते हैं। बाकी उसमें कुछ दम नहीं है। करोड़पति और अरबपति सब भिखारी है। 86

❀

निश्चय से व्यवहार अभूतार्थ होने से व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है; व्यवहार है अवश्य परन्तु उसके आश्रय से धर्म नहीं होता। पर्याय, पर्याय में है; राग-द्वेष पर्याय में है; गुण भेद भी है अवश्य। यदि उस पर्याय को ही वर्णन न किया जाए तो तीर्थ और तीर्थफल की प्रवृत्ति भी नहीं रहती; इसलिए व्यवहार है, वैसा दर्शाना न्यायसंगत है। 87

❀

सच्चे श्रवण आदि का योग हो, धारणा-जाननपना हो, विकल्प से निर्णय किया हो परन्तु जिसका पर्याय का घोलन द्रव्य पर नहीं जाता, वह स्वरूप की लक्ष्मीरहित होने से रंक है-भिखारी है। भले व्यवहार से देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो, तथापि स्वरूप का आश्रय नहीं लेता, शरण नहीं लेता, अपनी निधि को नहीं सम्हालता; इसलिए उसे रंक पुरुष कहा है। 88

❀

प्रभाकरभट्ट प्रश्न करता है कि हे स्वामिन! जिस ज्ञान से एक क्षण में आत्मा जानने में आवे, उस परम ज्ञान का मुझे प्रकाश करो। पूजा, भक्ति, तीर्थयात्रा व्यवहाररत्नत्रय आदि के शुभरागरूप विकल्प जाल से क्या फायदा है ? यह सब तो अनादि काल से अनन्त बार मैंने किया है, परन्तु उससे आत्म-आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई। इसलिए हे श्रीगुरु! जिससे क्षणमात्र में आनन्द की प्राप्ति हो, ऐसे परमज्ञान का कृपा करके मुझे प्रकाश करो। आत्मा की आनन्द लक्ष्मी क्या है, वह मुझे कृपा करके बताओ!

श्री योगीन्द्रदेव निज शुद्धात्मा की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि निज शुद्धात्मा के ध्यान से क्षण में (अन्तर्मुहूर्त में) मोक्ष होता है। सोलह तीर्थंकरों को जब केवलज्ञान होता है, तब कितने ही जीव आत्मज्ञान पाकर श्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्राप्त करके तुरन्त मोक्ष में गये हैं, शुद्धात्मा के ध्यान की ऐसी अपार महिमा है। देहदेवल में विराजमान परमात्मा को तू स्वसंवेदन से जान-अनुभव कर। जिसने वीतरागी स्वसंवेदन ज्ञान से अपने

शुद्धात्मा को जाना है, उसने सब जान लिया है। 89

❀

हे जीव! तू ही तेरा तीर्थ है, वहाँ आरूढ़ हो, दूसरे तीर्थ में न जा! ...न जा... व्यवहार निषेध्य है न! इसलिए यहाँ योगीन्द्रदेव स्पष्ट करते हैं कि सम्मेदशिखर आदि तीर्थ हैं, वे पर तीर्थ हैं, वहाँ न जा! उनके लक्ष्य से तुझे शुभराग होगा। तू तेरे परम तीर्थस्वरूप आत्मा में आरूढ़ हो, उससे तुझे निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होगा। दूसरे गुरु की सेवा न कर, उनके लक्ष्य से तुझे राग होगा। तू तेरे परमार्थ गुरु की सेवा कर, उससे तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी। देव की सेवा न कर। दूसरे देव, अरिहन्त सिद्ध का ध्यान न कर। भाई! उनके लक्ष्य से शुभविकल्प होगा और पुण्यबन्धन होगा। तू तेरे आत्मदेव का ध्यान कर, जिससे तुझे आनन्द के नाथ की भेंट होगी। तू तेरे परम देव-गुरु और तीर्थ के समीप जा। ऐसा कहकर राग के कारणभूत व्यवहार देव-गुरु-तीर्थ का लक्ष्य छुड़ाकर आनन्द के कारणभूत परमार्थ देव-गुरु-तीर्थ का लक्ष्य कराया है। 90

❀

अहो! आचार्यदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि हे जीव! तू तीर्थ में जाना नहीं, गुरु की सेवा करना नहीं, देव की सेवा करना नहीं। यहाँ शुभ छोड़कर अशुभ में जाने को नहीं कहा है परन्तु शुभ की रुचि छुड़ायी है। निचली अवस्था में शुभ नहीं छूटता परन्तु शुभ की रुचि छुड़ायी है। 91

❀

वस्तुस्वभाव को उल्लास और महिमापूर्वक विचारते-विचारते वह जहाँ ज्ञानस्वभाव के गहरे माहात्म्य में जाता है, वहाँ उसे आत्मा का अनुभव होता है। 92

❀

देह-धन-कुटुम्ब-इज्जत आदि के कोलाहल में रुका है, उसकी तो क्या बात! परन्तु जो शुभ के कोलाहल में रुक गया है, उसे आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! इस शुभ के कोलाहल से भी विरक्त हो और छह महीने निश्चल होकर आत्मा का अभ्यास कर। ध्रुव शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द के सन्मुख एकाग्रता का अभ्यास कर, तो अवश्य आत्मप्राप्ति

होगी ही।93

❀

आत्मा चेतनागुण द्वारा अन्तरंग में प्रकाशमान है, ऐसा स्वानुभव से जानने पर भेदज्ञान के बल से समस्त झगड़े नाश को प्राप्त होते हैं। पुण्य से लाभ होता है, निमित्त से लाभ होता है, व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त होता है, ऐसे समस्त झगड़े भेदज्ञान होने पर नाश को प्राप्त होते हैं। भेदज्ञान होने पर धर्मी जीव को ख्याल आ जाता है कि अन्य के आलम्बन बिना सीधा ही मुझसे आत्मा ज्ञात होता है, अन्य किसी से ज्ञात नहीं होता। भगवान से या दिव्यध्वनि से आत्मा ज्ञात होता है, इत्यादि व्यवहार कथनों को परमार्थ मानकर झगड़े उठते थे, वे सब स्वानुभव से नाश को प्राप्त हो जाते हैं।94

❀

पर्याय को स्वीकार कर पर्याय का लक्ष्य छोड़ दे और द्रव्य को स्वीकार कर द्रव्य का विकल्प भी छोड़ दे। पर्याय ऐसी है और द्रव्य ऐसा है, ऐसे शास्त्र के जानपने को भी भूल जा। पर्याय ऐसी है और द्रव्य ऐसा है, ऐसे जानपने के विकल्प दु:खरूप है, यह जानकर तुझे करना क्या है ? - कि आत्मा का अनुभव कर, वह इसका सार है। द्रव्य ऐसा है और पर्याय ऐसी है, ऐसी अकेली बातें करने की बात नहीं है। द्रव्य का आश्रय करे, तब द्रव्य-पर्याय का सच्चा ज्ञान होगा।95

❀

परमात्मप्रकाश में कहते हैं कि हे योगी! परमार्थ से जीव उपजता नहीं और परमार्थ से जीव मरता भी नहीं तथा बन्ध-मोक्ष को करता भी नहीं, ऐसा तीर्थंकर परमात्मा ने गणधरदेवों को कहा है। ऐसी वस्तुस्वभाव की दृष्टि में ही पुरुषार्थ की शुरुआत होती है।

प्रश्न:—कारणशुद्धपर्याय लक्ष्य में न आयी हो और कारणशुद्धस्वभाव पर लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन हो सकता है ?

उत्तर:—हाँ, कारणपरमात्मा का लक्ष्य करने से कारणशुद्धपर्याय अन्दर में आ जाती है। तिर्यंच को तो ऐसा ज्ञान होता नहीं तो भी आनन्दस्वरूप में एकाग्र होने पर कारणस्वभाव का आश्रय आ जाता है, तिर्यंच को तो विपरीत शल्य होते नहीं; इसलिए

अविपरीत विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं होती।96

❀

पर्यायदृष्टिवाला जीव दया, दान, पूजा, भक्ति, यात्रा, प्रभावना आदि अनेक प्रकार के शुभभावों का कर्ता होकर, दूसरे की अपेक्षा स्वयं को कुछ अधिक है, ऐसा अहंकार करता हुआ मिथ्यात्वभाव को दृढ़ करता है और निश्चयस्वरूप मोक्षमार्ग को लेशमात्र भी नहीं जानता।97 *(नियमसार कलश-32)*

❀

पहले विकल्पसहित पक्का निर्णय तो करे कि राग से नहीं, निमित्त से नहीं, खण्ड-खण्ड ज्ञान से नहीं, गुण-गुणी के भेद से भी आत्मा ज्ञात नहीं होता, ऐसा पहले निर्णय का पक्का स्तम्भ तो डाले! इसीलिए पर की ओर का वीर्य तो वहीं रुक जाता है। भले स्वसन्मुख ढलना अभी बाकी है... विकल्पवाले निर्णय में भी मैं विकल्पवाला नहीं, ऐसा तो पहले दृढ़ करे! निर्णय पक्का होने पर राग लंगड़ा हो जाता है, राग का जोर टूट जाता है, विकल्पसहित के निर्णय में स्थूल विपरीतता और स्थूल कर्तृत्व छूट जाता है और फिर अन्दर स्वानुभव में जाने पर निर्णय सम्यक्रूप से होता है।98

❀

स्वभाव और राग के साथ अज्ञानी ने गाँठ बाँधी है, उस गाँठ को एक क्षण भी वह तोड़े तो राग से पृथक् परमात्मा उसके हाथ में-अनुभव में आता है। विकल्प और निर्विकल्पता के बीच में उसने ताला लगाया है। उसे एक बार खोले तो निर्विकल्प परमात्मा उसके अनुभव में आता है।99

❀

एक बार अन्दर में नजर कर कि मैं भी सिद्ध की भाँति अशरीरी हूँ, शरीर को स्पर्श ही नहीं करता, अभी ही शरीर से भिन्न हूँ। ऐसी श्रद्धा नहीं करे तो जब शरीर से पृथक् पड़ेगा, तब उसकी लार शरीर में ही लम्बायेगी।100

❀

प्रत्येक द्रव्य के परिणाम हैं, वे कर्म हैं और वे कर्मरूप परिणाम, परिणामी द्रव्य के

आश्रय बिना नहीं होते, तथा उन परिणामरूप अवस्था की एकरूप स्थिति नहीं रहती, परिणाम का ही ऐसा सहजस्वभाव है कि वह एकरूप न रहकर भिन्न-भिन्न अवस्थारूप होता है। परिणाम की एकरूप स्थिति नहीं रहती; इसलिए निमित्त आवे, वैसी अवस्था होती है, यह बात मिथ्या है। वस्तु के परिणाम का ही स्वरूप ऐसा है कि उसकी एकरूप स्थिति-अवस्था नहीं रहती। अग्नि आयी; इसलिए पानी गर्म हुआ है, ऐसा देखनेवाले की संयोगीदृष्टि है। वास्तव में पानी की स्थिति एकरूप नहीं रहती; इसलिए पानी अपनी ही शीतल अवस्था बदलकर गर्म रूप हुआ है; अग्नि के कारण गर्म नहीं हुआ है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के परिणाम की एकरूप स्थिति न रहना, वह उसका अपना स्वभाव है। 101

❀

बाहर के समस्त कार्यों में मर्यादा होती है। शुभ-अशुभभाव हैं, उनकी मर्यादा है, सीमा है; अमर्यादित तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वभावी आत्मा है। जो मर्यादित है, उससे विमुख हुआ जा सकता है। मिथ्यात्व, रागादि मर्यादित है; इसलिए उनसे पराङ्मुख होकर वापस हटा जा सकता है। यदि विभाव मर्यादित न होवे तो जीव उनसे कभी विमुख हो ही नहीं सकता। ज्ञानादि बेहद स्वभाव है तो उससे जीव विमुख नहीं होता परन्तु रागादि मर्यादित है, अल्पकालीन है, उनसे जीव विमुख हो सकता है। 102

❀

एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ बिल्कुल भासित नहीं होता। ज्ञान, ज्ञेय को जानता है, वह तो ज्ञान की जानने की स्वच्छता का सामर्थ्य है, तथापि ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से जगत आकुलित होता है। ज्ञान में बिच्छु का डंक-काटना भासित हो, वहाँ बिच्छु मुझे काटा है, ऐसा मानकर दु:खी होता है। ज्ञान, राग को जानने पर रागमय रूप से अपने को मानकर आकुलित होता है। ज्ञान, राग को और अन्य द्रव्यों को छूता-स्पर्शता नहीं है। ज्ञान, ज्ञेय को जानता है, वह तो ज्ञान की स्वच्छता का सामर्थ्य है। 103

❀

सम्यग्दर्शन होने पर नि:शंकता तो पहले धड़ाके आती है, स्वानुभव प्रत्यक्ष होने पर

अब केवलज्ञान होगा ही, ऐसी नि:शंकता आ जाती है। सम्यग्दृष्टि का नि:शंक एक अंग है न! महाप्रभु चैतन्य को श्रद्धा में स्वीकार किया, ज्ञान में स्वीकार किया, उसे केवलज्ञान होगा ही होगा। मतिज्ञान हुआ, वह केवलज्ञान को बुलाता है कि आओ.. भाई.. आओ.. तू प्रगट हो, मैं तुझे बुलाता हूँ। अस्थिरता छोड़ दे, वैसे जोर करता है। सुन करके पावर प्रस्फुटित हो, ऐसी बात है। कायर का कलेजा काँपे और वीर्यवान को पुरुषार्थ प्रस्फुटित हो ऐसी बात है। 104

❀

भगवान कहते हैं कि सभी आत्माएँ भगवानस्वरूप हैं, ऐसा देख! पर्याय को न देख! ये सभी आत्मा भगवानस्वरूप कब दिखते हैं? – कि स्वयं अपने को भगवानस्वरूप देखे–अनुभव करे, तब दूसरी आत्माएँ भी भगवानस्वरूप दिखती हैं। 105

❀

जल और कादव जिस काल में एकरूप से मिले हुए दिखते हैं, उसी काल में जल के स्वभाव से अनुभव किया जाए तो कादव जल से भिन्न है, ऐसा ज्ञात होता है; इसी प्रकार संसार अवस्था में भावकर्म—द्रव्यकर्म, जीव से एकरूप दिखायी देते हैं, तथापि उसी अवस्था में, उसी काल में जीव के स्वभाव से अनुभव किया जाए तो भावकर्म–द्रव्यकर्म से भिन्न जीवस्वरूप अनुभव में आता है और उस जीवस्वरूप को अनुभव करने पर जो सम्यक् प्रतीति होती है, वह प्रतीति गणधर जैसी है। 106

❀

आचार्यदेव ने अमृत के घूँट पीते–पीते इन शक्तियों का वर्णन किया है। एक बार मध्यस्थ होकर ऐसी शक्तियों का वर्णन सुने तो बड़ा मानधाता होवे तो भी ढीला पड़ जाए, ऐसी बात इन शक्तियों में भरी है। समयसार में 47 शक्ति का वर्णन किया है। उसमें दृष्टि प्रधान कथन होने से निर्मलपर्यायसहित के द्रव्य–गुण को आत्मा गिना है; राग को आत्मा का गिना ही नहीं। जबकि प्रवचनसार में 47 नयों का वर्णन है, वह ज्ञानप्रधान कथन होने से साधक को वर्तता हुआ राग, वह भी अपना परिणमन है, ऐसा ज्ञानी जानता है, ऐसा कहा है। उपादान निमित्त के दोहे भी सैंतालीस हैं और ज्ञानावरण–दर्शनावरण–मोहनीय–अन्तराय

इन चार घातिकर्म की प्रकृतियाँ भी सैंतालीस हैं, इन सैंतालीस प्रकृतियों का नाश, सैंतालीस शक्ति के (शक्तिभूत द्रव्य के) आश्रय से होता है। 107

❀

आत्मा सुखसागर आनन्दकन्द ज्ञायकस्वरूप है, उस ज्ञानमात्र भाव में क्रम-अक्रमरूप अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। उनमें एक जीवत्व नाम की शक्ति है कि जिसके कारण से जीव सदा टिक रहा है। दस प्राण जड़रूप हैं, उनके आधार से जीव जीता नहीं और एक समय की पर्याय की योग्यतारूप विकारी भावप्राण, वह भी जीव का स्वरूप नहीं है, उसके आधार से जीव जीता-टिकता नहीं है, परन्तु जीवत्वशक्तिरूप गुण है, उसके आधार से जीव सदा काल जीता है-टिकता है। उस जीवत्वशक्ति के धारक द्रव्य पर दृष्टि करने से जीवत्वशक्ति का निर्मल परिणमन होता है। वह जीवत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय में व्याप्त है। जैसे समुद्र में बाढ़ आने पर पानी की लहरें उछाला मारती हैं; उसी प्रकार जीवत्वशक्ति पर दृष्टि पड़ने से पर्याय में निर्मल आनन्द उछाला मारता हुआ प्रगट होता है। वस्तु ज्ञानमात्र है, उसमें जीवत्वशक्ति की दृष्टि होने पर आनन्द, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनन्त गुण की निर्मल पर्यायें उछलती हैं -प्रगट होती हैं। जीवत्वशक्ति अनन्त शक्ति में व्यापक है, जीवत्वशक्ति का रूप अनन्त शक्ति में है। एक-एक शक्ति अनन्त शक्ति में व्याप्त है। एक-एक शक्ति का अनन्त शक्ति में रूप है परन्तु एक शक्ति दूसरी शक्ति का लक्षण नहीं है। क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती का पिण्ड द्रव्य है। क्रमवर्ती वह पर्याय है और अक्रमवर्ती गुण-शक्ति है। क्रमवर्ती में निर्मल पर्याय ही आती है, क्योंकि शक्ति शुद्ध है, उसका परिणमन भी शुद्ध निर्मल ही उसमें आता है। विकारी परिणमन को-पर्याय को यहाँ आत्मा की गिनने में नहीं आता है। 108

❀

आत्मा में एक प्रभुत्वशक्ति ऐसी है कि जिसका अखण्ड प्रताप कोई खण्डन नहीं कर सकता, ऐसी स्वतन्त्रता से शोभायमान है-ऐसी प्रभुत्वशक्ति का लक्ष्य करने से - दृष्टि करने से पर्याय भी अखण्ड प्रताप से शोभायमान हो जाती है कि जिसकी प्रभुता के प्रताप को कोई खण्डन नहीं कर सकता। व्यवहार से, राग से या निमित्त से आत्मा का शोभायमानपना

नहीं है क्योंकि उसमें तो पराधीनता आती है; इसलिए उसमें आत्मा की शोभा नहीं है। आहाहा! इन शक्तियों के वर्णन में इतनी गम्भीरता भरी है कि उसमें से बाहर निकलना सुहाता नहीं–ऐसे गहरे भाव आचार्यदेव ने भरे हैं। यह प्रभुत्वशक्ति सत् है, सत्व है, कश है, वह द्रव्य–गुण–पर्याय में व्याप्त है। पर्याय में प्रभुत्वशक्ति होने पर भी पर्याय आगे–पीछे या उल्टी–सीधी नहीं हो सकती परन्तु क्रमबद्ध होती है। आत्मा में उत्पाद–व्यय–ध्रुव नाम की एक शक्ति है, उसके कारण पर्याय क्रमरूप उत्पन्न होती है, जो पर्याय जिस क्रम से उत्पन्न होनेवाली है, उसी क्रम से उत्पन्न होती है। 109

❀

भगवान आत्मा अनन्त–अनन्त ज्ञान–दर्शन आदि गुणलक्ष्मी से भरपूर है। उसके अस्तित्व की–उसकी मौजूदगी की स्वीकृति नहीं, विश्वास नहीं और जिसमें स्वयं नहीं है, ऐसे अल्पज्ञता और राग में अपनी अस्ति मानना, मौजूदगी मानना, वही अज्ञान है और वही बन्ध का कारण है। अपने सर्वज्ञ–सर्वदर्शी स्वभाव का स्वीकार नहीं और राग के एक अंश का स्वीकार, वह अज्ञान ही बन्ध का कारण है। दूसरा जानपना नहीं किया; इसलिए अज्ञान है, ऐसा नहीं कहा परन्तु अपने सर्वज्ञ–सर्वदर्शी स्वभाव को नहीं जाना, वही अज्ञान और बन्ध का कारण है, ऐसा कहा है। 110

❀

मार्ग में संघ लुटने पर मार्ग लुटा, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में मार्ग लुटता नहीं। मार्ग तो है, वही है; इसी प्रकार मार्गणास्थान, जीवस्थान, गुणस्थान एक समय की पर्यायमात्र जीव में हैं, उन्हें जीव कहना, वह व्यवहारमात्र है। वास्तव में ध्रुववस्तु तो अनादि–अनन्त एकरूप चैतन्यपिण्ड वस्तु है। उसमें एक समय की पर्यायरूप योग्यता कहाँ है ? एक समय की पर्याय को द्रव्य स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! त्रिकाली द्रव्य है, वह तो भव्य का और अभव्य का जो है, वही है। वस्तु तो जो है, वही है। भव्य या अभव्य आदि सब पर्याय के भेद वस्तु में नहीं है। 111

❀

भगवान! तू अकारणकार्यशक्तिवाला है। तू, अकारणकार्यशक्ति पर दृष्टि पड़ने पर

अकारणकार्यपना पर्याय में प्रगट हुआ; इसलिए पर्याय में भी अकर्ता हुआ। आहाहा! तू ज्ञातादृष्टा प्रभु है। होवे, उसे जाननेवाला है; होवे, उसका जाननेवाला है। राग हो, उस काल में ज्ञान उसे जानता हुआ परिणमित होता है। जाननहार.. जाननहार.. जाननहार ही है। 112

❀

जीव जिनवर है और जिनवर जीव है—ऐसी दृष्टि हो, उसे पर्यायबुद्धि छूट जाती है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए कितने ही गढ़ उल्लंघकर अन्दर जाया जाता है। व्यवहार में कितने ही प्रकार की योग्यता हो, संसारभाव जरा भी रुचे नहीं, आत्मा.. आत्म.. की धुन लगे, तब सम्यग्दर्शन होता है। 113

❀

निर्विकल्प होनेवाला जीव, निर्विकल्प होने से पहले ऐसा निर्णय करता है कि मैं रागादिभाव से सदा ही परिणमनेवाला नहीं हूँ परन्तु ज्ञान-दर्शनरूप परिणमनेवाला हूँ। अभी रागादिभाव होंगे, ऐसा जानता है, तथापि उनके स्वामीपने मैं होनेवाला नहीं हूँ; मैं भविष्य में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होंगे, ऐसा मेरा प्रयत्न है, तथापि उस समय राग होगा, परन्तु उसरूप मैं परिणमित होनेवाला नहीं हूँ, ऐसा निर्णय है। निर्णय करता है पर्याय में, पश्चात् अनुभव होगा पर्याय में, परन्तु वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं तो चिन्मात्र अखण्ड ज्योतिस्वरूप हूँ, पर्यायरूप नहीं। 114

❀

आत्मा और राग को भिन्न पाड़ने का साधन, ज्ञान की दशा-भगवतीप्रज्ञा ही है। शुभराग का व्यवहार, वह साधन नहीं परन्तु उस शुभराग से भिन्न पड़ने में भगवतीप्रज्ञा ज्ञानपर्याय साधन है। जो ज्ञानपर्याय, स्वभाव में ढलती है; वह पर्याय, राग से भिन्न पड़ने का साधन है। जैसे पत्थर के बीच सांध होती है, उसमें बारूद भरकर तोड़ने से ऊपर नीचे के दो पत्थर भिन्न पड़ जाते हैं; इसी प्रकार राग और ज्ञान ये दोनों भिन्न हैं, उन्हें प्रज्ञारूपी छैनी मारने से भिन्न किया जाता है। ज्ञान, वह आनन्दस्वरूप है और राग, दु:खरूप है; इस प्रकार दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण पहिचानकर प्रज्ञा द्वारा भिन्न किया जाता है। 115

❀

आत्मा के आनन्द में मस्त मुनिवर जंगल में बैठे हों और सिंह-बाघ आकर काटे, तब समता रखते हैं कि अरे! मैं कर्म की उदीरणा करके उदय में लाकर कर्म का नाश करना चाहता था, वहाँ कर्म सहज उदय में आता है, इसलिए मुझे बड़ा लाभ है। मुझे शरीर चाहिए नहीं और सिंह-बाघ को शरीर चाहिए है तो ले जा। तू मेरा मित्र है, तुझे चाहिए और मुझे चाहिए नहीं, तो ले जा, भाई! 116

❀

कोई कठोर प्रतिकूलता आ पड़े, कोई कठोर मर्म छेदक वचन कहे तो शीघ्र देह में स्थित परमानन्दस्वरूप परमात्मा का ध्यान करके देह का लक्ष्य छोड़ देना। समताभाव करना। 117

❀

अरे भाई! राग का करना और भोगना, वह तो अनन्त बार किया है। भावपरावर्तन में शुभराग अनन्त बार किया है। शुभराग के साथ एकत्वबुद्धि रखकर नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया परन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व भासित नहीं हुआ। राग से भिन्न आत्मा का एकत्व सदाकाल अन्तर में प्रकाशमान है परन्तु राग की एकता से उसकी दृष्टि में ढँक गया है; इसलिए दिखायी नहीं देता। राग है, वह मैं हूँ और शुभराग से मुझे लाभ होता है, यह मान्यता ही आत्मा का अत्यन्त बुरा करनेवाली है। विसंवाद खड़ा करनेवाली है, आत्मा का बुरा करनेवाली है; इसलिए शुभराग से भिन्न आत्मा का एकत्व आचार्यदेव ने समयसार, गाथा -4 में समझाया है। 118

❀

श्री पद्मनन्दी आचार्य, ब्रह्मचर्य की महिमा करके कहते हैं कि अरे युवकों! तुम्हें मेरी बात न रुचे तो मैं मुनि हूँ, ऐसा जानकर माफ करना। इसी प्रकार यह तत्त्व की परम सत्य बात हम कहते हैं, बन्धन से छूटने के कारणभूत परम अध्यात्मतत्त्व की बात कहते हैं, तथापि किसी को अनादि के आग्रहवश न रुचे तो हमें माफ करना। भाई! हम तो मोक्ष के मार्ग में हैं, इसलिए हम दूसरा क्या कहेंगे! तुझे न रुचे और दु:ख हो तो माफ करना, भाई! 119

❀

तीर्थंकरगोत्र का बन्ध होता है, वह अपराधरूप भाव है। अपराध, उपादेय कैसे होगा ? और अपराध द्वारा मोक्षमार्ग कैसे होगा ? आत्मा अकेला आनन्दस्वरूप अमृत है। उसमें से आनन्दामृत का स्वाद आवे, वह मोक्षमार्ग है। शुभराग, वह तो चैतन्य से विपरीत स्वरूप होने से जहर का स्वाद है, आकुलता का स्वाद आता है, वह मोक्षमार्ग का कारण कैसे होगा ? 120

❀

पूरे सिद्धान्त का सार में सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होना ही है। श्रीमद् ने कहा है न! 'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार, अन्तर्मुख अवलोकते, विलय होत नहीं वार।' ज्ञानी के एक वचन में अनन्त गम्भीरता भरी है। अहो! भाग्यशाली होगा, उसे यह तत्त्व का रस आयेगा और तत्त्व के संस्कार गहरे उतरेंगे। 121

❀

समयसार, गाथा-45 में आठ कर्म के फल को दु:खरूप कहा है, साता के फल को भी दु:खरूप कहा है। यह तो जिसे चार गति के दु:ख लगे हों, उसके लिए यह बात है। प्रतिकूलता से दु:ख लगे, वह नहीं। जिसे स्वर्ग भी दु:खरूप लगता है, उसके लिए यह आत्महित की बात है। 122

❀

सर्प काटा हो, उसे नीम कड़वा होने पर भी मीठा लगता है; उसी प्रकार मिथ्यात्व का जहर चढ़ा हुआ है, उसे परद्रव्य में मिठास लगती है। मिथ्यात्व का जहर उतरने पर सम्यग्दृष्टि को परद्रव्य की मिठास उड़ जाती है, भले अभी आसक्ति न छूटी हो परन्तु पर में से सुखबुद्धि उड़ गयी है। 123

❀

अरे भाई! तेरी महिमा है, वह तुझे भासित नहीं होती, इसलिए तू दूसरे को महिमा देने जाता है। तेरा तत्त्व जितना बड़ा है, वह तुझे जँचता नहीं; इसलिए तू दूसरे को महिमा देने जाता है। तेरे तत्त्व की महिमा भासित नहीं होती; इसलिए तू राग के व्यवहार को महिमा देने जाता है, निमित्त को महिमा देने जाता है, परन्तु भाई! पर की महिमा के भाव में तेरी

महिमा का घात होने से तुझे मिथ्यात्व का महान दु:ख होता है, इसका तुझे भान नहीं है। 124

❀

पर्याय क्रमबद्ध होती है, ऐसा जानने का तात्पर्य वीतरागता है। भगवान ने देखा है, वैसा होगा, इसका तात्पर्य भी वीतरागता है। जिस काल में जो होता है, उस काल में वही उसका प्राप्त कार्य है। परमाणु में जिस काल में जो कार्य होता है, वही उसका प्राप्त कार्य है और उस सम्बन्धी का उस समय में ज्ञान होता है, वह ज्ञान का प्राप्त कार्य है। ऐसा जानने से ज्ञाता पर दृष्टि जाती है, अकर्ता होता है और वीतरागता प्रगट होती है। यह इसका तात्पर्य है। 125

❀

ऐसा बड़ा आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, देह में विराजता है, परन्तु उसका तू विश्वास नहीं करता और बाहर के दूसरे पदार्थों का विश्वास करता है कि दवा से रोग मिटेगा, पानी से तृषा मिटेगी, भोजन से भूख मिटेगी – ऐसा विश्वास करता है परन्तु अपने भगवानस्वरूप का भरोसा नहीं करता; इसलिए चार गति में भटकना नहीं मिटता। 126

❀

तिल के छिलके जितना सूक्ष्म राग-विकल्प, वह शल्य समान होने से मन को दु:ख करता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, अनन्त गुणमय है—ऐसा भेदरूप विकल्प है, वह शल्य समान दु:खरूप है, आत्मा को चोट मारता है, आत्मा को पीड़ा करता है। जैसे शरीर में लोहखण्ड के बाण की बारीक अणी रह जाए तो वह शरीर में व्याधि करती है, पीड़ा करती है, दु:ख करती है। पर की चिन्ता तो दु:खरूप है, इसलिए छोड़ने योग्य ही है, परन्तु मोक्ष की चिन्ता भी दु:खरूप है, मोक्ष की चिन्ता करने से मोक्ष नहीं होता; इसलिए मोक्ष की चिन्ता भी छोड़! 127

❀

ज्ञानियों को ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को छोड़कर अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती, इसलिए परमात्मा को जाननेवाले ज्ञानियों का मन बाह्य विषयों में नहीं लगता और जिन

जीवों को राग की रुचि और प्रेम है, उन जीवों का मन परमानन्द को देनेवाले परमात्मा में नहीं लगता। वे जीव कदाचित् बाह्य त्याग करे, संयम धारण करे, बाह्य हिंसादि न करते हों, तथापि राग की रुचिवालों को अन्तरंग अभिलाषा छूटी न होने से छह काय के जीवों का घातक ही है। बाह्य विषय छोड़े होने पर भी अन्तरंग से छूटे न होने से विषयों का सेवक ही है। आहाहा! अन्तर्दृष्टि की बात कोई अलौकिक है। भाग्यशाली को कान में पड़े, ऐसी है। 128

❀

जैसे कोई बड़ा राजा घर आया हो और उसका सम्मान करना छोड़कर घर के छोटे से बालक के साथ खेलने लगे तो आये हुए राजा का अपमान गिना जाता है, तिरस्कार गिना जाता है; इसी प्रकार यह बेहद ज्ञान और आनन्दवाला भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ अन्दर में विराजमान है, उसके सन्मुख देखे नहीं और रागादि विकल्पों के ही सन्मुख देखा करे, वह भगवान आत्मा का महान अनादर है, तिरस्कार है और वही मिथ्यात्व है। उसका फल चार गति का भ्रमण है। 129

❀

योगीन्द्रदेव कहते हैं कि अरे जीव! अब तुझे कब तक संसार में भटकना है? अभी तू थका नहीं! अब तो आत्मा में आकर आत्मिक आनन्द को भोग! आहाहा! जैसे पानी का धोर बहता हो, उसी प्रकार यह धर्म के धोर बहते हैं। पीना आवे तो पी। भाई! अच्छे काल में तो कल का लकड़हारा हो, वह आज केवलज्ञान पावे, ऐसा वह काल था। जैसे पुण्यशाली को कदम-कदम पर निधान निकलते हैं, उसी प्रकार आत्मपिपासु को पर्याय-पर्याय में आत्मा में से निधान मिलते हैं। 130

❀

आत्मा जितना और जैसा महान पदार्थ है, वैसा महान मानना, वही आत्मा की दया पालनेरूप समाधि है और ऐसे महान आत्मा को रागादि जितना मानना अथवा मतिज्ञान आदि चार अल्पज्ञ पर्याय जितना मानना, वह आत्मा की हिंसा है। दिगम्बर साधु होकर पंच महाव्रत को पालन किया परन्तु अनादि की पर्याय में क्रीड़ा करके आत्मा की हिंसा की है।

आत्मा की हिंसा छुड़ाकर, दया पालन करने के लिए आचार्यदेव आत्मा की महिमा की पहिचान कराते हैं। 131

❀

सम्यग्दर्शन के धारक जीवों को मरण भी सुखकारी है और सम्यग्दर्शनरहित जीवों को पुण्योदय भी अच्छा नहीं है। आत्मा की आराधना बिना पुण्य करे, व्रतादि पालन करे, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि करे तो भी सम्यग्दर्शन के बिना उस पुण्य से वैभव पाकर वहाँ से मरकर नरक में जाएगा क्योंकि पुण्योदय से मद चढ़ेगा और मद से मति भ्रष्ट होगी, इसलिए पाप बाँधकर नरक में जाएगा, इसलिए सम्यग्दर्शन के बिना वह पुण्य भी लाभकारी नहीं है। इसलिए वह पुण्यसहित होने पर भी उसे पापी कहा जाता है और सम्यग्दर्शनसहित जीव पापोदय से दु:खी हो, दरिद्री आदि हो तो भी उसे पुण्याधिकारी कहा जाता है। यह सम्यग्दर्शन का आश्चर्यकारी माहात्म्य और प्रभाव है। लाख बात की बात है कि प्रथम में प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने योग्य है। 132

❀

प्रवचनसार में कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का जन्मक्षण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय होने का जो जन्मक्षण है, तब ही वह प्रगट होती है; तो प्रश्न होता है कि उसमें पुरुषार्थ कहाँ आया ? भाई ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो प्रगट होता है, वह पर्याय में खड़े रहकर प्रगट नहीं हुए हैं, पर्याय के सामने देखकर प्रगट नहीं हुए हैं परन्तु उस पर्याय का लक्ष्य द्रव्य पर है, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं। द्रव्यस्वभाव पर लक्ष्य गया है, वह पुरुषार्थ से गया है और पर्याय उसके स्वकाल से हुई है तथा पर्याय नियत काल में हुई है और उस समय कर्म का भी अभाव है, इससे उसमें पाँचों समवाय साथ ही आ जाते हैं। 133

❀

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो सब समाधान हो जाते हैं। राग की पर्याय हो या वीतरागीपर्याय हो परन्तु पर्यायमात्र पर्याय के स्वकाल में-जन्मक्षण में होनेवाली हो, वही होती है, ऐसा निर्णय करने से पर्याय निमित्त से नहीं होती, व्यवहार से निश्चय नहीं होता

आदि सब स्पष्टीकरण हो जाते हैं। 134

❀

विकार होने पर भी विकार के साथ ज्ञान पड़ा है, उसे पकड़कर अन्दर में जाए तो उसे भासित हो कि यह आत्मा इतना वीतरागस्वरूप ही है, परमानन्दस्वरूप ही है, अभी ही ऐसा स्वभाव है। एकेन्द्रिय आदि पर्याय का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव का लक्ष्य करने पर अभी ही वीतरागस्वरूप प्रतीति में और अनुभव में आता है। जैसे जिनप्रतिमा अकेली वीतरागस्वरूप है, उसे हिलना-चलना-बोलना-खाना-पीना कुछ नहीं है; वीतरागी स्थिर बिम्ब है, उसे देखकर वे वीतरागी अर्थात् राग था, वह उसका स्वरूप नहीं था, इसलिए निकल जाने से वीतरागी हुए, उसी प्रकार मेरा आत्मा भी रागरहित वीतरागी है, ऐसा जानता है। 135

❀

अज्ञानी कहता है कि उपादान में योग्यता अनेक प्रकार की है परन्तु जैसा निमित्त आवे, वैसा उपादान में कार्य होता है। जैसे पानी है, उसमें योग्यता अनेक प्रकार की है। पानी में शक्कर डालो तो मीठा पानी होता है, नींबू डालो तो खट्टा होता है, मिर्च डालो तो चरपरा होता है, लवण डालो तो खारा होता है। जैसा निमित्त आवे, वैसा पानी होता है, ऐसा निमित्ताधीन दृष्टिवाले को दिखायी देता है परन्तु वह बात सत्य नहीं है। पानी के रजकण अनेक प्रकार के परिणमने की योग्यतावाले हैं, उन्हें जब खट्टा-मीठा-चरपरा-खारा आदि रसरूप से परिणमने की योग्यता का स्वकाल होता है, तब उसरूप से स्वयं अपने जन्मक्षण से परिणमित होते हैं और तब उसके योग्य बाह्य निमित्त की उपस्थिति सहज होती है। सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं, ऐसा इष्टोपदेश में पूज्यपाद आचार्य ने कहा है। इष्ट उपदेश उसका नाम है कि उपादान अपनी शक्ति से ही परिणमित होता है, निमित्त से परिणमित नहीं होता। निमित्त उपस्थितमात्र है। पानी, अग्नि से उष्ण नहीं होता; ध्वजा, हवा से नहीं चलती; चावल, पानी से नहीं पकते। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र है। निमित्त धर्मास्तिकायवत् है, उसे इष्ट उपदेश कहते हैं। जैसा निमित्त आवे, वैसा उपादान में कार्य होता है, ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। मिट्टी में से कुम्हार को घड़ा बनाना हो तो घड़ा

बनता है और सकोरा बनाना हो तो सकोरा बनता है, ऐसा होता ही नहीं। घड़ा बनने का काल हो तो घड़ा ही बनता है और सकोरा बनने का काल हो तब सकोरा ही बनता है और उस कार्यकाल में निमित्त उसके अनुकूल ही होता है परन्तु निमित्त से उपादान में कार्य होता है, ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। 136

❀

एक समय में तीन काल तीन लोक को जाने, ऐसे सर्वज्ञ जिसे जँचते हैं, उसकी दृष्टि अपने सर्वज्ञस्वभाव पर जाती है, तब ही उसे सर्वज्ञ यथार्थरूप से जँचे हैं। वह सर्वज्ञ ने जैसा जाना है, वैसा ही जगत का परिणमन होता है। अक्रम अर्थात् उल्टा-सीधा परिणमन होता है और सर्वज्ञ उल्टा-सीधा जानते हैं, ऐसा ज्ञेय अथवा ज्ञान का स्वभाव नहीं है, इसलिए वस्तु का परिणमन क्रमबद्ध है, ऐसा सिद्ध होता है। क्रमबद्ध का प्रयोजन द्रव्य की ओर लक्ष्य ले जाना है। वीतरागता होना, वह क्रमबद्ध का तात्पर्य है। 137

❀

भाव-आस्रव के परिणाम निश्चय से जीव के हैं। जीव उन्हें उत्पन्न करता है, ऐसा सिद्ध करने के बाद, जब चैतन्यस्वभाव का अनुभव करता है, तब स्वानुभव में आस्रवभाव नहीं आता, भिन्न रह जाता है; इसलिए उसे जीव का नहीं कहा जाता परन्तु पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से उस भाव को पुद्गल का परिणाम कहा जाता है। इसलिए वर्णादि से लेकर रागादि और चौदह गुणस्थान के भेदों को पुद्गलद्रव्य के परिणाम कहा है। उदयभाव है, वह जीवतत्त्व है, यह व्यवहार से है; परमार्थ में उदयभाव है, वह अजीवतत्त्व है। 138

❀

वर्णादि पुद्गल, जीव में नहीं है, यह तो ठीक और रागादि विकार भी जीव में नहीं है, यह भी ठीक परन्तु संयमलब्धिस्थान और गुणस्थान के जो भेद पड़ते हैं, वे भी जीव में नहीं हैं क्योंकि अनुभूति में भेद भासित नहीं होता; इसलिए वे भेद जीव में नहीं परन्तु पुद्गल के परिणाम हैं, ऐसा कहा है। 139

❀

'शुद्धपर्यायसहित का द्रव्य आश्रय करनेयोग्य है'—ऐसा यदि कोई माने तो वह

अत्यन्त विपरीतता है, क्योंकि पर्यायरहित अकेले द्रव्यसामान्य का ही आश्रय करने से शुद्धपर्याय उत्पन्न होती है। इस प्रकार द्रव्यसामान्य का आश्रय करने का प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु पर्यायसहित के द्रव्य के आश्रय का प्रयोजन क्या ? – पर्याय में से पर्याय आती नहीं, इसलिए पर्यायसहित के द्रव्य का आश्रय करने से शुद्धपर्याय उत्पन्न किस प्रकार होगी ? – ऐसा प्रयोजन सिद्ध होता न होने से वह निष्फल है। 140

❀

श्री नियमसार, गाथा-38 की टीका में मुनिराज कहते हैं कि—'अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाला शुद्ध-सहज-परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है- ऐसा कारणपरमात्मा, वह वास्तव में **आत्मा** है। अति-आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त कुछ उपादेय नहीं है।' 141

❀

नियमसार की टीका में त्रिकाल निरावरण परमपारिणामिकभावस्वरूप निज कारणपरमात्मा, स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान, कारणशुद्धपर्याय आदि ध्रुवस्वभाव का ही आश्रय करनेयोग्य है, उसके आश्रय से कार्यरूप केवलज्ञान प्रगट होता है, इसलिए निश्चयरूप ध्रुवस्वभाव को उपादेय करने को कहा और उसके प्रतिपक्षी विरुद्धभाव व्यवहारप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि शुभभावों को हेय बताकर उसका उपहास किया है, मजाक-मस्करी करके उड़ाया है। टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि वह सब मैंने नहीं कहा, परमागम के अर्थ करने में हम मन्दबुद्धि तो कौन ? गणधरों और श्रुतधरों की परम्परा का यह सब प्रवाह पूर्व से चला आ रहा है। 142

❀

समयसार, गाथा-12 के कलश-6 में अन्य द्रव्य से आत्मा को भिन्न श्रद्धान करना, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है। यहाँ पर्याय से भिन्न है, ऐसा नहीं कहा क्योंकि पर्याय तो स्वभावसन्मुख झुकती है, ढलती है, श्रद्धा करती है; इसलिए मात्र परद्रव्य से भिन्न कहा है।

नवतत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा है और एकरूप आत्मा की श्रद्धा को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है। व्यवहारनय आत्मा को अनेकरूप कहकर सम्यग्दर्शन को

अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार आता है, नियम नहीं रहता। 143

❀

जिसे पर्याय की अस्ति का ही स्वीकार है, उसे त्रिकाली स्वभाव की अस्ति का अस्वीकार हो जाता है। अनादि से पर्याय को ही सत्‌रूप से-अस्तिरूप से देखा था, उसे भूल जा! और त्रिकाली स्वभाव को भूल गया था, उसे देख! स्मरण कर! पर्याय की रुचि में पूरा ज्ञायकभाव है, वह दृष्टि में नहीं आता। ज्ञायकभाव की रुचि होने पर ज्ञान में संवर-निर्जरा-मोक्ष पर्याय का ज्ञान यथार्थ होता है, परन्तु उस पर्याय की रुचि नहीं होती। 144

❀

प्रमाण-नय-निक्षेप आत्मा को जानने के उपाय हैं, परन्तु आत्मानुभव की अपेक्षा से अभूतार्थ हैं। जैसे नौ तत्त्व में एक आत्मा ही भूतार्थ है, वैसे आत्मा को जानने के उपायरूप नय-निक्षेप-प्रमाण के भेद अभूतार्थ अर्थात् झूठे हैं, आत्मा एक सत्य है। आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् जानने के लिए नय-निक्षेप-प्रमाण होते हैं, परन्तु अनुभव की अपेक्षा से वे अभूतार्थ अर्थात् झूठे हैं। 145

❀

दर्शन-ज्ञान-चारित्र; उसमें दर्शन को पहले कहने में कारण यह है कि दर्शन अर्थात् श्रद्धा की पूर्णता पहले होती है, पश्चात् ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में होती है और चारित्र की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होती है। इसलिए पहले दर्शन, फिर ज्ञान और फिर चारित्र, ऐसा आता है। 146

❀

दो नयों को परस्पर विषय का विरोध है। वह विरोध स्याद्वाद अर्थात् कथंचित् विवक्षा से मिटता है। सत् है, वह असत् कैसे होगा? तो कहते हैं कि स्व से सत् है, वह पर से असत् है। जो नित्य हो, वह अनित्य कैसे होगा? तो कहते हैं कि द्रव्य से नित्य है, वह पर्याय से अनित्य है। जो एक हो, वह अनेक कैसे होगा? तो कहते हैं कि जो वस्तु से एक है, वह गुण-पर्यायों से अनेकरूप है। जो शुद्ध हो, वह अशुद्ध कैसे होगा? तो कहते हैं कि द्रव्य से शुद्ध है और पर्याय से अशुद्ध है। इस प्रकार दो नयों के विषय में परस्पर

विरुद्धता है। उसे कथंचित् विवक्षा से मिटावे, ऐसा जिनशासन में स्याद्वाद का स्वरूप है। 147

❀

प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि का है ही। रागी-द्वेषी, वह जीव; मनुष्यादि गतिवाला, वह जीव - ऐसा भेदरूप पक्ष तो जीव को अनादि का है ही और उसका उपदेश भी सर्व प्राणी परस्पर में बहुत करते हैं। दया-दान-पूजा करो, व्रत-तप आदि व्यवहार करो, इससे लाभ होगा; मनुष्य शरीर आदि अनुकूल साधन होवें तो धर्म का लाभ होता है; शुभभाव करते-करते धर्म होगा—ऐसा व्यवहार से लाभ होने का उपदेश परस्पर बहुत जीव करते हैं और सुननेवाले उसे उत्साह से हाँ.. हाँ.. करते हैं और जिनवाणी में भी व्यवहार का उपदेश शुद्धनय को सहचर, हस्तावलम्बन / निमित्तरूप जानकर बहुत किया है, परन्तु उस व्यवहार का फल संसार है। समकिती को ही सच्चा व्यवहार आता है, परन्तु उसका फल संसार है। दया-दान-पूजा-भक्ति-व्रत-तप आदि के विकल्प पर्याय में आते अवश्य हैं परन्तु उन्हें गौण करके, व्यवहार कहकर, अभूतार्थ कहकर, निश्चयनय का आश्रय कराया है। 148

❀

भगवान ने कहे हुए व्यवहार का फल संसार कहा है और तू उस व्यवहार से लाभ मानेगा तो मर जाएगा। वर्तमान स्वच्छन्द सेवन करके यदि कुछ भी भगवान की आज्ञा से बाहर जाएगा तो मर जाएगा। इसलिए भगवान की आज्ञा मान! आत्मा के आश्रय से ही धर्म होता है और राग के आश्रय से धर्म नहीं होता, यह अनेकान्त है। निश्चय से लाभ होता है और व्यवहार से भी लाभ होता है, यह एकान्त मिथ्यात्व है। मेरा कार्य मुझसे ही होता है और मेरा कार्य पर से नहीं होता, यह अनेकान्त है। ऐसी भगवान की आज्ञा से यदि बाहर पैर रखेगा तो डूब जाएगा। 149

❀

छोटी पीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट प्रगट बाहर में आती है, वह अन्दर शक्ति में पड़ी है, उसमें से आती है। छोटी पीपर के परमाणु में अल्प चरपराहट थी, उसमें से अनन्त

गुणी चरपराहट बाहर आती है, तथापि उन दोनों समय रसगुण तो ऐसा का ऐसा ही रहा है। आहाहा! क्या है यह ? इसका विचार-मनन चाहिए। परमाणु छोटा है, ऐसा मत देख! परन्तु एक तत्त्व है। उसके गर्भ में अनन्तानन्त गुण हैं, उसका अनन्तानन्त सामर्थ्य है, वह देख! वह एक प्रदेशी परमाणु का एक सत्तागुण और अनन्त प्रदेशी आकाश का एक सत्तागुण, इन दोनों के प्रदेशों में अनन्त गुणा अन्तर है, तथापि दोनों का सत्तागुण समान है। दोनों के अस्तित्व में क्या अन्तर है ? कुछ अन्तर ही नहीं है। ऐसा पदार्थों का आश्चर्यकारी स्वभाव है, उसके मनन में जाए तो अपने स्वभावसन्मुख ढल जाए, तब भगवान ज्ञात होता है और प्रतीति में यह आता है, भावभासन होता है। मनन में बराबर बैठ जाए, तब अन्दर में जाए और सम्यग्दर्शन हो। 150

❀

अन्दर में ज्ञान और आनन्द की वज्र की दीवार पड़ी है, उसके सन्मुख तेरी पर्याय को जोड़ दे! यह अपूर्व पुरुषार्थ है। इस ध्रुवतत्त्व को स्वीकारने पर तेरी पर्याय निर्मल हो जाएगी, वही अपूर्व जीवन है। बाहर का यह सब धन-कुटुम्ब-वैभव आदि मिले, वह कोई अपूर्व जीवन नहीं है। बाहर में धन-वैभव या मान-सम्मान में सर्वस्व मान लिया गया है, उसे पलटा कर तेरे चैतन्यस्वभाव में सर्वस्व मानना है। एक ज्ञायक.. ज्ञायक.. ज्ञायक के रुचि हो, उसे पुरुषार्थ अन्दर ढले बिना रहता ही नहीं। अन्दर गहराई में अनन्त-अनन्त गुणरत्नाकर का सागर है, वहाँ पर्याय को ले जाने पर वस्तु प्राप्त हुए बिना रहती ही नहीं। अन्दर जाने पर आनन्द की सीर फूटेगी ही-फव्वारा छूटेगा। इसलिए भाई! तू अन्दर जा! 151

❀

आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे एक गुण के ऊपर दूसरा गुण रहें, ऐसे थोकबन्ध रहे नहीं हैं परन्तु एक-एक गुण में अनन्त गुण व्यापक होकर रहे हैं, असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण एक साथ व्यापक होकर रहे हैं, तथापि एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, भिन्न-भिन्न स्वरूप से रहे हैं। अरे! एक परमाणु में भी अनन्त गुण हैं, एक में अनन्त व्यापक होकर रहे हैं। स्पर्श, वह रसरूप नहीं होता; रस, वह गन्धरूप नहीं होता। प्रत्येक भिन्न-भिन्न

स्वरूप से रहे हैं। अहो! ऐसे वस्तु के आश्चर्यकारी स्वभाव को देखे तो इसका मोह मर जाए, ऐसी बात है। 152

❀

आत्मा, परद्रव्य को करता तो नहीं, परद्रव्य को स्पर्श तो नहीं करता परन्तु परद्रव्य को वास्तव में जानता भी नहीं। अपना आत्मा ही वास्तव में जाननेयोग्य ज्ञेय है और स्वयं ही ज्ञान और ज्ञाता है। स्व अस्तित्व में ही अपना ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान समाहित होता है। पर को जानता है, यह व्यवहार है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का व्यवहार बताया है। सेटिका की गाथा में (समयसार, गाथा-356 से 365 में) भी ज्ञान अपने को जानता है, यह निश्चय और ज्ञान पर को जानता है, वह व्यवहार-ऐसा कहा है। 153

❀

आत्मा चाहे जैसे संयोग में भी अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। अपनी शान्ति को प्रगट करने में जगत का कोई बाह्य पदार्थ विघ्न करने में समर्थ नहीं है। चाहे जैसे कठोर प्रसंग आ पड़ें—लड़का मर जाए, लड़की विधवा हो जाए, जंगल में अकेला पड़ गया हो और क्षय आदि का कठोर रोग आ गया हो, क्षुधा-तृषा की कठोर वेदना हो या सिंह-बाघ फाड़ खाने के लिए आया हो या चाहे जैसे कठोर प्रसंग आ पड़ें तो भी उस संयोग का लक्ष्य छोड़कर अन्दर में आत्मा अपनी शान्ति को प्रगट कर सकने में समर्थ है। बाह्य में रही हुई प्रतिकूलता, अन्दर में आत्मशान्ति को रोक नहीं सकती। शास्त्र में तो कहते हैं कि नरक की एक क्षण की पीड़ा ऐसी है कि उसे करोड़ों जीभों से करोड़ों वर्षों तक कहा जाए तो भी वह पीड़ा कही नहीं जा सकती, ऐसी कठोर नरक की पीड़ा है ? तथापि वहाँ भी उस संयोग का और पीड़ा का लक्ष्य छोड़ दे तो आत्मा अपनी शान्ति को प्रगट कर सकता है। भाई! तेरा तत्त्व हाजरा-हजूर है। उसमें लक्ष्य करके अपनी शान्ति प्रगट की जा सकती है। 154

❀

आत्मा ज्ञायकभाव से त्रिकाल अस्खलित रहा है। पुण्य-पाप आदि नवतत्त्वों के भेदरूप भाव में आया ही नहीं। सर्वार्थसिद्धि का देव हुआ तो भी ज्ञायकभाव उसमें आया

नहीं और सातवें नरक का नारकी हुआ तो भी ज्ञायकभाव उसमें आया नहीं। ज्ञायकभाव तो सदा अस्खलितरूप ही रहा है। अरे! केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्ददशा प्रगट हुई, तो भी उसमें ज्ञायकभाव नहीं आता। ध्रुव ज्ञायकभाव तो सदा काल अस्खलित ही रहा है। 'सदा काल अस्खलित' शब्द पर वजन है। चार गतियों के दु:ख में पड़ा होने पर भी आनन्दस्वरूप से ज्ञायकभाव सदा काल अस्खलित रहा है। भाई! तुझे संसार के दु:ख से थकान लगी हो और उनसे छूटना हो तो एक ज्ञायकभाव के अस्खलित स्वभाव के समीप जा! सर्व काल में अस्खलित एक जीवस्वभाव है, जो कभी नौ तत्त्व के भेदों में नहीं जाता और एकरूपता को नहीं छोड़ता। ऐसे ज्ञायकभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर ये नवपर्यायभेद झूठे हैं–अभूतार्थ हैं और ज्ञायकभाव एक ही सत्य है, भूतार्थ है। 155

❀

हे जीव! अनन्त काल में तूने शुद्धोपयोग नहीं किया, इसलिए तेरी अशुद्धता नहीं मिटी। तू तेरे ज्ञायकभाव में स्थिर हो जा तो क्षणमात्र में तेरे कर्म क्षय हो जाएँगे। भले तू एक है परन्तु तेरी शक्ति अनन्त है। एक ही अनन्त शक्तिवाला सबको पहुँच जाने को बस है! तू उल्टा है तो सब आते हैं, तू जागृत हो तो सब अपने आप भाग जाएँगे। तुझमें ज्ञान, दर्शन, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनन्त शक्तियाँ भरी हैं, उनके सामर्थ्य को शुद्धोपयोग से देख तो तुझे अशुद्धता क्षण में मिट जाएगी, ऐसे सामर्थ्यवाला तू अनन्त शक्तिसम्पन्न है। जिस प्रकार सिंह जागे, वहाँ बकरों के टोले भागते हैं; इसी प्रकार तू जाग जा तो सब कर्म भाग जाएँगे। 156

❀

जैसे कोई सुन्दर राजमहल पाकर आनन्दित होता है और उसमें से बाहर आना पड़े तो खेद होता है; इसी प्रकार सुखधाम आत्मा को प्राप्त ज्ञानी को सुखधाम में से बाहर आ जाए तो दु:ख होता है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में से शुभराग में आ जाने पर ज्ञानी को खेद होता है। अशुभराग में भी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आ जाता है परन्तु जैसे सिर पर डण्डा पड़ता हो, वैसे अशुभभाव में आने पर दु:ख लगता है। 157

❀

प्रत्येक पर्याय सत् है, स्वतन्त्र है, उसे पर की अपेक्षा नहीं है। राग का कर्ता तो आत्मा नहीं परन्तु राग का ज्ञान कहना, वह व्यवहार है और ज्ञानपरिणाम को आत्मा करता है, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। वास्तव में तो उस समय की ज्ञानपर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र हुई है। 158

❀

सम्यग्दृष्टि, जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध आदि के स्वांगों को देखनेवाला है। रागादि आस्रव-बन्ध के परिणाम आवें परन्तु सम्यग्दृष्टि उन स्वांगों का जाननेवाला ज्ञातादृष्टा है; उन स्वांगों का कर्ता नहीं। सम्यग्दृष्टि उन स्वांगों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न रहता है। शुभाशुभभाव आते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें कर्मकृत स्वांग जानकर, उनमें मग्न नहीं होता, मिथ्यादृष्टि जीव, जीव-अजीव का भेद नहीं जानते, इसलिए वे कर्मकृत स्वांगों को ही सच्चा जानकर उनमें मग्न हो जाते हैं। रागादि भाव कर्मकृत भाव होने पर भी उन्हें अपना भाव जानकर उसमें लीन हो जाते हैं, ऐसे अज्ञानी जीवों को धर्मी जीव आत्मा का यथार्थस्वरूप बतलाकर, उसका भ्रम मिटाकर, भेदज्ञान कराकर शान्तरस में लीन करके सम्यग्दृष्टि बनाता है। 159

❀

प्राप्त, विकार्य और निर्वृत्यं—ऐसा व्याप्य लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म अर्थात् भक्ति-पूजा-दया-दान आदि के शुभपरिणाम को, उनकी आदि-मध्य-अन्त में पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर व्यापक होकर परिणमित होता है, ग्रहण करता है और उत्पन्न होता है। आहाहा! रागादि परिणाम में पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर व्यापक होकर रागरूप परिणमता है, राग को ग्रहण करता है, रागरूप उत्पन्न होता है। जीव उस राग की आदि-मध्य-अन्त में अन्तर व्यापक होकर परिणमित नहीं होता, ग्रहण नहीं करता और रागरूप उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जीव तो अकेला ज्ञायकभावस्वरूप है। वह ज्ञायकभाव दया, दान, भक्ति आदि रागरूप ऐसे पुद्गलकर्म को कैसे करे? भक्ति, विनय, वैयावृत्त्य आदि के भाव की आदि-मध्य-अन्त में पुद्गलद्रव्य व्यापक होकर राग को करता है। आहाहा! तीन लोक का नाथ चैतन्यस्वभाव, उन रागादि परिणामों को नहीं करता। ज्ञायक प्रभु उन

रागादि परिणामों में व्याप्त नहीं होता। चारित्रमोह की कमजोरी से भी जीव रागादिभाव को नहीं करता। यहाँ ऐसा अकेला द्रव्यस्वभाव को सिद्ध करना है। अरे प्रभु! कहाँ तेरी महानता और कहाँ विभाव की तुच्छता! तुच्छ ऐसे विभावभाव तुझसे कैसे हों? तू तो जाननस्वभावी है। तुझसे विकार कैसे हों? द्रव्यदृष्टि के समयसार के कथन अलौकिक हैं। 160

❀

भाई! यह वीतरागकथित तत्त्व की बातें बहुत सूक्ष्म और अपूर्व हैं। जो पुण्य-पाप के भाव हैं, राग-द्वेष हैं, दया, दान, भक्ति, काम, क्रोधादि के भाव हैं - वे सब पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! प्रभु! तेरी दशा में होनेवाले दया, दान, काम, क्रोध आदि के शुभाशुभभाव, वे तेरे नहीं हैं। परन्तु पुद्गल के परिणाम हैं; तू तो आनन्दस्वरूप शान्ति का सागर है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह दया, दान, काम, क्रोधरूप कैसे परिणमित हो? भाई! तेरा घर तो ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें स्थिर होना, वह तेरी चीज़ है। तू राग-द्वेष, सुख-दु:खरूप कैसे परिणमित हो? वह तो पुद्गलकर्म का स्वाद है, वह तेरा स्वाद नहीं है। जैसे जल और अग्नि की शीत-उष्ण पर्याय है, वह पुद्गल की है, पुद्गल से अभिन्न है और उसका अनुभव-ज्ञान, वह आत्मा की पर्याय है। इसी प्रकार राग-द्वेष, सुख-दु:ख परिणाम होते हैं, वह पुद्गल की पर्याय है। पुद्गल से अभिन्न है और उसका अनुभव ज्ञान वह आत्मा की पर्याय है। जैसे शीत-उष्ण अवस्थारूप से आत्मा को परिणमित होना अशक्य है, उसी प्रकार राग-द्वेष, सुख-दु:खरूप से आत्मा को परिणमित होना अशक्य है। जिसने शुभ-अशुभ की कल्पना से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को अनुभव किया है, उस ज्ञानी को शुभाशुभरूप होना अशक्य है। भले अभी अधूरी दशा में राग आयेगा परन्तु उसका जाननेवाला रहता है। आहाहा! यहाँ रागादि परिणाम को आत्मा से भिन्न पुद्गल परिणाम कहते हैं और जगत उस शुभराग से धर्म होना मानता है! वीतराग सर्वज्ञ कथित तत्त्व जगत को कठिन पड़ता है। ऐसी बातें तो जिसका भाग्य हो, उसे सुनने को मिलती है। अरबों रुपये मिले, उसे यहाँ भाग्यशाली नहीं कहते। अलौकिक बातें हैं। 161

❀

भगवान सर्वज्ञ के केवलज्ञान में तीन काल-तीन लोक की पर्यायें ज्ञात होती हैं। जैसे केवलज्ञान में तीन काल की पर्यायें ज्ञात होती हैं; वैसी ही पदार्थों में क्रमबद्धपर्यायें होती हैं। केवलज्ञान ने जाना इसलिए नहीं परन्तु पदार्थों का पर्यायें अपने स्वकाल में उसी प्रकार से होती है और वैसा सर्वज्ञ जानते हैं। आहाहा! परद्रव्य को करने की बात तो नहीं परन्तु अपनी अशुद्ध और शुद्धपर्यायें स्वकाल में क्रमबद्ध जो होनेवाली हैं, वही होती हैं अर्थात् अपने में भी पर्याय को उल्टी-सीधी करना रहा नहीं। मात्र जैसी होती है, वैसा जानना ही रहा। जैसे सर्वज्ञ ज्ञाता हैं, वैसे धर्मी भी ज्ञाता हो गया। क्रमबद्ध के निर्णय का तात्पर्य अकर्तापनेरूप वीतरागता है। वह वीतरागता अनन्त पुरुषार्थ से द्रव्य पर दृष्टि जाने से होती है। आहाहा! आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। 162

❀

चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। आत्मा वीतरागस्वरूप है, उसके आश्रय से वीतरागता प्रगट हो, वह धर्म है। कर्ता, कर्म, करण आदि छहों कारक वीतरागी गुण हैं। षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमित होना, ऐसा आत्मा का गुण है और अनन्त गुणों में उसका रूप है। वीतरागरूप से परिणमित होना, ऐसा आत्मा का गुण है, रागरूप से होना—ऐसा उसमें गुण नहीं है। अकर्ता होना, वह आत्मा का गुण है। राग का नहीं करना, राग को नहीं भोगना ऐसे गुण आत्मा में हैं। आहाहा! वस्तु की ऐसी ही मर्यादा है। वस्तु उसकी मर्यादा में ही रहती है। मर्यादा के बाहर वस्तु नहीं जाती। सब आत्मा वीतरागस्वरूप है। राग तो पुण्य-पापतत्त्व में जाता है। आत्मा तो अकेला वीतराग ज्ञायकस्वरूप है। उसे ज्ञानप्रधान से कहो तो ज्ञानस्वरूप है, दर्शनप्रधान से कहो तो दर्शनस्वरूप है, चारित्रप्रधान से कहो तो चारित्रस्वरूप है, वीर्यप्रधान से कहो तो वीर्यस्वरूप है, स्वच्छत्व, विभुत्व, प्रभुत्व आदि प्रधान से कहो तो प्रभुत्व आदि स्वरूप ही है। आहाहा! आत्मा अकेला वीतरागस्वभाव का समुद्र है। वीतराग कहो या अकषायस्वभाव कहो, 'सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे वे होय।' सर्वज्ञ स्वरूप की दृष्टि हुई, इसलिए पर्याय में जिन हुआ, अमृत का सागर उछला। 163

❀

सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते थे कि जगत पूरा ज्ञेय है और तू एक ज्ञाता है। यह विश्व पूरा एक बड़े समुदायरूप है, वह सब ज्ञेय है और तू एक ज्ञाता है। जगत में अनन्त सिद्ध-सर्वज्ञ हैं, वह सब समुदाय ज्ञेय है और तू एक ज्ञाता है। यह भगवान और गुरु मेरे तथा मैं इनका शिष्य हूँ, ऐसा नहीं परन्तु वे सब ज्ञेय हैं और तू एक ज्ञाता है। इन्द्रिय-विषय सामग्रियाँ आदि सब ज्ञेय है और तू ज्ञाता है। वे पदार्थ मेरे हैं, ऐसा नहीं परन्तु वे सब ज्ञेय हैं। काम, क्रोध, दया, दान, भक्ति से लेकर पूरा विश्व ज्ञेय का समुदाय है और स्वभाव के लक्ष्य से परिणमित होता भावश्रुतज्ञान, वह ज्ञाता है। केवलज्ञान में ज्ञेय प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान में ज्ञेय परोक्ष हैं। जैसे जलनेयोग्य पदार्थों को जलाती, वह अग्नि है; उसी प्रकार जाननेयोग्य विश्व के ज्ञेयाकाररूप से परिणमता आत्मा, वह ज्ञायक है। 164

❀

घट-पट आदि परद्रव्य के कार्य का व्याप्य-व्यापकभाव से तो आत्मा कर्ता नहीं परन्तु निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है, क्योंकि यदि घट-पट आदि के कार्य का निमित्तरूप से भी कर्ता हो तो जब-जब घट-पट आदि के कार्य होंगे, तब आत्मा को उपस्थित रहना पड़ेगा! नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आयेगा; इसलिए आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। घट-पटादि के कार्यकाल में मात्र इच्छा-विकल्प को निमित्तकर्ता कहा जाता है परन्तु वह किसका?- कि जिसे विकल्प में एकत्वबुद्धि है, ऐसे अज्ञानी की इच्छारूप योग और उपयोग को निमित्तकर्ता कहा जाता है। ज्ञानी कमजोरी से होनेवाले विकल्प का कर्ता नहीं, परन्तु ज्ञाता है; इसलिए ज्ञानी तो घट-पट आदि कार्यों का निमित्तकर्ता भी नहीं होता, परन्तु उन घट-पट आदि के कार्य को अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान में निमित्त बनाता है। आहाहा! ज्ञानी धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में अनेक प्रकार के देह-वाणी आदि के कार्य में प्रवर्तता दिखायी दे, तथापि उसका निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं; ज्ञाता ही है। 165

❀

साधक जीव को भूमिकानुसार देव-गुरु-शास्त्र का महिमा, भक्ति, श्रुतचिन्तवन, अणुव्रत-महाव्रत आदि के शुभविकल्प आते हैं, होते हैं, परन्तु वह ज्ञायकपरिणति को बोझरूप है। आहाहा! अरे! ऐसे शुभविकल्प भी बोझरूप लगते हैं! जैसे रुई के पोल पर

लोहखण्ड का भार रखे और पोल दब जाए, वैसे ज्ञायकपरिणति को शुभविकल्प भी जहाँ बोझरूप लगता है, वहाँ व्यापार-धन्धा-धनादि की रक्षा के अशुभराग के बोझा की तो बात ही क्या करना ? पवित्र परिणति में शुभ की अपवित्र परिणति बोझरूप है, भाररूप है, आकुलता और क्लेशरूप है। आहाहा ! ऐसा स्पष्ट कथन दिगम्बर सन्तों का है। भाई ! यदि तुझे तेरा परिभ्रमण मिटाना हो तो सम्यग्ज्ञान की तीक्ष्ण बुद्धि से आनन्द के सागर स्वभाव को पकड़ ले ! यदि आनन्दस्वरूप द्रव्य तेरे हाथ में आ गया तो मुक्ति की पर्याय सहज मिल जाएगी। 166

❀

भाई ! तू एक बार कौतूहल तो कर। भगवान तेरी इतनी-इतनी महिमा करते हैं। वह है कौन ? तू आनन्द का सागर है, परमानन्दस्वरूप है, अनन्त-अनन्त गुणों का गोदाम है, अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र है, सिद्धसमान शुद्ध है, इतने-इतने तेरे गुणगान करते हैं, ऐसा तू परमात्मस्वरूप है कौन ? उसका एक बार कौतूहल करके देख तो सही ! भाई ! महाकष्ट से, मरकर भी तू कौतूहल करके देख ! इन शरीरादि का पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर, तो तेरा आत्मा आनन्दरूप विलासरूप दिखायी देगा और परद्रव्य का मोह तुरन्त टूट जाएगा। 167

❀

क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय ज्ञायक पर दृष्टि जाए तब होता है। राग ज्ञेय है, ऐसा कब भासित होता है ? कि राग से भिन्न ज्ञाता हुआ, उसे राग ज्ञेयरूप भासित होता है। योग्यतानुसार राग होता है, उसका सच्चा ज्ञान कब होता है ?-कि ज्ञाता की दृष्टि में आवे, तब योग्यता का सच्चा ज्ञान होता है। राग पर दृष्टि पड़ी हो और क्रमबद्ध में राग था, योग्यता में राग था, ऐसा बोले वह नहीं चलता ! पर्याय अन्दर में झुककर दृष्टि में द्रव्य को पकड़े, तब क्रमबद्ध, योग्यता आदि का सच्चा ज्ञान होता है। 168

❀

प्रत्येक पदार्थ की पर्याय क्रमबद्ध होती है; इसलिए परद्रव्य की पर्याय को तो बदलना रहा नहीं, परद्रव्य की पर्याय को तो बदल सकता ही नहीं परन्तु अपनी पर्याय जो

क्रमसर होनेवाली है, वही होती है; इसलिए उसे भी बदलना रहा नहीं। जो पर्याय क्रमसर हो, उसका जाननेवाला ही है। आहाहा! यह वीतरागता है। भगवान सर्वज्ञ ने देखे अनुसार प्रत्येक द्रव्य के तीन काल की पर्यायें जिस काल में जो होनेवाली हैं, वही होनेवाली हैं। भगवान ने देखा है, इसलिए होनेवाली है, ऐसा नहीं परन्तु प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें स्वयं से ही क्रमबद्ध जो होनेवाली है, वही होती है; उसे दूसरा तो बदल नहीं सकता परन्तु स्वयं भी अपने में होनेवाले क्रमसर परिणाम को बदल नहीं सकता, मात्र जान सकता है। क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय करने पर दृष्टि द्रव्य पर जाती है, तब क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय होता है। पर्याय के क्रम के सामने देखने से क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय नहीं हो सकता। ज्ञायक की ओर ढलता है, तब ज्ञायक का सच्चा निर्णय होता है। उस निर्णय में अनन्त पुरुषार्थ आता है। ज्ञान के साथ आनन्द का स्वाद आवे, तब उसे सम्यग्दर्शन हुआ है। सर्वज्ञ ने देखा है, वैसा होता है, पर्याय क्रमबद्ध होती है, उसके निर्णय का तात्पर्य ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि करना, वह है। आत्मा कर्ता नहीं परन्तु ज्ञाता ही है। 169

❀

ज्ञायकस्वभाव लक्ष्य में आवे, तब क्रमबद्धपर्याय यथार्थ समझ में आ सकती है। जो जीव पात्र होकर अपने आत्महित के लिए समझना चाहता है, उसे यह बात यथार्थ समझ में आ सकती है। जिसे ज्ञायक की श्रद्धा नहीं, सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं, अन्दर में वैराग्य नहीं और कषाय की मन्दता भी नहीं, ऐसा जीव तो ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्ध के नाम से स्वच्छन्दता का पोषण करता है। ऐसे स्वच्छन्दी जीव की बात यहाँ नहीं है। जो जीव क्रमबद्धपर्याय को यथार्थरूप से समझता है, उसे स्वच्छन्दता हो ही नहीं सकती। क्रमबद्ध को यथार्थ समझे, वह जीव तो ज्ञायक हो जाता है, उसे कर्तृत्व का उछाला शमन हो जाता है और परद्रव्य का तथा राग का अकर्ता होकर ज्ञायक में एकाग्र होता जाता है। 170

❀

जो कर्मनय के अवलम्बन में ही तत्पर हैं, शुभक्रिया में ही मग्न हैं, वे ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानते; इसलिए संसार में डूबे हुए हैं और जो ज्ञाननय के पक्षपाती हैं,

अकेली ज्ञान की बातें शुष्कता से करते हैं और स्वसन्मुख का पुरुषार्थ नहीं करते, वे भी संसार में डूबे हुए हैं। जो शुभपरिणाम के भरोसे पड़े रहते हैं परन्तु अन्तर में भगवान का भरोसा नहीं करते, वे संसार में डूबते हैं और जो शुभपरिणाम को तो छोड़ देते हैं परन्तु स्वभाव का अनुभव नहीं करते और अशुभ में पड़े रहते हैं, वे भी संसार में डूबते हैं और जिन्हें अभी सम्यग्दर्शन हुआ नहीं परन्तु जो स्वरूप-सन्मुख होने का प्रयत्न करते हैं, वे इस कर्मनय और ज्ञाननय के एकान्त पक्षपाती नहीं परन्तु स्वरूपसन्मुख होने के प्रयत्नशील हैं और जो ज्ञानस्वरूप को साक्षात् अनुभव करते हैं, वे विश्व के ऊपर तैरते हैं, वे कर्म को कभी नहीं करते और कभी प्रमाद के वश भी नहीं होते। अन्तर के अनुभव के झुकाव में-उद्यम में स्थित हैं, वे ही संसार से तिरते हैं। 171

❀

जिसने मोहरूपी मिथ्यात्व की मदिरा पी है, वे भ्रमणा के रस के भार से शुभ और अशुभभाव में भेद डालते हैं। शुभाशुभभाव एकरूप बन्ध का ही कारण होने पर भी मिथ्यात्वरूपी भ्रमणा के रस के भार से नाचते हैं कि शुभराग अच्छा और अशुभराग बुरा है, यात्रा-भक्ति-पूजा आदि शुभभाव तो अच्छे हैं और वे करते-करते धर्म होगा और विषय-कषाय, व्यापार का भाव खराब है-इस प्रकार शुभ और अशुभ दोनों बन्ध के ही कारण होने पर भी, मोहरूपी पागलपन से भेद डालता हुआ, मिथ्यात्वरूपी मदिरा पी कर शुभाशुभ में भेद डालकर अज्ञानी नाचता था, शुद्धात्मा का अमृत पी कर ज्ञानज्योति प्रगट करके मिथ्यात्वरूपी मोह को मूल से उखेड़कर अज्ञान अन्धकार का नाश करके ज्ञानज्योति अत्यन्त सामर्थ्य से प्रगट की है। ज्ञानज्योति आत्मा कभी शुभाशुभरूप हुआ ही नहीं। भले चाहे जितनी शुभाशुभभाव हुए परन्तु उसरूप से शुद्धात्मा कभी हुआ ही नहीं। उस शुद्धात्मा के आश्रय से ज्ञानज्योति प्रगट होने पर लीलामात्र से अज्ञान अन्धकार का नाश कर डालता है। लीलामात्र में—आनन्द करते-करते-खेल करते-करते मोह का नाश करता है। 172

❀

प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव से ही होते हैं। दूसरे द्रव्य का बिल्कुल कार्य नहीं है। ध्वजा स्थिर थी और एकदम हिलने लगी, वह हवा आयी; इसलिए

हिलने लगी, ऐसा नहीं है। पानी शीतल था, उसमें से एकदम गर्म हुआ, वह अग्नि आयी; इसलिए गर्म हुआ है, ऐसा नहीं है। चावल कठोर थे, उसमें से कोमल हुए, वह पानी आया, इसलिए हुए हैं, ऐसा नहीं है। बाह्य दृष्टि से देखनेवाले अज्ञानी को निमित्त देखकर भ्रम होता है कि पानी ठण्डा था और गर्म हुआ, वह निमित्त आया, इसलिए हुआ है, परन्तु ऐसा नहीं है। घर में बैठा था, तब अशुभपरिणाम थे और मन्दिर में भगवान के दर्शन करने आया, वहाँ शुभपरिणाम हुए, ऐसे एकदम अशुभ में से शुभ परिणाम हुए, वह निमित्त से हुए हैं, ऐसा है ही नहीं, परन्तु अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव से अपने से ही हुए हैं। एक द्रव्य का कार्य दूसरा द्रव्य बिल्कुल नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता या स्पर्श ही नहीं करता तो एक का दूसरा द्रव्य करे क्या ? आहाहा ! ऐसी वस्तु की स्वतन्त्रता जँच जाए तो इसकी दृष्टि बाहर से हटकर अन्तरोन्मुख हो। 173

❀

पानी गर्म हुआ, वह पूर्व की शीतल पर्याय के व्यय से हुआ है, परन्तु अग्नि से उष्ण नहीं हुआ। मिट्टी के पिण्ड का व्यय, वह घड़े की उत्पत्ति का कारण है, परन्तु कुम्हार से घड़ा नहीं हुआ है। रोटी की उत्पत्ति का कारण पूर्व के पिण्ड का व्यय, वह रोटी की उत्पत्ति का कारण है परन्तु साथ में रहा हुआ बेलन, चूल्हा, अग्नि या महिला कारण नहीं है। भगवान के दर्शन हुए, इसलिए शुभभाव उत्पन्न हुआ, ऐसा नहीं है परन्तु पूर्व की पर्याय के अभाव से शुभभाव का उत्पाद हुआ है। भगवान के निमित्त से शुभभाव का उत्पाद नहीं हुआ। सम्यग्दर्शन पर्याय का उत्पाद, वह पूर्व की मिथ्यात्व पर्याय के अभाव से हुआ है परन्तु साथ में रहे हुए देव-गुरु के निमित्त से नहीं हुआ। (सर्ग) उत्पाद (संहार) व्यय के बिना नहीं होता और उत्पाद तथा व्यय, ध्रुव के बिना नहीं होते। सर्ग और संहार अर्थात् उत्पाद और व्यय, वे ध्रुव को प्रकाशित करते हैं-प्रसिद्ध करते हैं, यह जानने का प्रयोजन ध्रुव पर दृष्टि करनी है। 174

❀

नियमसार, गाथा-38 में आचार्य भगवान कहते हैं कि जीवादि सात तत्त्वों का समूह है, वह परद्रव्य होने से हेय है, उपादेय नहीं। आहाहा ! अभी तो दया, दान, व्रतादि

के शुभराग को हेय कहने से लोगों को कठिन पड़ता है परन्तु यहाँ तो शुद्धपर्याय को— संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय को भी परद्रव्य कहकर हेय है, ऐसा कहते हैं। गजब टीका है! आचार्य भगवान कहते हैं कि मैंने मेरी भावना के लिए यह शास्त्र बनाया है। उसमें कहते हैं कि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने से हेय है। यह सात तत्त्वों का समूह शुद्धभाव नहीं, परन्तु उसके पीछे पाताल कुआँ जो चैतन्यभगवान है, वह शुद्धभाव है। यहाँ निर्मल पर्याय को भी शुद्धभाव नहीं कहा परन्तु उसे परद्रव्य कहा है क्योंकि जैसे परद्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती, उसी प्रकार निर्मल पर्याय के आश्रय से भी नयी निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती; इसलिए निर्मल पर्याय को भी यहाँ परद्रव्य कहा है। आहाहा! प्रभु तेरी महिमा के समक्ष सिद्धपर्याय की भी महिमा नहीं! इन सब शुद्धपर्यायों को यहाँ बहिर्तत्त्व कहते हैं। अन्त: तत्त्व तो एक आत्मा ही है। भगवान सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि हम और हमारे सन्त साधक और शास्त्र, ये सब तेरे लिए परद्रव्य हैं। वे तो परद्रव्य हैं ही परन्तु उनके लक्ष्य से होनेवाला शुभराग भी परद्रव्य है। अरे! वे तो सब परद्रव्य हैं ही परन्तु स्व के लक्ष्य से प्रगट होनेवाले संवर-निर्जरा-मोक्ष भी, पर्याय होने से परद्रव्य है; इसलिए वह उपादेय नहीं है, उपादेय तो एक अन्त:तत्त्वरूप शुद्धात्मा ही है। 175

❀

सन्त कहते हैं कि भाई! तेरी पर्याय को देखने की आँख को सर्वथा बन्द कर दे! देव-गुरु पंच परमेष्ठी आदि को देखना तो बन्द कर दे, परन्तु भाई! तेरी पर्याय को देखने की आँख को सर्वथा बन्द करके तेरे द्रव्य को देखने की आँख को खुली करके देख! भाई! यह तो प्रवचनसार अर्थात् सन्तों के हृदय का रहस्य है, यह सन्त ऐसा कहते हैं कि भाई! तेरी पर्याय को देखने की आँख को सर्वथा बन्द कर दे। नारकादि पर्याय को देखने की आँख तो बन्द कर दे परन्तु सिद्धपर्याय को देखना बन्द कर दे, तो तुझे द्रव्य-भगवान को देखने की चक्षु खुल जाएगी। भाई! एक बार देख तो सही! प्रभु! तू कौन है! जहाँ पर्याय को देखने की आँख बन्द की, वहाँ द्रव्य को देखने का ज्ञान उघड़ गया। पर्याय को देखने की आँख बन्द की, वहाँ द्रव्य को देखने की आँख खुल गयी। अब वह भगवान छिपा नहीं रह सकेगा! 176

❀

जीव की मनुष्यपर्याय मिटकर एकदम देवपर्याय हो जाती है, इसलिए ऐसा लगता है कि मनुष्य में से एकदम देव हो जाए, वह पर के कारण होगा ? नहीं, ऐसा नहीं है। उस मनुष्यपर्याय का व्यय होकर जीवद्रव्य, देवपर्याय से उत्पन्न हुआ है। यह सत्य के संस्कारवाले बहुत तो यहाँ से देव में ही जानेवाले हैं। इस तत्त्व को जो हमेशा सुनते हैं, वे सब तो मरकर स्वर्ग में ही जानेवाले हैं। देवपर्याय पहले नहीं थी और बाद में हुई, वह मनुष्यपर्याय अन्य है और देवपर्याय अन्य हुई, उसमें जीवद्रव्य अन्य-अन्य पर्याय से उपजता है। कर्म के-पर के कारण वह पर्याय नहीं होती और मनुष्यपर्याय के कारण हुई नहीं परन्तु जीवद्रव्य के कर्ता-कर्म-करण द्वारा वह पर्याय उत्पन्न होती है। 177

❀

यह तो अन्दर में विकल्परहित होने की बात है

अनादि से विकल्प का अभ्यास हो रहा है, इसलिए विकल्प ही दिखायी देते हैं तथा विकल्प मन्द हो तो शान्ति लगती है परन्तु विकल्प अधिक हों तो आकुलता लगती है, परन्तु यह तो अन्तर में विकल्परहित होने की बात है। आत्मा स्वयं जागृतस्वरूप है, अस्तिस्वरूप है, उसका अस्तित्व कहीं चला नहीं गया। विकल्प की अस्ति चली गयी, तथापि स्वयं का अस्तित्व खड़ा रहता है और वह अस्तित्व चैतन्यरूप है। वह चैतन्य आनन्दगुण से भरपूर है। उसका आनन्दगुण कोई अलग ही है-अद्भुत है और ज्ञानगुण भी कोई अद्भुत है। ऐसे तो अनन्त गुण उसमें हैं। सब विकल्प छूट जायें तो फिर रहेगा कौन ? - एक आत्मा रहता है। उसमें आनन्दगुण प्रगट होता है, आनन्द गुण की अनुभूति होती है। विकल्प के अभ्यास में विकल्प ही दिखता है, दूसरा कुछ नहीं दिखता। इसलिए उसे ऐसा लगता है कि विकल्प छूट जाने पर रहेगा क्या ? आनन्दगुण से भरपूर आत्मा रहता है। वह चैतन्य अनन्त गुण में खेलता है, रमता है, डोलता है। कोई कहते हैं कि हमें शान्ति... शान्ति... लगती है, परन्तु वह अमुक विकल्प मन्द हो, उसकी शान्ति है। जबकि यह शान्ति तो कोई अलग ही है। यह प्रगट होने पर उसे अन्दर में तृप्ति होती है कि इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है, यही मुक्ति का मार्ग है। —**पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन**

परिशिष्ट

पूज्य गुरुदेवश्री की विशिष्ट तत्त्वचर्चा

सम्यग्दर्शन का विषय - एक स्पष्टीकरण

प्रमाण पूज्य है या निश्चयनय ?

प्रमाण पूज्य नहीं है क्योंकि वह व्यवहारनय के विषय का निषेध नहीं करता परन्तु साथ में रखता है; इसलिए प्रयोजनभूत निर्विकल्पता की सिद्धि नहीं होती।

निश्चयनय एक ही पूज्य है, क्योंकि वह व्यवहारनय के विषय के निषेधपूर्वक अकेले त्रिकाली चैतन्य सामान्यरूप द्रव्यस्वभाव का आश्रय कराता है और इसीलिए प्रयोजनभूत निर्विकल्पता की सिद्धि होती है।

कहीं प्रमाण को पूज्य कहा हो, वहाँ तो प्रमाण, दोनों नयों के विषयों को जाननेवाला होने से, जानने की अपेक्षा पूज्य कहा, परन्तु आश्रय की अपेक्षा से तो निश्चयनय एक ही पूज्य है।

* त्रिकाली द्रव्य सामान्य निश्चयनय का विषय है और उसके आश्रय से शुद्धपर्याय प्रगट होती है, वह पर्यायनय का विषय है, इन दोनों को एक साथ लेना, वह प्रमाण का विषय है। उसके बदले यदि कोई उसे निश्चयनय का विषय मानता है तो वह विपरीतता है। निश्चयनय के विषय में शुद्धपर्यायरहित त्रिकाली ध्रुवतत्त्व अकेला आता है।

* कोई कहे कि 'हम, द्रव्य और पर्याय एक है-ऐसा नहीं मानते, परन्तु आश्रय का विषय शुद्धपर्यायसहित अभेद द्रव्य है - ऐसा मानते हैं।' - तो वह मूढ़दृष्टि है, विपरीतदृष्टि है; वास्तव में तो अनादि से जो दृष्टि है, वैसी की वैसी ही पर्यायदृष्टि उसे है। यदि आश्रय का विषय पर्यायसहित का द्रव्य हो तो आश्रय करेगा कौन ? पर्याय को तो वह आश्रय का विषय मानता है, तो फिर आश्रय करनेवाला कौन ? आश्रय करनेवाला और आश्रय का विषय अलग है।

द्रव्य में पर्याय अभेद हुई - ऐसा कहीं आता है तो उसका अर्थ क्या ?

- वहाँ पर्याय, द्रव्य के सन्मुख ढली है, यह बताना है; इसलिए पर्याय द्रव्य में

अभेद हुई - ऐसा कहा है। अनादि से पर्याय, विमुख थी; वह अब द्रव्यसन्मुख हुई, यह बताने के लिए वैसा कहा है। पर्याय, द्रव्य में मिलकर द्रव्यरूप नहीं हो जाती।

✻ मोक्षमार्ग की क्षायोपशमिकभावरूप शुद्धपर्याय, परमपारिणामिकभाव का ध्यान करती है। यदि उस पर्याय को पारिणामिकभाव में अभेद करके उसे ध्यान का विषय माना जाये तो पारिणामिकभाव और क्षायोपशमिकभाव - ऐसे दो भाव अलग हैं, वे अलग नहीं रहते। इस प्रकार दृष्टि और दृष्टि का विषय—ऐसे दो सिद्ध न होने से वह मान्यता विपरीत है।

✻ शुद्धपर्यायसहित का द्रव्य आश्रय करने योग्य है—ऐसा यदि कोई माने तो वह अत्यन्त विपरीतता है, क्योंकि पर्यायरहित अकेले द्रव्यसामान्य का ही आश्रय करने से शुद्धपर्याय उत्पन्न होती है। इस प्रकार द्रव्यसामान्य का आश्रय करने का प्रयोजन सिद्ध होता है, परन्तु पर्यायसहित के द्रव्य का आश्रय का प्रयोजन क्या ? - पर्याय में से पर्याय नहीं आती; इसलिए पर्यायसहित के द्रव्य का आश्रय करने से शुद्धपर्याय उत्पन्न किस प्रकार होगी ? - ऐसे प्रयोजन सिद्ध होता ही न होने से वह निष्फल है।

✻ श्री नियमसार में गाथा 91 की टीका में कहा है कि 'त्रिकाल निरावरण नित्यानन्द जिसका एक लक्षण है—ऐसा निरंजन निज परमपारिणामिकभावस्वरूप कारणपरमात्मा, वह आत्मा है; उसके स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण का रूप, वह वास्तव में निश्चयरत्नत्रय है।'

आशय यह है कि ऐसा जो त्रिकाली परमपारिणामिकभावस्वरूप कारणपरमात्मा है, वही दृष्टि का विषय है और उसका ही आश्रय करने से निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है।

✻ श्री नियमसार, गाथा 38 की टीका में मुनिराज कहते हैं कि—'अनादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय-स्वभाववाला शुद्ध-सहज-परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है - ऐसा कारणपरमात्मा, वह वास्तव में 'आत्मा' है। अति-आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त कुछ उपादेय नहीं है।'

अर्थात् शुद्धपर्यायसहित का आत्मा, वह वास्तव में निश्चयनय का 'आत्मा' नहीं है, वह कारणपरमात्मा नहीं है; इसलिए वह आसन्न भव्यजीवों को उपादेय नहीं है।

✻ यही गाथा पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज ने श्लोक 54 में भी कारणपरमात्मा कैसा है-यह समझाते हुए कहा है कि—'सर्व तत्त्वों में जो एक सार है, जो समस्त नष्ट होने योग्य भावों से दूर है...' ऐसा कारणपरमात्मा उपादेय है, अर्थात् समस्त नाश होनेयोग्य भावों से दूर, ऐसा कारणपरमात्मा, वह ध्यान का विषय है। शुद्धपर्याय भी प्रतिक्षण नाशवान भाव होने से उससे कारणपरमात्मा दूर है।

✻ श्री नियमसार में 14 वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए मुनिराज 24 वें श्लोक द्वारा कहते हैं कि—'परभाव होने पर भी, सहज गुणमणि की खानरूप और पूर्ण ज्ञानवाले शुद्ध आत्मा को, एक को जो तीक्ष्ण बुद्धिवाला शुद्धदृष्टि पुरुष भजता है, वह पुरुष परमश्रीरूपी कामिनी का बल्लभ बनता है।' देखो, इस कलश में तीन बातें आयी हैं—

1. शुद्धदृष्टि पुरुष किसे कहना? - कि सहज गुणमणि की खानरूप और पूर्ण ज्ञानवाले शुद्ध आत्मा को भजे, उसे शुद्धदृष्टि पुरुष कहा जाता है?

2. शुद्ध आत्मा कैसा होता है? - कि सहज गुणमणि की खानरूप और पूर्ण ज्ञानवाला आत्मा, वह शुद्ध आत्मा है। देखो! शुद्धपर्यायसहित का शुद्ध आत्मा-ऐसा कहा ही नहीं; सहज गुणों की खानरूप और पूर्ण ज्ञानस्वभाववाला ही शुद्ध आत्मा कहा है।

3. ऐसे शुद्ध आत्मा को भजने से मुक्तिरूपी सुन्दरी का बल्लभ हुआ जाता है, दूसरे किसी प्रकार से-आत्मा को अन्यथा मानकर-भजेगा अथवा शुद्धपर्यायसहित के आत्मा को भजेगा, वह मुक्ति को वरेगा नहीं - ऐसा इसमें आ गया।

✻ श्री नियमसार, कलश 26 में भी अधिक स्पष्ट करते हुए मुनिराज कहते हैं कि —'जीवतत्त्व... क्वचित् शुद्धपर्यायोंसहित विलसता है और क्वचित् अशुद्धपर्यायोंसहित विलसता है। इन सबसे सहित होने पर भी, जो सबसे रहित है—ऐसे इस जीवतत्त्व को मैं सकल अर्थ की सिद्धि के लिये सदा नमता हूँ, भजता हूँ।'

अहा! संक्षिप्त शब्दों में कैसी गम्भीर बात सरलतापूर्वक आचार्यदेव ने समझायी है! 'शुद्धपरिणति कैसे प्रगट हो?' जिज्ञासु जीव के ऐसे प्रश्न का निराकरण करने के लिये मुनिराज कहते हैं कि शुद्ध-अशुद्धपर्याय से रहित, ऐसा जो त्रिकाली जीवतत्त्व, उसे भाने से-ध्याने से सकल अर्थ की सिद्धि होती है।

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम
दूजा कहिये कितना, कर विचार तो पाम॥ *(श्रीमद् राजचन्द्र)*

यहाँ श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी ऐसा कहा है कि त्रिकाली शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, चैतन्यघन, सुख का धाम—ऐसा ध्रुव आत्मा है, उसका विचार करने से, अर्थात् ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है।

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सदृष्टि निश्चय होय है॥11॥ *(समयसार)*

जैनशासन के हार्दरूप समयसार की इस 11 वीं गाथा में आचार्यदेव का ऐसा कहना है कि त्रिकाली ध्रुवस्वभाव एक ही भूतार्थ है। समस्त शुद्ध-अशुद्धपर्यायों को व्यवहार, अर्थात् अभूतार्थ, असत्यार्थ कहकर आश्रयभूत त्रिकाली द्रव्यस्वभाव से उन्हें भिन्न बताया है और ऐसे भूतार्थस्वरूप त्रिकाली ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है — ऐसा दृढ़रूप से स्थापित किया है।

नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है॥6॥ *(समयसार)*

यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'जो ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं।' अर्थात् दृष्टि का विषय जो एक ज्ञायकभाव, वह अप्रमत्त और प्रमत्त—ऐसी समस्त पर्यायों से भिन्न बताया है।

श्री समयसार की गाथा 320 की टीका करते हुए श्री जयसेनाचार्यदेव कहते हैं कि 'ध्याता पुरुष ऐसा भाता है कि जो सकल निरावरण-अखण्ड-एक-प्रत्यक्षप्रतिभासमय-अविनश्वर-शुद्ध-पारिणामिकपरमभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ; परन्तु ऐसा नहीं भाता कि खण्ड ज्ञानरूप मैं हूँ।' अर्थात् ध्याता पुरुष खण्डरूप पर्यायरहित अखण्ड सामान्य द्रव्यस्वभाव को ध्याता है।

✻ प्रवचनसार, गाथा 181 की टीका में श्री जयसेनाचार्यदेव कहते हैं कि ×××अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः स तु शुद्धात्मद्रव्य-लक्षणाद्धयेयभूताच्छुद्धपारिणामिकभावाद-भेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि

भेदप्रधान-पर्यायार्थिकनयेन भिन्नः। कस्मादित चेत्। अयमेकेदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिक-खण्डज्ञान-व्यक्तिरूपः, स च पारिणामिकः सकलावरणरहितत्वेनाखण्ड-ज्ञानव्यक्तिरूपः अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः, स च अनानन्तत्वेनाविनश्वरः। यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्ड-विनाशवत् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामिकस्यापि विनाशी भवतीत्यर्थः। तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मात्। ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति।

'××× यहाँ जो यह रागादि विकल्परूप उपाधिरहित समाधि-लक्षण शुद्धोपयोग, मुक्ति का कारण कहा है, वह शुद्धात्मद्रव्यस्वरूप और ध्येयभूत, ऐसे शुद्ध पारिणामिकभाव से अभेद प्रधान द्रव्यार्थिकनय से अभिन्न होने पर भी, भेदप्रधान पर्यायार्थिकनय से भिन्न है। किस कारण से भिन्न है ? यह (शुद्धोपयोग) एकदेश निरावरणपने के कारण क्षायोपशमिक ऐसे खण्ड ज्ञान की व्यक्तिरूप है, और वह (शुद्ध) पारिणामिक (भाव) सकल-आवरणरहितपने के कारण अखण्ड ज्ञान की व्यक्तिरूप है; तथा यह (शुद्धोपयोग) सादि-सान्तपने के कारण विनश्वर है और वह (शुद्धपारिणामिकभाव) अनादि-अनन्तपने के कारण अविनश्वर है।

और, यदि एकान्त से अभेद हो तो, जैसे घट की उत्पत्ति होने पर मृतिका पिण्ड का नाश होता है; उसी प्रकार, मोक्ष उत्पन्न होने पर ध्यानपर्याय का विनाश होने से ध्येयरूप पारिणामिक (भाव) का भी विनाश हो जाये, - ऐसा इसका अर्थ है। इससे (इस कथन से) ही ज्ञात होता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यान भावनारूप नहीं। किस कारण से ? ध्यान विनश्वर होने से।'

✻ यहाँ 'ध्येयभूताच्छुद्धपारिणामिकभावात्—ध्येयभूत ऐसे शुद्धपारिणामिकभाव से' इस कथन द्वारा शुद्ध पारिणामिकभाव को ही ध्यान के ध्येयभूत कहा है।

✻ शुद्ध पारिणामिकभाव और उसके आश्रय से प्रगट होनेवाली शुद्धपर्याय दोनों एक ही आत्मद्रव्य के हैं - ऐसा ज्ञानप्रधानता से बतलाना हो, तब उस शुद्धपर्याय को अभेद प्रधान द्रव्यार्थिकनय से शुद्धात्मद्रव्यस्वरूप पारिणामिकभाव से अभिन्न कहा जा सकता है, परन्तु इस कथन से शुद्धनय के विषयरूप-ध्यान के ध्येयभूत शुद्धात्मद्रव्य सामान्य में

शुद्धपर्याय विषयरूप से-ध्येयरूप से साथ में है - ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रकृत में ध्यान का ध्येय, शुद्धपर्याय से भी रहित त्रिकाल भूतार्थ शुद्धात्मद्रव्य सामान्य ही है।

✻ यदि शुद्धनय के विषयभूत पारिणामिकभावस्वरूप निज शुद्धात्मद्रव्य सामान्य में वर्तमान शुद्धपर्याय विषयरूप से अभिन्न हो तो ध्यान, अर्थात् शुद्धपर्याय विनश्वर होने से तद्-अभिन्न ध्येयरूप पारिणामिकभाव के शुद्धात्मद्रव्य सामान्य के-विनाश का प्रसंग आयेगा, परन्तु आचार्यदेव के उपरोक्त कथन से ध्यान के ध्येयभूत शुद्धात्मद्रव्यरूप पारिणामिकभाव में वर्तमान शुद्धपर्याय ध्येयरूप से-विषयरूप से नहीं आती, यह वास्तविकता स्पष्टरूप से सिद्ध होती है।

✻ पञ्चाध्यायी के द्रव्यसामान्य अधिकार की गाथा 659, 660 तथा 661 में भी कहा है कि—

'इस कथन द्वारा अपनी बुद्धि के अपराध से जो कोई एक निश्चयनय को भी अनेक हैं, इस प्रकार से मानते हैं, वे खण्डित हो गये।'

शुद्धद्रव्यार्थिक, इस प्रकार का एक शुद्धनिश्चय नाम का नय है, तथा जो अशुद्धद्रव्यार्थिक, इस प्रकार के नामवाला है, वह दूसरा अशुद्धनिश्चय नाम का नय है— इत्यादिक निश्चयनय के बहुत भेद जिनके मत में हैं, वे निश्चय से मिथ्यादृष्टि होने से नियम से सर्वज्ञ की आज्ञा उल्लंघन करनेवाला है...।'

ध्यान के ध्येयरूप—दृष्टि के विषयभूत—शुद्धात्मद्रव्य सामान्य का विषय करनेवाला निश्चयनय एक ही प्रकार का है, तथापि जो उसके अनेक भेद मानते हैं, उन्हें यहाँ इस श्लोक में मिथ्यादृष्टि और सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला कहा है।

✻ श्री नियमसार शास्त्र में कलश 119 तथा 120 में कहा है कि :

''प्रगटरूप से सदा शिवमय, ऐसे परमात्मतत्त्व में ध्यानावली होना भी शुद्धनय नहीं कहता। 'वह है (अर्थात् ध्यानावली आत्मा में है)' ऐसा (मात्र) व्यवहारमार्ग से सतत कहा है। हे जिनेन्द्र! ऐसा यह तत्त्व, अहो! महाइन्द्रजाल है।'' (श्लोक 119)

'सम्यग्ज्ञान का आभूषण, ऐसा यह परमात्मतत्त्व, समस्त विकल्प समूहों से सर्वत:

मुक्त (सर्व प्रकार से रहित) है। (इस प्रकार) सर्व नय सम्बन्धी यह प्रपञ्च परमात्मतत्त्व में नहीं तो फिर यह ध्यानावली उसमें किस प्रकार उत्पन्न हुई (अर्थात् ध्यानावली उस परमात्मतत्त्व में कैसे हो सकती है ?) वह कहो।' (श्लोक 120)

यहाँ इन श्लोकों में ध्यान के विषयभूत ऐसा शुद्धात्मद्रव्य सामान्यरूप निजध्रुव परमात्मतत्त्व, शुद्धपर्याय से भी रहित है – ऐसा मुनिराज ने कहा है।

* श्री नियमसार गाथा 50 में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि सहज परमपारिणामिक –भावलक्षण कारणसमयसार स्वद्रव्य होने से, वह एक ही उपादेय है और क्षायिक आदि चारों ही भाव परस्वभाव हैं, इसलिए परद्रव्य हैं, इसलिए हेय हैं; ऐसा कहकर शुद्धपर्याय से रहित शुद्ध अन्त:तत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य को ही ध्यान का विषय कहा है।

[आत्मधर्म गुजराती (वर्ष 33), नवम्बर 1975]

ज्ञान का स्वत: सिद्ध स्वभाव

जैसे दर्पण की स्वच्छता दर्पण को बतलाती है और अग्नि की ज्वाला आदि को भी दर्शाती है, तथापि दर्पण में दिखता स्व-पर के आकार का प्रतिभास-प्रतिबिम्ब, वह दर्पण की स्वच्छता की ही अवस्था है, वह कहीं अग्नि की अवस्था नहीं। प्रतिबिम्बित वस्तु की अवस्था नहीं। और, जैसे पदार्थ दर्पण के सामने हों, वैसा प्रतिबिम्ब दिखाना, वह दर्पण की स्वच्छता का स्वभाव होने से प्रतिबिम्बित पदार्थों के कारण प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता परन्तु दर्पण की स्वच्छता के कारण ही प्रतिबिम्ब पड़ता है; इसी प्रकार ज्ञातृता, वह आत्मा का ही है अर्थात् स्वपर को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप आत्मा है और भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म पुद्गल के परिणाम हैं। ज्ञानस्वरूपी ज्ञायक को ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाकर उसका ज्ञान करना तथा परज्ञेयों को ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाकर उस सम्बन्धी ज्ञान होना, यह ज्ञान का स्वत: सिद्ध स्वभाव ही है। परद्रव्य हैं, इसलिए उनका ज्ञान हुआ—ऐसा परतन्त्र स्वभाव ही नहीं।

—पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी